श्री आचार्य १०८ ठाकुरदासजी महाराज
श्री कृष्ण प्रणामी मोटा मंदिर
श्री महामंगळ पुरी धाम
प्रणामी रोड,
सुरत नं.-२.

आचार्य सुखनारायणदास
16.4.2011

श्रीः

॥ सर्वाधिकार स्वरक्षित ॥

सद्विद्याभूषण श्रीकृष्णमणिशर्मसूरि प्रणीत

आनन्द सागरः

गूढ़ार्थचन्द्रिका तथा पं. कृष्णदत्त शास्त्रिकृता भावार्थदीपिका-आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका और तरङ्गदीपिकाटिप्पणी सहित

जिसे

श्रीमन्निजानन्द संप्रदाय (प्रणामी-धर्म)के

आचार्य महाराज श्री १०८ श्रीधनीदासजी

—: की आज्ञानुसार :—

काव्यतीर्थ पण्डित कृष्णदत्त शास्त्री साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य (कर्णपुरस्थ)

ने शुद्धहिन्दी भाषाटीका तथा टिप्पणीसे भूषितकर परमोपयोगी बना दिया है।

—: प्रकाशक :—

श्रीप्रणामी-धर्मसभा श्रीनवतनपुरी—जामनगर.

श्रीविजयाभिनन्दबुधजीशाके २५७
फाल्गुन शुक्ला १५ रविवार
वि० सं० १९९२ सन् १९३६

प्रति केवल ६००
मूल्यमात्र रु० २-८

श्री निजानन्दप्रिं० प्रेस—जामनगर.

श्री निजानन्द सम्प्रदायके आचार्य महाराजश्री १०८ श्री धनीदासजी.

श्री श्री श्री नवतनपुरी—जामनगर.

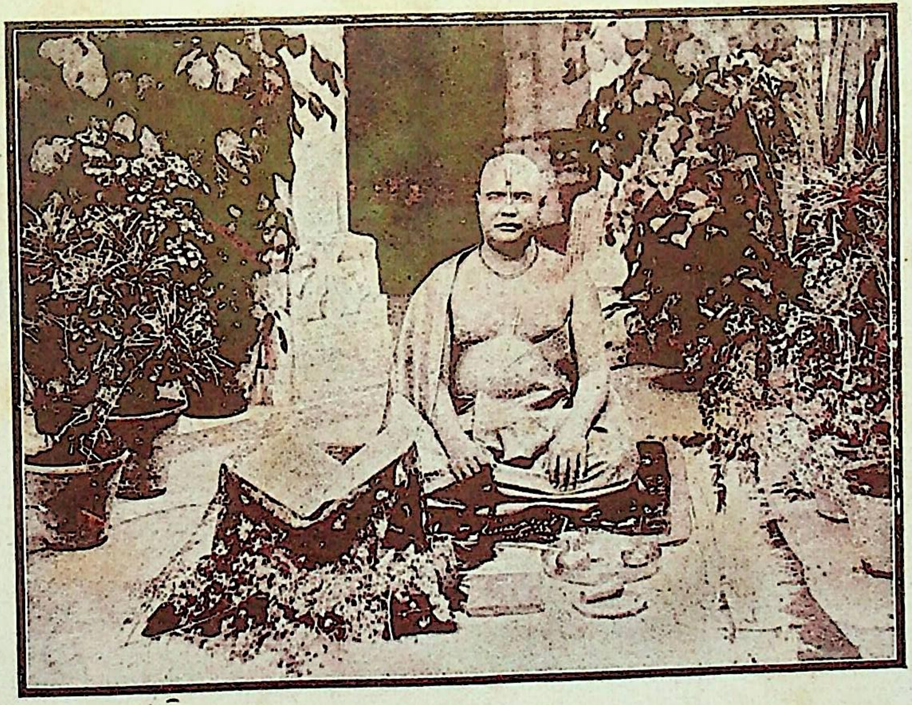

वाणी-विनोदेन विवर्द्धमानः सत्कार्य—संलग्न उदारचेताः ।
धर्म्मैकनिष्ठः खलु भव्यमूर्तिः, आचार्यवर्यो 'धनिदास' नामा ॥

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

अथोपोद्घात

मननशील सज्जनवृन्द ! आज चिरकालके बाद " आनन्दसागर " नामक ग्रन्थके इस संस्करणको आपके सामने रखनेको समर्थ हुए हैं, यह परमकृपालु परमात्माकी असीम दयाका ही फल है । "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" इस लोकोक्ति अनुसार इस ग्रन्थके प्रकाशनमें प्रारम्भसे ही बहुतसी विघ्नस्वरूप कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता रहा है । सम्भवतः यह हमारी परीक्षा हो । क्योंकि जगतके नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति परीक्षोत्तीर्ण होकर ही उच्च कक्षामें प्रवेश कर पाती है । सम्भवतः परमात्मा भी प्रत्येक प्राणीकी परीक्षा लेकर ही उसे आगे बढ़ने देता हो । कुछ भी हो, ध्येयको प्राप्तकरना मनुष्यका परम कर्तव्य है ।

ग्रन्थकर्ताने-इस ग्रन्थको रचा सही परन्तु वह इसको मुद्रितदशामें न देख सके और परलोकवासी हो गए । इसके बाद आपके लघु भ्राता पं० पन्नालालत्रिपाठीजीने इसे वर्तमान महन्त श्री गोविंददासजी मलकाहांस पंजाबके-जो उस समय सद्धर्मपरायण एक धनाढ्य पुरुष गिने जाते थे-आश्रयसे छपवाया । पं० गोविंददेव और पं० व्रजकिशोर शर्म्माने (जो कृष्णमणिके कुटुम्बी चचा थे) इसका हिन्दी अनुवाद किया था । परंतु भाषा आजकलकी खड़ीबोलीके अनुकूल नहीं थी; एवं इसका मुद्रण कार्य किसी योग्य विद्वानकी अध्यक्षतामें नहीं हो पाया अतः ग्रन्थमें अशुद्धि बहुत रह गईं थीं, जिनके कारण शिक्षितवर्गकी दृष्टिमें ग्रन्थका महत्व अङ्कित न हो सका । दूसरे, ग्रंथकी कुल पाँचसौ ही प्रति छापी गईं थीं, जो आजकल सर्वत्र मिलती भी नहीं हैं । उपरोक्त कई कारणोंसे इसे शुद्ध संस्करण द्वारा प्रगट करनेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत होने लगी परन्तु अपने संप्रदायमें विद्याप्रचारकी ओर दुर्लक्ष्य होनेसे आजदिन तक

इसे द्वितीय संस्करणका सौभाग्य प्राप्त न हो सका । कुछ लोगोंने यत्र तत्र इसके प्रकाशित करनेका विचार किया तो अवश्य परन्तु वे विघ्नोंके कारण सफल-प्रयत्न न हो सके । इस प्रकार यह कार्य और भी भारी दीखने लगा । यद्यपि दूसरे समाजमें ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ प्रगट हुआ करते हैं, परन्तु अपने यहां तो एक ग्रंथकोही प्रगट करना दुर्लभ हो गया ।

जिस पदार्थकी प्राप्ति दुर्लभ हुआ करती है, प्रायः लोग उसे बहुत चाहा करते हैं । बस, यही दशा 'आनन्दसागर' की हो गई । तमाम लोगोंकी माँग इसके लिये आने लगीं । इस प्रकार धार्मिक सुन्दरसाथकी इच्छाको प्रबल देखकर श्री निजानन्दसंप्रदाय (प्रणामी-धर्म) के आदि पीठस्थ आचार्य—शिरोमणि महाराज श्री १०८ श्री धनीदासजीने इसे प्रकाशित करनेके लिये मुझे बाध्य किया । मैंने भी इसे धर्मकी सर्वोत्तम सेवा समझ शिरोधार्य किया और तदनुसार श्री पं० पन्नालाल त्रिपाठीजीकी सम्मतिके लिये उनके पास एक पत्र लिख भेजा । उन्होंने बड़े हर्षके साथ अपनी आन्तरिक इच्छा प्रगट की और ग्रन्थकर्ताका जीवन चरित्र लेकर स्वयं भी उपस्थित हुए । श्री नौतनपुरी—जामनगर आनेपर आपने ग्रन्थका सर्वाधिकार प्रणामीधर्माचार्य महाराज श्रीधनीदासजीको सदाके लिये लिख दिया ।

इसके बाद इसे छापनेका प्रबन्ध किया गया । परंतु उस वक्त मेरी गृह-पत्नीका स्वास्थ्य बिगड़ गया, जिसके कारण मुझे बाध्य होकर देश जाना पड़ा और तदनुसार यह कार्य डेढ़ वर्ष पर्यन्त स्थगित रहा । बीच २ में और भी व्यक्तिगत धार्मिक कार्योंमें कुछ समय व्यय होता रहा और इसे न छाप सके । इसी अवधिमें पं० पन्नालालजीने एक पत्र देकर हमें सचेत किया कि—" क्या इस कार्यको पूर्ण हुआ हम न देख सकेंगे ?" इस प्रकारका पत्र पातेही हमने दूसरे ग्रंथका मुद्रण स्थगितकर आनन्द सागर ग्रन्थ छापना प्रारम्भ कर दिया । कुछही पृष्ठ छपने पाये होंगे कि इसी अवधिमें सुना गया कि पं० श्रीपन्नालालजी पंजाबसे लौट कर देशको गए और वहांपर उनके पुत्र तथा खुद, दोनों परमधामवासी हो गए । खेद कि—जिस प्रकार ग्रन्थकर्ता इसका प्रथम संस्करण देखनेकी इच्छाको लेकर परमधामवासी हुए, उसी प्रकार उनके भ्राता इसके द्वितीय संस्करणको देखनेकी अभिलाषा लिये हुए ही परमधामको चल बसे और इसे न देख

सके। दोनों अमर आत्माओंकी इच्छापूर्त्तिके रूपमें ही आज इसे यथाकथंचित् सुन्दरसाथके समक्ष उपस्थित किया जा सका है।

इस ग्रन्थके पहले संस्करणकी भाषा प्रचलित खड़ीबोलीके ढंगसे कुछ विरुद्ध थी। श्लोकोंकी व्याख्या भी पुराने ढंगसे और शब्दक्रमके विरुद्ध होनेसे पढ़ने वालोंको खटकती थी और कहीं २ मूलके अनुकूल न होनेसे प्रमाणोंके अर्थको समझनेमें साधारण लोगोंको कठिनाइयां भी पड़ती थीं। इन सब असुविधाओंको दूर करनेके लिये अबकी बार खड़ी-बोलीमें सरल अर्थ किया गया है और पहलेकी अपेक्षा इस संस्करणमें अर्थमें भी कुछ अभिवृद्धि की गई है। कहीं २ पर मूलमें आवश्यक और अनिवार्य होनेसे शब्द भी बदल दिये गए हैं परन्तु पहले शब्दोंके भावमें अन्तर नहीं पड़ने दिया। विशेष २ स्थलोंपर भावको स्पष्ट करनेके लिये पृथक् टिप्पणी भी कर दी गई है। कहीं २ प्रमाण और युक्तिसे मूलोक्त विषयको ही अधिक पुष्ट किया गया है तो कहीं उसे टिप्पणीमें उतारकर उस विषयके प्रमाणोंद्वारा विशेष स्पष्टीकरण भी कर दिया है। यहांतक कि ग्रन्थको सर्वोपयोगी बनानेके लिये प्रत्येक प्रकारसे उसे भूषित किया गया है और ग्रन्थकर्ताने जिन प्रमाणोंका नाममात्र उल्लेख किया था अथवा तो ग्रंथका पूर्ण परिचय दिये बिना ही छोड़ दिया था उन सबकी पूर्त्तिके लिये भी भरसक प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक प्रामाणिक ग्रन्थके अध्याय आदिके क्रमांक भी रख दिये गए हैं, जिससे प्रमाणोंको देखनेमें किंवा समझनेमें पाठकोंको विशेष सुविधा हो सकती है। जिन लोगोंको प्रमाण कण्ठस्थ नहीं हैं अथवा उनके क्रमांक आदिका पूर्ण ध्यान नहीं है, उनके लिये तो यह ग्रंथ गुरुसे भी अधिक सहायता दे सकता है। जो लोग निजानंदसंप्रदायसे सुपरिचित नहीं हैं अथवा संप्रदायके विषयमें कुछ जानना चाहते हैं, उनके लिये भी यह परमोपयोगी ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थको सद्विद्याभूषण श्री पं० कृष्णमणि शास्त्रीजीने अनुष्टुप् छन्दों द्वारा ८ तरङ्गोंमें समाप्त किया है। निजरचित छन्दोंके भावको श्रुति स्मृति आदि उत्तम प्रमाणोंसे पुष्टकर सांप्रदायिक जगतका बड़ा उपकार किया है। इनकी रचनामें कहीं कहीं छन्दोभङ्ग दोष अधिक देखनेमें आते है परंतु इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि आपकी छन्दरचनाका

पूर्णज्ञान नहीं था क्योंकि आप दर्शन विषय और साहित्यके अद्वितीय विद्वान थे। हां, यह कहा जा सकता है कि यह दोष इनकी दृष्टिमें कुछ महत्त्व नहीं रखता था। जैसे व्यासादि महर्षि प्रणीत पुराणादि ग्रन्थोंमें और मन्वादि प्रणीत स्मृतियोंमें छंदोभङ्ग दोषको व्यासादिने विशेष हानि-कारक न समझकर उसे हटानेकी कुछ भी चेष्टा नहीं की, उसी प्रकार 'आनन्द सागर' में छन्दोभङ्ग दोषको दूर करनेकी चेष्टा ग्रन्थकर्ताने नहीं की, ऐसा प्रतीत होता है। अन्यथा अनुष्टुप् जैसे साधारण और सीधे छन्दोंमें छंदोभङ्ग दोषकी सम्भावना बहुत कम हुआ करती है।

जिस दृष्टिबिंदुको लक्ष्यमें रखकर इस ग्रन्थकी रचना की गई है-उपक्रमसे उपसंहार पयन्त-उसका पूर्णतया समर्थन किया गया है, एवं अपने ध्येयकी पूर्त्तिके लिये जो कुछ युक्ति और प्रमाण दिये गए हैं, बहुत ही महत्त्व पूर्ण हैं। ग्रन्थकी रचना कविताकी दृष्टिसे नहीं की गई अपितु धार्मिक सिद्धान्तकी योग्यता निश्चित करनेके लिये की गई हो, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये आदर्शभूत इस ग्रन्थकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

ग्रन्थकर्ताके तलस्पर्शी विचारोंका निष्कर्ष-निचोड़-प्रत्येक शब्दसे व्यक्त हो रहा है। भक्ति और ज्ञानकी पराकाष्ठा प्रतिपादन करते हुए श्रद्धापूर्ण विशद बुद्धिद्वारा निर्मित होनेके कारण भक्तिरससे ओतप्रोत ग्रन्थकी शैली मनन करने योग्य है।

ग्रन्थको निष्पक्ष तथा पवित्र बनाए रखनेके लिये सैद्धान्तिक सौंदर्य और धार्मिक विचारोंके अतिरिक्त कृत्रिम भावोंका स्पर्श नहीं होने दिया और न सिद्धांतभेदके कारण व्यक्तिगत आक्षेप अथवा किसीके मनको दुखानेका प्रयास किया है प्रत्युत जो बात जैसी है, उसको उसी रूपमें जनताके समक्ष उपस्थित किया गया है।

ग्रन्थमें प्रारम्भसे ही स्वलीलाद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन कर ब्रह्मधामस्थ शाश्वतीसमा-ब्रह्मसृष्टि-और अक्षरातीत ब्रह्मके सम्वादद्वारा जगतका कारण उत्पन्न किया गया है। अक्षरातीतके अङ्गस्वरूप अक्षरब्रह्मके मनमें किशोर लीला देखनेकी इच्छा उत्पन्न कर मानसिक तपद्वारा उसकी पूर्त्ति कराई

गई है अर्थात् सत्के आवरणद्वारा ब्रह्मसृष्टिको जगतमें उतारा और आनन्दके आवरणसे अक्षर ब्रह्मको स्वप्नद्वारा कृष्णस्वरूपमें होकर किशोरलीलाका अनुभव कराया । अक्षर ब्रह्मके मनने स्वप्नद्वारा दो स्वरूप धारण किये एकस्वरूपसे महाविष्णु हो जगतरूप बना और दूसरे स्वरूपसे कृष्ण और २४००० ईश्वरी सृष्टि बने । अक्षरातीतके आवेशने कृष्णस्वरूप पर विराजमान हो ब्रह्मसृष्टिके मनोरथको पूर्ण किया । व्रज और रासलीलामें दोनोंके मनोरथ पूर्ण किये । परंतु रासलीलाके बाद ब्रह्मप्रियाओंने अपने मनोरथको पूर्ण हुआ नहीं समझा अतः इस तृतीय ब्रह्माण्डमें ब्रह्मवासनाओंके मनोरथ पूर्ण हुए और उनके द्वारा जगतके जीवोंको मोक्षाधिकार प्राप्त हुआ. यही इस ग्रन्थमें वर्णित है । उपरोक्त प्रसंगानुसार जो अक्षरब्रह्म तथा अक्षरातीतके आवेशने कृष्णस्वरूप धारण किया है उसी कृष्णकी लीलाका वर्णन विशेषरूपसे इसमें किया गया है । कृष्णलीलाके वास्तविक स्वरूपको समझने वालोंकेलिये यह ग्रन्थ परमोपयोगी है । प्रसंगोपात अन्य विषयोंका वर्णन भी किया गया है, जो प्रायः मनन करने योग्य हैं ।

ग्रन्थ देखनेमें जितना है, उपयोगिता उससे कहीं अधिक है । एक बार आद्योपान्त पढ़जानेसे हृदय साक्षी देने लगता है ग्रन्थमें जिन विषयोंपर विचार किया गया है, वे गवेषणापूर्वक मनन करने योग्य हैं ।

ग्रन्थकी प्रथम तरङ्गमें अक्षरातीत ब्रह्म और अनादि शक्तियोंके प्रेम सम्वादका वर्णन है और उसीके द्वारा जगदुत्पत्तिका कारण उपस्थित होता है ।

द्वितीय तरङ्गमें सुमङ्गला शक्तिद्वारा जगतका प्रादुर्भाव होता है जिसमें हिरण्यगर्भसे लेकर ब्रह्मादि देव तथा मनुष्योंकी उत्पत्ति बताई गई है ।

तृतीय तरङ्गमें इस स्वप्नरूप जगतको अक्षरने किसप्रकार देखा और अक्षरातीतने अक्षर आत्मा और ब्रह्मप्रियाओंको व्रजमें कृष्ण तथा गोपीरूपसे प्रगट किया इत्यादिका वर्णन है ।

चतुर्थतरङ्ग—में पूतना वध, कालीयदमन, गोवर्द्धन धारण आदि व्रजलीलाका संक्षेपमें वर्णन किया गया है और रासलीलाका प्रारम्भ होता है ।

पञ्चमतरङ्गमें—योगमायाका वर्णन तथा रासलीलामें कृष्णका अन्तर्ध्यान होना सखियोंका विलाप करना तथा कृष्णका पुनः प्रगट होना आदिका वर्णन बड़े ऊहापोहके साथ किया गया है।

छठे तरङ्ग—में रासलीलाकी समाप्ति तत्प्रसंगसे कालादि मानका वर्णन। रासलीलाके बाद वेदोंका स्तुति करना और कृष्णके द्वारा वरदान पाना। तदनन्तर वेदऋचाओंके लिये प्रतिबिम्ब लीला करना। कंसका वध तथा वसुदेव देवकीका बन्ध छुड़ाना, जरासन्धके साथ युद्धचिन्ता उत्पन्न होना और वैकुण्ठ स्वरूपकी पूर्णकलाका आना, इत्यादिका वर्णन है।

सप्तमतरङ्गमें—रासलीलाके बाद ब्रह्मप्रियाओंका परमधामको जाना और मनोरथ शेष होनेसे क्षणमात्र सुषुप्तिदशामें रहनेके बाद इस विश्वमें आकर पुनः तनधारण करना और परमधामको भूलजाना, तदनन्तर श्यामाजीका श्री देवचन्द्ररूपसे प्रगट होना और तारतम्यज्ञानकी प्राप्ति करना इत्यादिका वर्णन आता है।

अष्टमतरंगमें—निजानन्दसंप्रदायके मन्तव्य विषयोंका वर्णन किया गया है। ब्रह्मधाम तथा ब्रह्मधामस्थ मुक्तात्माओंके स्वरूपको बताते हुए उसकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इसप्रकार यह ग्रन्थ ८ तरंगोंमें समाप्त होता है।

ग्रन्थकी उपयोगिताका निर्णय स्वयं पाठकोंपर छोडे देता हूं। परंतु इतना तो बिना संकोच कह सकता हूं कि ग्रन्थ प्रत्येक आस्तिक व्यक्तिके लिये परमोपयोगी है। सुज्ञ पाठकोंके करकमलोंमें इसके द्वितीय संस्करणको रखते हुए याचना करता हूं कि, दृष्टिदोष या प्रेसके कारण जो अशुद्धि या त्रुटि रह गई हों, उसे सुधारकर वाचनेके कष्टको पाठक क्षमा करें। क्योंकि बहुतसी अशुद्धि मशीनपर पेज चढ़नेके बाद भी मात्रादिके टूटनेसे हो जाती हैं।

फाल्गुन वदी ७ शुक्रवार
विक्रम सं० १९९२
ता० १४-२-३६

विनीत
कृष्णदत्त-शर्म्मा.
श्रीनवतनपुरी--जामनगर.

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

श्री प्राणेश्वरो विजयताम्

श्री १०८ स्वामी श्री प्राणनाथजीके परम पुनीत सर्वोत्तम दरबार श्री श्री श्री पुरी पद्मावतीके निवासी श्री श्री श्री समस्त सुन्दर साथजीने शास्त्री कृष्णमणि शर्म्माके सद्विद्या व स्वधर्मस्थापन आदि सद्गुणोंको देख और श्रवणकर हृदय प्रसन्नताका फल प्रगट करनेके लिये यह खिताब बक्सीस किया है कि—शास्त्रीजीके नामोच्चारण व लिखते समय 'श्री सद्विद्याभूषण पण्डित शास्त्री कृष्णमणि शर्म्मा' यह नाम कहा जावे अर्थात् लिखा जावे। आशा है कि इस दरबारकी बक्सीस सर्व देशोंके सन्त, महन्त और अन्य सब सेवक गण स्वीकार करेंगे।

कार्तिक शुदि १ शनिश्चरवार, सम्वत् १९६६

यह प्रमाण पत्र श्री पद्मावतीपुरी तरफसे शास्त्रीजीको दिया गया था।

ग्रन्थका–सर्वाधिकार

समर्पण.

प्यारे सुन्दरसाथजी ! मेरा विचार वहुत दिनोंसे हो रहा था कि 'आनन्दसागर' ग्रन्थको पुनः छपवा डालूं परन्तु आर्थिक कठिनाईके कारण इसको छपवानेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु हर्षकी बात कि परमदयालु परमात्माकी प्रेरणासे निजानन्द-संप्रदायके आचार्य महाराज श्री १०८ श्रीधनीदासजीने अनुगृहीत कर मेरे पास एक पत्र भेजा कि—"धार्मिक जनताके लाभार्थ आनन्द सागरका द्वितीय संस्करण निकालनेकी परमावश्यकता है, यदि आप उचित समझें तो हम प्रणामीधर्मप्रभा–श्रीनवतनपुरी जामनगर द्वारा उसे प्रकाशित कर देवें" इस पत्रको पाकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ और स्वयं श्री महाराज श्रीधनीदासजीकी सेवामें उपस्थित हुआ और श्री नौतनपुरीमें बैठ कर मैंने श्रीकृष्णमणिशास्त्री-जीके जीवन चरित्रकी रूपरेखा लिखकर प्रस्तुत की ।

मय जीवनचरित्रके आनन्दसागर ग्रन्थको आज मैं सहर्ष निजानन्द संप्रदायके आचार्य महाराज श्री १०८ श्री धनीदासजीके करकमलोंमे समर्पण करते हुए इसके छापने न छापने तथा संशोधन परिवर्द्धन आदिका पूर्ण अधिकार सदाके लिये समर्पण करता हूं ।

शुभमिती कार्तिक वदी ८
गुरुवार वि० सं० १९९०

द: पन्नालाल–त्रिपाठी.
श्रीनवतनपुरी–जामनगर

अनुक्रमणिका.

अ

अस्तिभाति—	८
अधिकारी च—	१९
अहङ्कारादि देहान्तान्-	२२
अक्षरत्वेन प्रकृतिं—	२६
अक्षरः परमात्मा च—	२८
अक्षरातीतके—	४८
अक्षरस्य दिदृक्षाभूत्-	५१
अनुग्रहेण सेत्स्यन्ति—	५१
अध्यारोपापवादाभ्यां-	५४
अक्षरात्मातु भगवान्-	५५
अविद्यायां बहुधा-	६६
असाध्ये साधनायासं-	७२
अविच्छिन्न स्मृतिधरा—	७४
अपञ्चीकृत भूतानां-	१५१
अवतीर्णा व्रजभुवि-	१६४
अहोभाग्य महो—	१६६
अविरोधात्तु यो-	१८१
अथाहमंशभागेन-	१८४
अतःपरं बालरूपं-	१८८
अक्षरस्य तु या-	१९१
अथाहमंशभागेन—	२००
अक्षरस्य मनोवृत्ति-	२७४
अक्षरं ब्रह्म परमं—	३०९
अन्धं तमः प्रविशन्ति—	३१९
अमुनी भगवद्रूपे-	३२०
अन्येषामवताराणां-	३८७
अभाविनो भविष्यन्ति-	३९५
अनन्यचेताः सततं—	४३३
अचिन्त्याः खलु ये भावा-	४७१

आ

आत्मेन्द्रियमनो—	८८
आप्ताः शिष्टा—	९४
आर्षं धर्मोपदेशं च—	९९
आपोनारा इति प्रोक्ताः—	१०९
आराधितोहमुग्रेण—	१८७
आसामहो चरणरेणु—	२०४
आनन्दमात्रमिति—	३१८
आनन्दरूपा या—	३५२
आयो धर्माणि—	३६८
आचार्यं मां विजानीयात्—	४६१

इ

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तू— १६४
इह लोके परे चैव– ४५३
ईक्षेत विभ्रममिदं– १५७

उ

उपमानाधिकानि– ८४
उपसंहर विश्वा– १७६
उत्पत्तिं प्रलयं चैव— २२०
उमेदां न हुइयां— ३५३

ऋ

ऋग्वेदो गार्हपत्यं– ११०
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य— १२५
ऋचो अक्षरे परमे— ३०६
ऋधङ्मन्त्रो योनिं— ३६६
ऋचो अक्षरे परमे— ४१२

ए

एकः सुपर्णः स– १०१
एते चांशकलाः पुंसः– १८२
एष एव तदा द्रष्टा– २३४
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः-- ३०७
एष प्राकृतिको राजन्!-- ३०७
एकस्य व्यक्तिर्युगलं-- ३३७
एवं ध्यायति गोवि०-- ३४४
एतदालम्बनं-- ३८४
एकोपि कृष्णस्य-- ३९७

ए

एतस्य वा अक्षरस्य-- ४३५
एवं गुरूपासनयैक-- ४५८

ऐ

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य-- १९५

ओ

ओमित्येकाक्षरं-- १०६

क

कविर्मनीषी परिभूः-- १५३
कलेरन्ते बुद्धरूपी-- ३७८
कामः संकल्पो विचि-- ११६
कार्योपाधिरयं जीवः– १२७
कालमायाहृता तूर्णं-- २८८
कालेन नष्टा प्रलये-- ३१५
कामान्यः कामयते-- ३५३
किमर्था वयमध्येष्या-- ४०४
कूटस्थ एव तद्धाम्नि-- ३८
कूटस्थस्य हृदाकाशात्-- ८०
कृषिर्भूवाचकः-- १९३
कृष्णविक्रीडितं-- २३८
कृष्णं नियानं हरयः-- ३०२
केवलं शास्त्रमाश्रित्य-- ८८

को

कोटिसूर्य प्रभा पूर्णः.... १८९

कंसं जघान वासुदेवः.... १७०

ग

गाढान्धकार.... ७३

ग्रस्तः प्रपंचो निःशेषः.... २३५

गोलोकनाथो भगवान्.... २६५

च

चतुर्युग सहस्राणि.... २२६

चतुर्युग सहस्रं च.... ३०७

चिन्तयामास भगवान्.... ३४३

ज

जन्मान्तर सहस्रेषु.... २०८

जनस्य कृष्णाद्विमुख.... ३९७

जिन जानौ.... ९६

जीवस्यानस्य सर्गेण.... ७९

झ

झटित्यशेषं ग्रसते.... २४३

त

तस्माल्लीला.... ११

तद्वैराग्यं जिहासा.... १८

तस्मात्त्वरं विश्वम्.... २६

तस्माद्यज्ञात्सर्व हुतः.... ३४

तस्मादश्वा अजायन्त.... ३४

तद्विद्वाञ्छित चित्तानां.... ५५

त

तन्मात्रभूतास्तद्रूपं.... ७२

तम आसीत्तमसा.... ८२

तर्क दृष्टान्त.... ८९

तम आसीत्तमसा.... १००

तस्मादेव समुत्तस्थौ.... ११०

तमसो रजस्तु.... ११२

तत्प्रियाणां हि कामो.. . १४९

तदस्तु मे नाथ स.... १६८

ततो विष्णोश्चतुर्भागं.... १८६

तस्यामावेशयामास.... १८९

तव मास्तु भयं क्वापि.... १९१

तस्मिन्नन्दात्मजः.... १९२

तत्रांशेनावतीर्णस्य.... २००

तद्भूरिभाग्य मिहजन्म.... २०६

तया विहित विज्ञानो.... २७५

ततो विशन्वनं चन्द्र.... २८४

तदपूर्त्या निजे धाम्नि.... ३०२

तदन्ते प्रलयस्तावान्.... ३०७

तस्मिन्नास्वाद्यमाने.... ३३०

तमीश्वराणां परमं.... ३६७

तत्सवितुर्वरेण्यं.... ३८४

तत्रापि तन्मना देवि.... ३८७

तत्रापि यदि ताञ्चित्तो.... ३८७

तस्य सीतापतेः.... ३८७

त

तत्रापि निश्चलमना.... ३८८
तद्गुणान्भावयेन्नित्यं.... ४५१
तावत्प्रमोदते स्वर्गे.... ९८
तावत्तत्तेजसो मध्या.... १९०
तावुभौ वै भगवतो.... २००
तारकं सर्वविषयं.... ३८५

त्र

त्रिधा सृष्टिरिह प्रोक्ता.... ३९०

द

दशोत्तराधिकैर्यत्र.... २५
दिद्दत्तितान्तःकरण.... १६२
दिव्य ब्रह्मपुरस्य.... ३६८
दिव्यो ह्यमूर्त्तः.... ४१७
देवक्यां देवरूपिण्यां.... २००
द्वाविमौ पुरुषौ.... २५
द्वा सुपर्णा सयुजा.... १२९
द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते.... ३०७
द्वेविद्ये वेदितव्येति.... ४१०

ध

धनीजीको जोश.. ३८२
धामस्थानतुम.. ३७८

न

न जातु कामः कामानां.... ५७
नवलख जलके.... ६०
नन्दपत्न्या प्रसूतास्ते.... १८८
न विरोधो न प्रत्यूहो.... १८९
न कश्चिज्जायते जीवः.... ३९२
न परिलषन्ति केचिद.... ३९८
न कर्मणा न प्रजया.... ४४७
न साधयति मां.... ४४८
नाम्भोधिः स्थलमयो.... ७४
नासां कण्ठ मुरस्तालु.... २६४
नारायणादि रूपाणि.... ३१८
नास्यज्ञानं ब्रह्मसृष्टिं.... ३३१
नाहं वेदै र्न तपसा.... ४४८

नि

निस्यन्दैर्वृत्तिभिः.... ४९
नित्यं प्रयाति कूटस्थः.... ५०
निनाय गोकुले.... १९२
नित्यं वृन्दावनं.... २३९
नित्यो नैमित्तिकश्चैव.... ३०६
नित्यं वृन्दावने या च.... ३३१
नित्यो नित्यानां.... ४२५
नैनं सेतु महोरात्रे.... ४४१

प

पठन्त्यष्टौ प्रमाणानि.... ८५

पितामहवचः श्रुत्वा.... १८७

पुण्या वत व्रज भुवो. .. २००

पुरः प्रकाशः पश्चात्तु.... २८५

पूर्ण ब्रह्म स्वरूपोऽयं.... १६५

पूर्वे महाशाला महा.... ४०१

प्र

प्रविष्टमात्र पुरुषः.... ३९

प्रत्यक्षमनुमानं.... ८४

प्रत्यक्षस्यानुमादेः.... ८६

प्रत्यक्षं चानुमानं.... ९८

प्रसारोत्सृजन्ती.... २४२

प्राशस्त्य निन्दान्यतर.... ६७

प्राकृते प्रलये प्राप्ते... ३०९

फु

फुल्लपद्मसरस्त्यक्त्वा.... ७३

ब

बभूव द्विभुजं सद्यः.... १९१

बाह्यानालम्बनं.... १६

ब्र

ब्रह्मसत्यं.... १८

ब्र

ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते.... ७६

ब्रह्मणो वासना.... १८६

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते:... ३०१

ब्रह्मेति पठ्यते.... ३१८

ब्रह्मवादिनो वदन्ति.... ४०४

ब्रह्मलोके तृतीय.... ४३९

ब्रह्महत्या सुरापानं.... ३५६

भ

भयादस्याग्निस्तपति.... ४३६

भावो यावदहं जोषिदू.... ४५२

म

मङ्गलं.... ५

मायया.... ६

मन्त्रौषधि.... १७

मम योनिर्महद्ब्रह्म.... ३२

महाविष्णोश्च लोम्नां.... १०५

महाविष्णुसहस्राणि.... १९७

मरुद्देशे कुले शुद्धे.... ३६८

महतः परमव्यक्तं.... ४१६

मयिनिर्बद्धहृदयाः.... ४५०

मुख्यार्थ बाधे.... २२५

मोह अज्ञान भरमना.... १४६

य

यमेव विद्या शुचि.... १८
यथा स्वप्नमयो जीवो.... २६
यथोर्णनाभिः.... ३२
यदुन्मेष निमेषाभ्यां.... ५४
यन्मित्रं परमानन्दं.... २००
यस्यैक निःश्वसित-- २०३
यत्कुसुमं यदा मृग्यं— २४०
यत्र वृन्दावनं नाम— २४१
यदैवमेतेन विवेक- ३०८
यस्ते शोकाय- ३७०
यथास्वप्नमयो जीवः- ३९१
यस्यात्मबुद्धि कुणपे— ३९९
यथा तरोर्मूल निसेच- ४३१
यथा क्रतुरस्मिंल्लोके- ४३२
यः सर्वज्ञः सर्वविद्— ४३४
यस्य देवे पराभक्ति- ४६२
यत्रा वदेते अवरः परश्च- ७५
यजुर्वेदोन्तरिक्षं— ११०
या समै श्री वैकुण्ठनाथ- ५०
यामिमां पुष्पितां वाचं— ६७
यावदीश्वरभाव— ३९९
यान्ति देवव्रता देवान्— ४३२
येनास्यपितरो-(जीवनचरित्रमें) ९
योऽवमन्येत ते मूले— ३६

यो

योगशक्तिस्तथोद्भूता- २३५
योगमायामथो कृष्ण— २४०
योगमाया समावेशात्- २४२
योऽनन्य भक्ति— ३८८
यो वै तां ब्रह्मणो— ४३८
यौगिको योगरूढश्च— २०५

र

रजस्तमोभ्यां- ९४
रहस्यं त्विदमेतस्य- ३२८
रहूगणैतत्तपसा न याति- ३९८

ली

लीला क्रीडा— ७३
लीलैवं द्विविधा— १९८

व

वन्दनं गुरुदेवानां- ४
वर्षयुग सहस्रान्ते— १०७
वनजौ जलजौ- १९५
वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां- २०५
वहिः प्रकाशं विच्छिद्य- २४९
वर्षे वर्षेश्वमेधेन- ४५५
वासुदेवस्तृतीये- १९०

वा

वास्तवी तत्संवेद्या— १९९

वि

विवेकश्च— १६
विद्या ह वै— १७
विरज्य विषय— १८
विषयेभ्यः परावर्त्य— १९
विकारैस्सहितो— २५
विप्रलम्भोन्मुखतया— ३८
विधिरत्यन्तमप्राप्तौ— ६३
विरोधे गुणवादस्स्या— ६९
विष्णोस्तु त्रीणि— १०४
विष्णोर्द्वादशल— २२६
वियोगे योग सामर्थ्यं— २४३
वियोग मध्ये योगं च— २४३
विश्वरूपं च चैतन्य— ३१२

व्री

व्रीयतां वर— १८७

वृ

वृन्दया श्रापितो— १८८
वृत्ता सुरद्रुमा यत्र— २३१
वृन्दावनं महापुण्यं— २३९
वृन्दावनाश्रयालीला— २७७
वृन्दावनं मधुवनं— ३२९

वै

वैकुण्ठो निर्मितोयेन-- १०५
वैकुण्ठादागतो-- १८८

श

शक्ति शक्तिमतो.. १५
शर्करा कर्करा न-- ७४
शास्त्रस्य गुरुवा-- २१
शाब्दं प्रमाणमुः-- ८६
शुद्धा संवलिता चेति-- १६२
शुभ्र शुक्ल शुचि-- ४४२

श्री

श्री मद्वृन्दावन रम्यं-- २३०
श्रुत्वैतद्दर्शयामास-- २४१
शृणु पार्वति !-- ३३१

ष

षष्टिवर्ष सहस्राणि-- २०६
षड्जं रौति मयूरस्तु-- २१६

स

सहनं सर्व दुःखानां-- १९
सर्वदा स्थापनं बुद्धेः-- २२
सदंश विश्वरूपाय-- २८
सलवः कृष्णरूपेण-- ५०
सर्वेषां तु स नामानि-- ९४
स एव पुरुषस्तस्मा-- १०७

स

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां..	१२४
सर्ग स्थित्यप्यया यत्र..	३२९
स पर्य्यगा..	३८७
स यो ह वै परमं..	४०४
स वेदैतत्परमं..	४३७
सामवेदस्तथा द्यौ..	१११
साक्षात्कृष्णो व्रजे..	१६६
सा वा एतस्य संद्रष्टुः..	२२८
साकारस्य विनाशोऽस्ति..	३२०
साधवो न्यासिनः..	४०३
सांख्या अपि प्रभाषन्ते--	८४
सुखं हि दुःखान्यनुभूय--	६१
सुचिरं प्रोषिते कान्ते--	४५१
सूर्याचन्द्रमसौ धाता..	१५२
सैषा ह्युपनिषद्....	४०२
संसार सिन्धु....	११
स्थानं नित्यविहा--	२३२
स्थाणुरयं भारहारः--	४१४

स्व

स्वसामर्थ्यानुसारेण....	७२
स्वप्नमाया स्वरूपेति...	१५२
स्वप्न होत दिल...	१५७
स्वसृष्टमिदमापीय...	३१४
स्वप्नेन शरीरम...	३७६
स्वप्रकाशमनिर्वाच्यं...	४४९
स्वामिनी वासना...	१६५
स्याद्वाचको लाक्ष--	२२६
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे--	३३७

हि

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे...	१०६
हिरण्मये परे कोशे...	४४२

क्ष

क्षरः सर्वं प्रपञ्चोऽयं...	१४९
क्षरं प्रधानममृता...	४१८

ज्ञा

ज्ञान शक्तिबलैश्वर्य...	१९६
ज्ञाने प्रयासमुदपास्य...	४६३

इस ग्रन्थमें आए हुए केवल पूरे श्लोकोंकी ही अनुक्रमणिका लगाई गई है। इसके अतिरिक्त श्रुतियोंके जो अंश उधृत किये हैं एवं दर्शनोंके सूत्रोंके भी जो अनेक प्रमाण दिये हैं; उन सबकी अनुक्रम सूची नहीं दी अतः पाठकोंको श्रुतिविभागके अंशोंको ग्रन्थसेही देखलेना चाहिये।

श्रीनवतनपुरी धामका निजमंदिर.

पहले बीज उदय हुआ, पुरी जहाँ नवतन्न ।
सब पुरीओमें उत्तम, हुई सो धन्य धन्य ॥

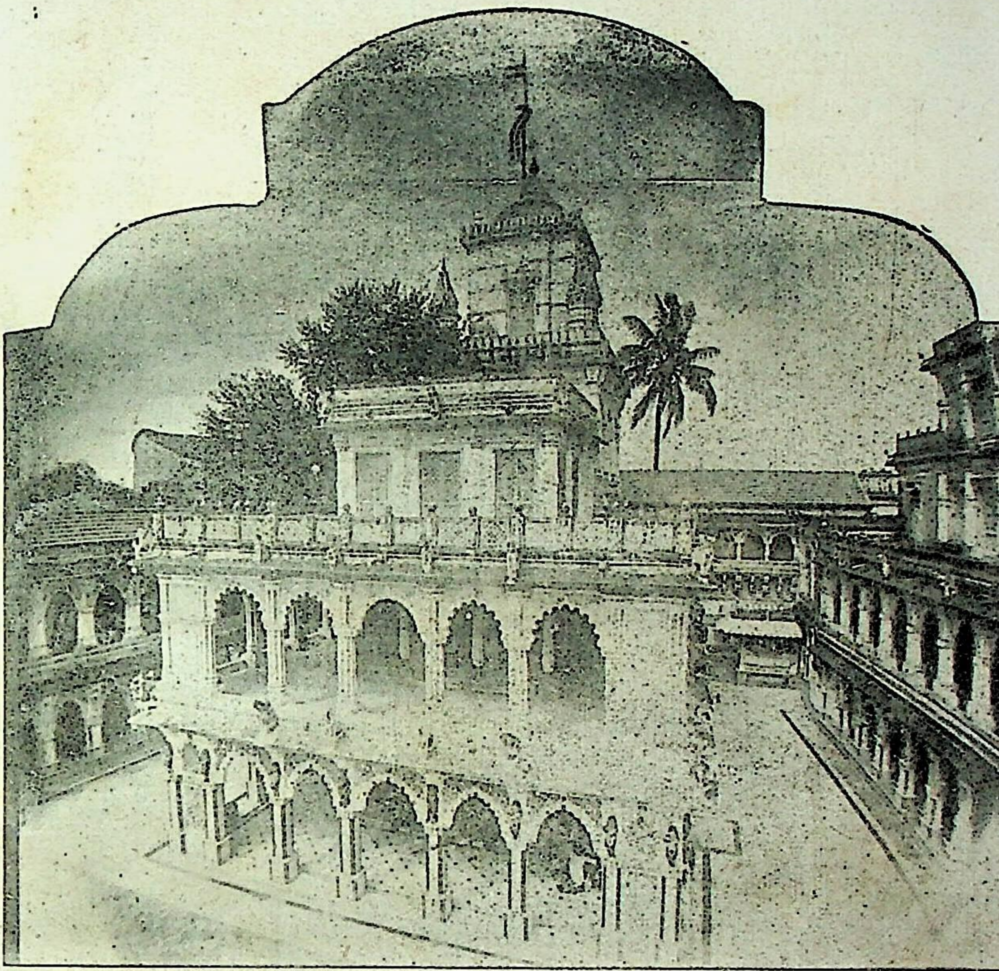

॥ सुन्दरी ॥

अघ नाशत हैं सब दर्शनते, पुनि पर्शनते बहु पाप नसें हैं ।
नर मुक्ति चहैं त्रय तापनते, जप ध्यान धरें अरु आय वसें हैं ॥
निजनूतन दिव्य सदा तन पावत नौतन धामहिं नेह लसे हैं ।
निजधाम मिले तिनको सहजै, जग धन्य सदा सुखसों विलसें हैं ।

आनन्द–सागरः

श्रीसच्चिदानन्दानन्ताद्वैत–लक्षणविशिष्टः स्वाभिन्नशक्तिस्वरूप-सखीजन–मण्डलीमण्डनो बाल्यकैशोराद्यनन्तलीलाचरणसंपन्नः परम-कारुणिकस्वरूपो निजप्रियागणेप्सितपूर्त्यर्थं धृतप्राकृतशरीरस्स्वयं दिव्याकारो दिव्यसच्चिदानन्दमयाऽखण्डधाम–गिरि–नदी–वनोपव-नादि–निश्शेषदिव्याप्राकृतोपकरणसंपन्नो ह्यनन्तकोटि २ मार्त्तण्डचन्द्र-मण्डलादिप्रकाशतिरस्कारक्षम–वस्त्राभरणमण्डितो नित्यनिरवयवः शु-द्धबुद्धस्वभावः वेदान्तादि–सच्छास्त्रैकगम्यः स्वलीलाद्वैतः स्वस्स्वीश्वरः श्रीमाकरपल्लवसेवितचरणाम्बुजः सम्राडक्षरातीतो विजयताम् ।

यत्पूर्णं सच्चिदानन्दं ब्रह्म प्रेमविहारि तत् ।
सच्छक्ति सहितं नित्यं मण्डलं ह्यक्षरात्परम् ॥ १

गूढार्थचन्द्रिका–यदिति, अत्र त्रिविधानामाशीर्वादनमस्कारवस्तुनि-र्देशात्मकानां मङ्गलानां सद्वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलाचरणं शिष्यशिक्षा-

विघ्न मेटि अनुग्रह करौ, सद्गुरु दीनदयाल ।
टीका आनन्दोल्लासिनी, वर्णौं बोधविशाल ॥

भावार्थदी०——मङ्गलाचरण तीन प्रकारके होते हैं। यथा आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक । (१) अपने इष्टदेव अथवा अन्य इष्टदेवादिके अभिमत अर्थका कथन, या तो किसी अभीष्ट देव विशेषके विजय आदिका अभिलाप प्रगट करना; आशीर्वादात्मक कहा जाता है।

अथ तरङ्गदीपिका टिप्पणी.

(१) " स्वस्य परस्य वाभीष्टार्थशंसनमाशीर्वादः । तद्युक्त—माशीर्वादात्मकम् " ॥

अर्थः—अपने वा अन्यके अभीष्ट अर्थका कथन करना आशीर्वाद होता है । उससे युक्त मङ्गलाचरणको आशीर्वादात्मक कहते हैं ।

र्थं ग्रन्थतो निबध्नम् । पूर्णब्रह्म विशिनष्टि—ननु किमस्ति मङ्गलाचरण-प्रयोजनं तदन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यभावादिति चेत् सत्यं ग्रन्थनिर्विघ्नसमाप्तिरेव तत्फलम् "ग्रन्थसमाप्तिकामोमङ्गलमाचरेदितिश्रुतेः" अधिकं तु मुक्तावल्यादौ द्रष्टव्यं ग्रन्थाधिक्यभयान्नास्माभिर्विन्यस्यते । यद्ब्रह्म तदक्षरात्परमित्यन्वयः । कीदृशं तत्प्रेमविहारि, प्रेम्णा विहरतीति प्रेम्णा यो विहारः सोऽस्याऽस्तीति ननु विहारोपकरणमन्तरेण विहारा-

—: भावार्थ :—

(२) किसी देवके प्रति नम्रतादि शब्दों द्वारा उसकी स्तुति करना अथवा अपनी असमर्थता प्रगट करना आदि नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण है। (३) अपनें अभीष्टतम देवके गुणोंका निरूपण करना या तो, अपने प्रभु, गुरु आदिके विशिष्टस्वरूपका तत्त्वतः निर्देश करना, वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरण कहा जाता है । प्रस्तुत ग्रन्थमें सद्वस्तु—निर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया है । प्रश्न—मंगलाचरण करनेका प्रयोजन—फल—क्या है ?

टिप्पणी.

(२) स्वनिष्ठापकर्षविषयकज्ञानानुकूलबोधको व्यापारविशेषो नमस्कारः ।

अर्थः—अपनेमें वर्तमान लघुतारूप ज्ञानके अनुकूल बतानेवाले व्यापारको नमस्कार कहते हैं ।

(३) स्वेष्टतम देवतागुणगणोक्तिपूर्वको व्यापारो वस्तुनिर्देशः ।

अर्थः—अपने अत्यन्त पूजनीय देवतादिके गुणसमूहका वर्णनपूर्वक जो व्यापार है, उसे वस्तुनिर्देश कहते हैं । इस प्रकार मङ्गलाचरणके लक्षण पाये जाते हैं ।

मङ्गलं च विघ्नध्वंसद्वारकसमाप्तिफलकं कर्म तच्च देवतानमस्कारादिरूपमेव इति नैयायिकाः

अर्थः—मङ्गलाचरण उस कर्मका नाम है जो विघ्नध्वंसद्वारा ग्रन्थकी परिसमाप्ति करानेवाला हो । किसी २ के मतसे मङ्गलाचरण केवल विघ्नोंकोही नाश करता है, समाप्ति तो प्रतिभा आदि गुणोंसे स्वतः हो जाती है ।

संभवः सत्सु च तेषु द्वैतत्त्वापत्तिरथब्रह्मणो द्वैतत्त्वमद्वैतत्त्वं किंवा, द्वैतत्त्वे एकमेवाद्वितीयमित्याद्यद्वैतश्रुतिविरोधस्स्यात् 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, यत्र द्वैतमिव भवति तदितरइतरंपश्यतीत्यादि श्रुतिकदम्बैर्द्वैतत्त्वं निषिध्यते, अतोहेयोयंपक्षोऽथाद्वैतत्त्वंचेत्कथं विहारः संभवति, ब्रह्मण्यानन्दधर्म्मोनिश्शेष तत्रराद्धान्तः 'आनन्दंब्रह्मणो विद्वान्न-बिभेति कुतश्चन, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यादि श्रुतिभ्य आनन्दमयोभ्यासादिति सूत्राच्च आनन्दपर्य्यायः प्रियशब्दो बोधव्यः प्रियस्यभावः प्रेमा आनन्दश्चेति यावत् । तथाच प्रेमशब्द-

—: भावार्थ :—

क्योंकि शिष्ट–विद्वान् लोग बिना प्रयोजन किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते । उत्तर—ग्रन्थका निर्विघ्न समाप्त होना, यही मंगलाचरणका प्रयोजन है "ग्रन्थसमाप्तिकामो मंगलमाचरेदितिश्रुतेः" 'ग्रन्थके समाप्तिकी कामनावाला पुरुष मंगलाचरण करे' इस प्रकार श्रुतिसम्मत शास्त्रीय आज्ञा पायी जाती है ।

टिप्पणी.

(क) महाभाष्यकार पतञ्जलिका कहना है कि मङ्गलाचरणयुक्त ग्रन्थ प्रथित होते हैं ।

अर्थात्—लोकमें प्रसिद्धि पाते हैं और वीर पुरुषोंको तथा दीर्घायुवाले पुरुषोंको उत्पन्न करनेवाले होते हैं । मङ्गलयुक्त ग्रन्थोंको पढ़नेवाले भी बुद्धिशाली होते हैं अतः ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गल करना चाहिये । हालां कि, नास्तिक लोग एवं आर्यसमाजी इस पद्धतिको स्वीकार नहीं करते और व्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषयुक्त बताकर अपने पक्षकी पुष्टिमें 'न्यायकिरणावली और कादम्बरी' आदि ग्रन्थोंके उदाहरण पेश करते हैं, तथापि इस परसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि मङ्गलाचरण निष्फल है । क्योंकि किसी दशामें विघ्नोंका अभाव रहा होगा या तो विघ्न बहुत कम रहे होंगे और मङ्गलाचरण पूर्वजन्मकृत रहा होगा अतः बिना मङ्गलके समाप्ति हो गई होगी । किसीने मङ्गलाचरण किया

वाच्यस्यानन्दस्य ब्रह्मणो न पार्थक्यमिति, अतस्त्वाभिन्नानन्द एव तद्विहारः प्रेमविहार इत्युच्यते। सोऽस्ति यस्य तत् प्रेम विहारि इति लक्षणेन द्वैतत्त्वंनिरस्तमिति बोध्यम्। अत्राद्वैतमात्रमपि शङ्कराचार्यैरिव नास्माभिः

—: भावार्थ :—

[पूर्वपक्ष]—नास्तिक लोगोंने अपने ग्रन्थोंमें मंगलाचरण नहीं किये तथापि ग्रन्थ समाप्त हुए हैं, ऐसा देखा जाता है। आस्तिक लोगोंके मंगलाचरण करने पर भी कादम्बरी आदि बहुतसे ग्रन्थ समाप्त नहीं हुए, इस परसे मंगलाचरणका फल व्यभिचरित और अनित्य प्रतीत होता है। [उत्तरपक्ष]—जी! नहीं, जहाँ पर मंगलाचरणके बिना ही ग्रन्थकी समाप्ति पायी जाती हो, वहाँपर पूर्वजन्मकृत मंगलाचरण समझ लेना चाहिये और जहाँपर मंगलाचरण करनेपर भी ग्रन्थकी समाप्ति नहीं हुई या विघ्न हुए हों; वहां पर पूर्वजन्मकृत बलवान विघ्न समझ लेना चाहिये। अधिक देखना हो तो मुक्तावली, वैशेषिक दर्शनादिमें देख लेना; हमने विस्तारभयसे अधिक नहीं लिखा।

टिप्पणी.

किन्तु विघ्नराशि अधिक और मंगलाचरण अल्प होनेसे विघ्नध्वंस न हो सका हो, यह हो सकता है। यथा—रोगके बलवान होनेपर प्रायः औषधि निष्फल जैसी प्रतीत होती है। वास्तवमें औषधिका गुण तो जैसा का तैसा ही है किन्तु रोगाधिक्यके कारण अपना प्रभाव न दिखा सकी। इसी प्रकार विघ्नाधिक्यके कारण क्वचित् मंगलाचरण निष्फल देखा जाता हो तो उसपरसे मंगलाचरणका फल अनित्य नहीं समझना चाहिये।

(ख) मंगलाचरणके और भी भेद पाये जाते हैं। जैसे कि—

वन्दनं गुरु देवानां गृहशान्ति द्विजार्चनम्।
शुभद्रव्यावलोकश्च मङ्गलं परिचक्षते ॥

गुरु, देवता आदिके वंदन, ग्रहशान्ति, ब्राह्मणोंके पूजन, एवं मांगलिक वस्तुओंके दर्शन आदिको भी मंगल कहते हैं। जिन ग्रन्थोंमें मंगलाचरण नहीं देखनेमें आता और समाप्त हुए हैं सम्भवतः ऐसे ग्रन्थोंके प्रारम्भमें उपरोक्त मंगलोंमेंसे किसी प्रकारका मंगल किया गया हो। क्योंकि

स्वीक्रियते किञ्च स्वलीलाऽद्वैतमंगीक्रियते तद्विवरणं कथमिति चेत्तत्र ब्रूमः स्वशब्द आत्मवाचकः स्वस्मिन्नात्मनि या आनन्दमयी लीला तया सह अद्वैतं स्वलीलाद्वैतमिति। ननु ब्रह्मणोलीलात्वे किं मानं तत्राह भागवते द्वादशस्कन्धे-संसारसिंधुमतिदुस्तर-मुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवः परतमः पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारस-निषेवणमन्तरेण पुन्सो भवेद्विविधदुःखद-

श्लोकार्थः—(सच्चिदानंदकम्) सत्, चिद्, आनंद धर्मयुक्त (प्रेमविहारि) प्रेमसे विहार करनेवाला (सच्छक्ति सहितम्) सत् शक्ति सहित (नित्यं) नित्य अविनाशी (मण्डलं) मंडलयुक्त (यत्पूर्णं) जो पूर्ण (ब्रह्म) ब्रह्म परमात्मा है (तत्) वह (हि) निश्चय (अक्षरात्) अक्षर ब्रह्मसे (परम्) पर है ॥ १ ॥

टिप्पणी.

उपरोक्त मांगलिक वस्तुओंका दर्शन हो जाना भी एक प्रकारका मंगल है और उसे ग्रंथमें लिखनेकी परिपाटी न होनेसे यह कहना कठिन है कि अमुक व्यक्तिने मंगल नहीं किया। इसी अरुचिग्रस्त प्रश्नको लेकर मुक्तावलीकारने लिखा है कि "शिष्य शिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नाति" शिष्य शिक्षाके लियेही मंगलाचरण ग्रन्थके प्रारम्भमें लिखा जाता है। अन्यथा मांगलिक दर्शनद्वारा भी मंगलाचारकी पूर्ति की जा सकती है। लिखनेकी क्या आवश्यकता ?

लेकिन उपरोक्त कारणसेही लिपिबद्ध मंगलाचरण करनेकी रूढ़ि जैसी पड़गई और उसके परिणामस्वरूप "आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम्" की प्रणालीने स्थान पाया अतः आज कल—

"मङ्गलं त्रिविधं प्रोक्तं शास्त्रादीनां मुखादिषु।
आशीर्वाद, नमस्कार, वस्तुनिर्देश—भेदतः॥

इसभांति तीन प्रकारकेही मंगलाचरण ग्रन्थ प्रारम्भमें पाये जाते हैं। अन्यथा—'समाप्तिप्रतिबन्धकीभूतदुरितविशेषनिघातकत्वं मंगलत्त्वम्' समाप्तिके रोकनेवाले किसी भी विघ्न विशेषके नाश करनेवाले कर्मको मंगल कह सकते हैं।

वार्दितस्येति अथेयं व्याख्या–पुरुषोत्तमस्याक्षरातीतस्य "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इतिगीतास्थब्रा-

(प्रश्न)–मूल श्लोकमें ब्रह्मका विशेषण 'प्रेमविहारी' पद आया है। तो सामिग्री बिना विहार कैसे सम्भव होगा? और सामिग्री स्वीकार करने पर ब्रह्ममें द्वैतापत्ति होगी। ब्रह्मको द्वैत मानते हो किंवा अद्वैत? यदि द्वैत मानते हो तब तो "एकमेवाऽद्धितीयं ब्रह्म [छां० ६।२।१] और "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति [कठ० २।४।१०] इत्यादि श्रुतियोंके साथ विरोध होगा। क्योंकि उपरोक्त श्रुति आज्ञा करती हैं कि–ब्रह्म एक अद्धितीय है। (यः) जो (इह) इसमें (नाना) नानात्व या अनेक वस्तु (इव) सदृश (पश्यति) देखता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्युसे [मृत्युम्] मृत्युको [आप्नोति] प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममें द्वैत भाव माननेवाला पुनः पुनः जन्ममरणके दुःखको भोगता है। इत्यादि प्रमाणोंसे ब्रह्ममें द्वैतका निषेध पाया जाता है यदि कहोकि अद्वैत मानते हैं तब तो ब्रह्मका विहार करना सिद्ध नहीं होता अतः 'प्रेमविहारी' पदको ब्रह्मका विशेषण मानना युक्ति और प्रमाणसे विरुद्ध है।

(उत्तर) जबकि ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है तब तो आनन्द सापेक्ष विहार भी माननाही पड़ेगा; क्योंकि विहार–सामिग्रीके अभावमें आनंद धर्म नहीं रह सकता। ब्रह्ममें आनन्द प्रतिपादन करनेवाली श्रुति मुक्त कण्ठसे वर्णन करतीं हैं कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। ब्रह्मके आनन्दसेही अन्य सब आनन्द पाते हैं। [१] वही एक आनन्दराशि है, दूसरे तो सब उसकी मात्रासे जीवन पाते है। यदि आनंदकी कोई

टिप्पणी.

(१) एतस्यैवानन्दस्यान्यानिभूतानि मात्रामुपजीवन्ति [बृ. ४।३।३२] इस परमात्माके आनन्दसेही अन्य प्राणी आनंद पाते हैं, इसी (आनंद)के

क्यप्रतिपाद्यस्य या लीला तस्याः कथैवरसस्त[illegible]सेवणं विना पुन्सोऽन्यः प्लवो नेत्यन्वयः सुगममन्यत् । ननु पुरुषोत्तम[illegible] लीलास्थानं तद्भिन्नमित्याशंक्याह स्वस्मिन्नानन्दमये धाम्नि स्वा[illegible]नानन्दमय लीलया-तद्विहारस्तथैव श्रुतयो वदन्ति 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि इति " " स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स द-

सीमा है तो रस स्वरूप एक ब्रह्मही है । ब्रह्मके आनन्दको प्रतिपादन करनेवाली निम्न लिखित श्रुतियाँ हैं । यथा—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन [तैत्ति० २।९] अर्थः—(ब्रह्मणः) ब्रह्मके (आनंद) आनंदको [विद्वान्] जानता हुआ मनुष्य [कुतश्चन] किसीसे [न बिभेति] भय नहीं मानता । " आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद् (तैत्ति० ३।६) आनंदस्वरूप ब्रह्म है, इस प्रकार भृगुने समझा " विज्ञानमानन्दं ब्रह्म [बृ० ३।९।२८] विज्ञान आनंदस्वरूप ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियोंनें ब्रह्मको आनंदस्वरूप प्रतिपादन किया है। जब ब्रह्ममें आनंद धर्म नित्य हैं तब आनंदमें विहार भी नित्य है। क्योंकि विहारके बिना आनंद-सुख नहीं प्राप्त होता । आनंद और प्रिय शब्द एकार्थक हैं। श्रुतिमें ' प्रिय ' शब्दको आनंदस्वरूप पक्षीका शिर वर्णन किया है । यथा—तस्य प्रियमेवशिरः (तैत्ति० व० २। ५)

टिप्पणी.

आधारसे जीवन पाते हैं । "एष ह्येवाऽऽनन्दयाति [तैत्ति० व० २ अ० ७]" यही परमात्मा सबको आनंदित करता है । " आनंदमयोऽभ्यासात् [ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० १ अ० ६ सू० १२] "आनंदमय शब्दसे परमात्माही लिया गया है, जीव नहीं लिया गया, क्योंकि श्रुतियोंमें अनेक वार आनंद शब्दका प्रयोग ब्रह्मके लियेही देखा गया है। इत्यादि शतशः प्रमाण ब्रह्ममें आनंद धर्मके प्रतिपादन करने वाले हैं ।

क्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति" सर्वा तल्लीलाश्रया-सामग्री तन्मयीति विभाव्यम् । न च तद्विहार-प्रतिपादने-प्रमाणभूताः काः श्रुतय इत्याशंक्यम् " तस्मान्नैकाकी रमते" "स तत्र

'अस्ति, भाति, प्रिय' इस प्रकार धर्मत्रययुक्त ब्रह्मको माना गया है। अस्तिसे सत्, भातिसे चिद्, और प्रियसे आनंदका ग्रहण होता है

यथा—अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ (वाक्यसुधा.)

अत एव आनंद अर्थमें 'प्रिय' शब्द ग्रहण करने योग्य है। प्रियस्य-भावः प्रेमा" प्रियका भाव प्रेम है, यह व्युत्पत्ति व्याकरणसे सिद्ध है। अतः प्रेम शब्द आनंद जाति वाचक हुआ। प्रेम्णाकोऽर्थः स्वाभिन्ना-नंदजात्या विहरतीति प्रेमविहारी" अर्थः—प्रेम-अपनेसे अभिन्न आनंद जाति करके सहित विहार करनेवाला ब्रह्म 'प्रेम विहारी' कहा जाता है। अत एव अपनेसे अभिन्न आनंदसे विहार करते हुए पुरुषमें द्वैतत्त्व नहीं हो सकता किंतु अद्वैतही रहेगा। यदि विहार किंवा विहार सामिग्री सच्चिदानन्द ब्रह्मसे भिन्न हो तब तो द्वैत माना जाय लेकिन यावद् वस्तु एक सच्चिदानंदमय-असत् जड़ दुःखरहित-ब्रह्म स्वरूप होनेसे ब्रह्म द्वैत नहीं हो सकता किंतु (१) अद्वैतही रहेगा।

टिप्पणी

[१] वस्तुतः ब्रह्मधाममें मायाजन्य पदार्थोंका किंवा प्रकृतिका अभाव होनेसे ब्रह्मविषयमें द्वैत होनेका प्रश्नही असंगत है। द्वैतापत्ति उसी दशामें हो सकती है जब कि ब्रह्ममें मायाका संसर्ग हो। लेकिन जब ब्रह्मधाममें यावत्पदार्थ सच्चिदानंदमय हैं तब भेद कैसा? जहाँपर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म [छां०३।१४।१] अर्थः- (इदं) यह ब्रह्मधाम [सर्वं] सब (खलु) निश्चय [ब्रह्म] ब्रह्म स्वरूप है। जहाँकी सामग्रीही ब्रह्मस्वरूप

पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादि श्रुतिभिर्विहारप्रतिपादनादिति युक्तमतः प्रेमविहारित्वं ब्रह्मणो लक्षणमिति।

(प्रश्न)—जैसा अद्वैत स्वामी शंकराचार्यजीने माना है वैसा मानोगे या नहीं ? (उत्तर)–जी ! नहीं, हम तो ब्रह्मको स्वलीलाऽद्वैत मानते हैं। (प्रश्न)—स्वलीलाऽद्वैतका व्याख्यान क्या होगा ? उसका निर्वचन करिये। (उत्तर)—"स्वस्मिन् आत्मनि या लीला तया सह अद्वैतमिति स्वलीलाद्वैतम्" अथवा—स्वस्मिन् आत्मनि लीला विहारो यस्य—पूर्णं ब्रह्मण स्तत् स्वलीलं। द्वयोरितं ज्ञानं द्वीतं, यद्वा द्वयो र्भावो द्विता; द्वीतं द्वितैव वा द्वैतं, न द्वैत मित्यद्वैतं; स्वलीलं च यदद्वैतं–स्वलीलाद्वैतम्" अर्थः—अपने आत्मामें जो लीला है

टिप्पणी.

हो वहां पर परमात्माकी अखंड लीलामें 'द्वैत' होनेकी शंकाही व्यर्थ है "नेहनानाऽस्ति किञ्चन [कठ० २।४।११] अर्थः—(इह) ब्रह्मधाममें (नाना) नानाप्रकारकी (किञ्चन) कुछभी वस्तु (न–अस्ति) नहीं है। किंतु जो कुछ भी है सब सच्चिदानंदैकरस ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् यावत्पदार्थ सत्, चिद्, आनंद धर्मवाले हैं अतः कोई भेदक नहीं कहे जासकते। क्योंकि भेद विजातीय पदार्थ किंवा मायाकृतमें होता हैं। सजातीयपदार्थ युक्त ब्रह्म द्वैत नहीं हो सकता। यदि सजातीयमें भेद माना जाय तबतो ब्रह्म नित्य न रहे। इस बातका निर्णय निम्न लिखित मांडूक्य कारिकाने बड़े मर्मस्पर्शी शब्दोंमें किया है। यथा—

मायया भिद्यते ह्येतन्नाऽन्यथाऽजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतामसृतं व्रजेत्॥

(माण्डूक्य० का० प्र० ३।१९)

अर्थः—[एतत्] यह ब्रह्म (मायया) मायाके कारण (भिद्यते)

पुनः कीदृशं पूर्णं निरतिशयाखण्डैश्वर्य्यसंपन्नम् 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' इतिश्रुतेः। ननु पूर्णत्वे सति कथं विहारः सम्भवति पूर्णस्य सर्वापेक्षा-

उसके सहित जो ब्रह्म वह अद्वैत है। अथवा अपनेमें लीला है जिस अद्वैत ब्रह्मकी वह स्वलीलाद्वैत ब्रह्म है। अद्वैत पदका निर्वचन—दो प्रकारके ज्ञानको द्वीत और दोके भावको द्विता कहते हैं। द्विता या द्वीत शब्दसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेसे द्वैत शब्द सिद्ध होता है। द्वैतशब्दके साथ 'नञ्' इस पा० सूत्रसे नञ् समास करनेसे अद्वैत शब्द निष्पन्न होता है। जिसमें अन्य वस्तुका अभाव हो उसे अद्वैत कहते हैं। दूसरे भावका नाम द्वैत है। जहां पर एक ब्रह्म सच्चिदानन्द धर्मातिरिक्त अन्य वस्तुही नहीं, वहाँ पर द्वैतत्त्वका समावेश कहां ?।

टिप्पणी.

द्वैत देखनेमें आता है (अन्यथा) नहितर (अजं) अविनाशी (कथंचन) किसी प्रकार भी भेदबुद्धि करने योग्य (न) नहीं है (हि) यह निश्चय समझना। [तत्त्वतः] यदि ब्रह्म परमार्थतः [भिद्यते] भेदको प्राप्त होता है ऐसा मान लेवें (हि) तबतो (अमृतं) अमरणधर्मा परमात्मा [मर्त्यतां] विनाशी भावको (व्रजेत्) प्राप्त हो जावे और अविनाशी नित्य न रहे अत एव ब्रह्ममें द्वैतापत्ति आदि दोष नहीं माने जा सकते। देखिये, इस एकहीं कारिकाने आपके द्वैतवादको निर्मूल कर दिया और फैसला देदिया कि ब्रह्म किसी प्रकार द्वैत आदि भेदबुद्धि करने योग्य नहीं किन्तु जिनको द्वैत आदि होनेकी शंका उठाकरती हैं वे सब माया-अज्ञानके कारण; अतः ब्रह्ममें द्वैत होनेकी शंका करनाही व्यर्थ है। सांख्य दर्शनकार भी "नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् (सां० प्र० १ सू० १५४) अर्थः—ब्रह्मको अनन्त शक्तिसम्पन माननेसे अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध नहीं हो सकता क्योंकि " नित्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " नित्यज्ञान स्वरूप ब्रह्म अनंत होनेपरभी एकजाति धर्मावच्छिन्न होनेसे

रहितत्वादितिचेन्न सर्वानन्दमयसामग्रीसहितस्यैव पूर्णत्वं 'यदिह नास्ति-यच्चास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति श्रुतेः, सामग्र्याभावे पूर्णत्वक्षति-

(प्रश्न)-सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वैत पूर्णब्रह्मके लीला करनेमें प्रमाण क्या है ?
(उत्तर)—श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक प्रमाण हैं। यथा—
'तस्मादेकाकी न रमते (बृ० १।४।३) अर्थः—तिसवास्ते अकेला नहीं रमण करता। भागवत (१२।४।४०) में भी लिखा है कि—

" संसार–सिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो र्नाऽन्यः प्लवः परतमः पुरुषोत्तमस्य।
लीला कथारस निषेवणमन्तरेण; पुन्सो भवेद्विविध दुःखदवार्दितस्य ॥

अर्थः—अति दुस्तर संसार–सागरमें पड़े हुए और संसारके विविध दुःखोंकी भयानक अग्निसे जलते हुए जीवके पार जाने और

टिप्पणी

द्वैत नहीं कहा जा सकता। जो श्रुति ब्रह्मको एक अद्वितीय वर्णन करती हैं वे जाति परक हैं अर्थात् ब्रह्म तथा ब्रह्मधाम आदि यावत्पदार्थ हैं वे सत्-चिद् आनंद धर्मवाले होनेसे सब एक जातिवाले हैं अतः अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध नहीं मानना चाहिये। इस प्रकारसे परमात्माकी अखंडलीलाके विषयमें अनेको प्रमाण पाये जाते हैं—

तस्माल्लीला रसमयी रसो लीला मयः स्मृतः ।
तादात्म्यादेकरूपत्वाल्लीला ब्रह्ममय्यभवत् ॥

अर्थः—तिस कारणसे लीला रसमयी है और रस लीलामय है। 'रसो वै सः'—इत्यादि श्रुति ब्रह्मको रसरूप वर्णन करती हैं और लीलाके विना–रस प्रगट नहीं होता इस कारण ब्रह्मलीला और रसस्वरूप ब्रह्म दोंनो नाममात्र भिन्न कहे जाते हैं वास्तवमें लीला और रसका तादात्म्य सम्बन्ध तथा एकरूपता होनेसे ब्रह्म और ब्रह्मकी लीला भिन्न नहीं है; किन्तु लीलारसयुक्तही आनन्द ब्रह्म है, ऐसा समझना चाहिये।

रिति। अथचेच्छापूर्विका सृष्टि श्रवणात्पूर्णस्यापीच्छा भवतीति वि-
ज्ञायते 'सोकामयत बहुस्यामिति' श्रुतेः। यद्यपि सांख्याचार्यैः प्रकृति-

शान्ति पानेके लिये पुरुषोत्तमकी लीलाही जहाज़रूप हैं और उन लीला-
ओंका अमृतके समान रसही शान्ति करनेवाला है। इसके अतिरिक्त
दूसरा उपाय नहीं। उपरोक्त श्रुति स्मृति वाक्यों परसे पूर्णब्रह्म परमा-
त्माकी नित्य लीला प्रमाणित होती है। परमात्माको आत्माराम भी
कहते हैं। "आत्मारामोऽप्यरीरमत् [भा० १०।२९।४२]"
इत्यादि भागवतमें लिखा है [आत्मनि-आरमतीति-आत्मारामः]

अर्थः—अपने आत्मामें रमण-क्रीड़ा विहार करे वह परमात्मा
आत्माराम है। देव शब्द भी परमात्मके लिये प्रयुक्त होता है।
यथा—"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः [श्वेता० ४।१६] इस श्रुतिमें
'देव' शब्द परमात्माके लिये आया है। "दिवु क्रीड़ा विजिगीषाव्यवहार
मोदमद स्वप्नकान्तिगतिषु" इस धातुसे क्रीड़ार्थमें नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०
[अष्टा० ३।१।१३४] इस पाणिनि सूत्रसे अच् प्रत्यय करनेसे देव शब्द सिद्ध
होता है। "दीव्यति कोऽर्थः स्वानन्त शक्तिभिः सर्वदा क्रीड़ति-विहरतीति
देवः" अर्थः—अपनी अनंत शक्तियों सहित सदाकाल क्रीड़ा विहार-
करनेवाला परमात्मा देव कहा जाता है; इत्यादि परसे स्पष्ट हो जाता
है कि परमात्मा अवश्यमेव क्रीडापरायण हैं और वह सदाकाल
प्रेमानंदमयी लीला विहार किया करता है।

(प्रश्न)—क्या सच्चिदानंदके विहारकी भूमिका-धाम गिरि नदी
वनोपवन आदि सब सामिग्री है? (उत्तर)-जी! हाँ, तभी तो
ब्रह्म अनन्त लीला संयुक्त है। (प्रश्न)-यदि ब्रह्म अनंत सामिग्री
संयुक्त है तो द्वैत क्यों नहीं होता? (उत्तर) मायाका अभाव होनेसे।

कर्त्रिका सृष्टिरभाणि पुरुषस्यौदासीन्यञ्च तथापि बादरायणेन 'ईक्षतेर्नाशब्दमि'त्यादिसूत्रैर्निराकृतत्वादुपेक्ष्यमिति । पुनः कीदृशं

यह तो प्रथमही (पृष्ट ८ वेमें) कहा जा चुका है कि ब्रह्मधाम आदि यावत्पदार्थ हैं वे सब सच्चिदानंदमय एक ब्रह्मस्वरूप होनेसे द्वैत नहीं हो सकते । जब कोई पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न मायामय–असत्, जड़, दुखरूप मिथ्या होवै तब तो द्वैत होनेका प्रश्न उचित है लेकिन जब कोई मायामय–असत् जड़ दुःखरूप है ही नहीं, तब द्वैत कहना योग्य नहीं । [प्रश्न] क्या भूमि, नदी वन वृक्ष जलादिभी चेतन हैं ? [उत्तर] जी ! हां, सच्चिदानंदमय होनेका यही मुख्य धर्म है कि सत् अर्थात् सबवस्तु सदा सर्वदा एक रस त्रिकालाबाध्य सनातन अविनाशी हैं । चिद् अर्थात् भूमि नदी वनोपवन आदि यावत्पदार्थ चेतन–ज्ञानयुक्त हैं; आनन्द अर्थात् सब वस्तु सर्वदा सुखदायक हैं । इस बातको छान्दोग्य-श्रुतिभी पुष्ट करती हैं कि "स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् [छां० अ० ७ खं० २५ मं १] अर्थः—वह परमात्माही नीचे आधाररूप है । वही ऊपर आकाश, सूर्य, चन्द्र तारा-गणरूप है और वही आगे पीछे है । वहांपर परमधाम सम्बन्धी सम्पूर्ण वस्तु सच्चिदानंदमय होनेसे परमात्मस्वरूपही हैं । " ब्रह्मैवेदं सर्वं " यह ब्रह्मका धाम सम्पूर्णही ब्रह्मस्वरूप है । " नेह नानास्ति किञ्चन " इस ब्रह्मधाममें नाना–विजातीय वस्तु कुछ भी नहीं है । " स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः ? इति, स्वे महिम्नि [छां० अ० ७ खं २४।१] अर्थः—नारदजीने प्रश्न किया कि ' हे भगवन् सनत्कुमार ! वह परमात्मा किस आधारसे प्रतिष्ठित है ? ' सनत्कुमारजीने उत्तर दिया कि, अपनी महिमामें स्थित है । इत्यादि प्रमाणोंसे पूर्ण ब्रह्मकी विहार-सामिग्री–नीचे ऊपर सब ओर जो कुछ है सब सच्चिदानन्दमय ब्रह्म

तत् सच्चिदानन्दकमिति तत्र सत्त्वं सर्वदैकरसेनस्थितत्वम्, चित्त्वंनाम पूर्णज्ञानवत्त्वं न च ज्ञानमात्रमिति वाच्यं तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः

स्वरूप है यही मानना योग्य है । पूर्ण कहनेका अभिप्रायभी यही है कि परमात्मा सब सामिग्री और सब ऐश्वर्य सम्पन्न है । बृहदारण्यक श्रुतिभी इस बात को प्रतिपादन करती है कि परमात्मा पूर्णसे भी पूर्ण है यथा—"पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्ण–मुदच्यते* (बृ० १।१) अर्थः—[इदं) यह ब्रह्म (पूर्ण) सब प्रकारसे पूर्ण है (अदः) इसका ब्रह्मधाम (पूर्ण) पूर्ण है (पूर्णात्) पूर्ण जो अक्षर ब्रह्म है उससे भी (पूर्णमुदच्यते) पूर्ण परमात्मा उत्कृष्टतया पूजने योग्य है । (प्रश्न) जब ब्रह्म पूर्णसे भी पूर्ण है तब विहार कैसे होगा ? क्योंकि विहार करतेही सापेक्ष हो जायगा । (उत्तर) देखो जी ! यदि ब्रह्ममें आनंद धर्म न माना जावे तब तो अपूर्ण कहना योग्य है लेकिन ज़ब ब्रह्मको आनंद धर्म युक्त मानोगे तब तो आनंदका उल्लासरूप विहारभी माननाही पड़ेगा । क्यों कि आनंदकी शाखाएँ लीला विहारही हैं; अतः आनन्द विहार (१) सहितही पूर्ण मानना योग्य है । (प्रश्न) आनंद विहार अपने लिये करता है अथवा औरोंके लिये ?

टिप्पणी.

* उद् उपसर्ग पूर्वक 'अञ्चु गति पूजनयोः' इस धातुसे 'उदच्यते' पद सिद्ध होता है ।

(१) निम्न लिखित श्रुतिभी ब्रह्मके विहारको प्रतिपादन करती है । यथा–स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा [छां०८।१२।३] वह परमात्मा उस ब्रह्मधाममें शक्तियोंके साथ, हास्य, क्रीड़ा विहार करते हुए सुखपालद्वारा सबको प्राप्त होता है ।

प्राज्ञवत्पृथगुपदेशादित्यादि ब्रह्मसूत्रैः ज्ञानाधिकरणत्वकथनादिति। आनन्दत्वं नामाखण्डसुखाश्रयत्वं। तथा च सत्त्वावच्छेदकावच्छिन्नः (उत्तर)—निज जनोंके सुखके लिये करता है; ऐसाही श्रुति प्रमाण पाया जाता है। यथा—"एष ह्येवानंदयाति [तैत्ति० २। अ० ७] अर्थः—यही परमात्मा सब–निजजनोंको आनंदित करता है। अतः उसको विहार सापेक्ष नहीं किंतु स्वजनानंदप्रद है। (प्रश्न) मूल श्लोकमें "सत शक्ति सहित" ब्रह्मको बताया गया है तो शक्ति सहित ब्रह्मके होनेमें प्रमाण क्या है? (उत्तर) श्रुतिस्मृति प्रमाण हैं। देखो—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते [श्वेता० अ० ६। मं० ८] अर्थः—(अस्य–ब्रह्मणः) इस ब्रह्मकी (परा–उत्कृष्टा) परा नाम सर्वोत्तम (शक्तिः) शक्तिरूप स्वामिनी आदि (विविधा) विविध प्रकार अनंतरूप (श्रूयते) सुनी जाती हैं "य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति [श्वेता० ४।१] अर्थः—(यः) जो (एकः) अद्वितीय (वर्णः) स्वरूप है तथापि (बहुधा) अनन्त प्रकारकी (शक्ति योगात्) शक्तियोंके योगसे (अनेकान्) अनेकों प्रकारके (वर्णान्) लीलास्वरूपोंको [निहितार्थः सन्] इच्छित प्रयोजनः—इच्छाचारी लीलाभेदके पूर्त्यर्थ तात्कालिक पदार्थोंको (दधाति) धारण करता है। इत्यादि श्रुति स्वामिनी आदि अनन्त शक्ति युक्त परमात्माको प्रतिपादन करतीं हैं। अतः अनन्त शक्ति सम्पन्नही परमात्मा मानने योग्य है। [प्रश्न]—क्या स्वामिनी आदि अनन्त शक्तियोंके रहते हुए परमात्मा द्वैत न होगा? [उत्तर] जी! नहीं; क्योंकि शक्ति और शक्तिमानमें कोई भेद* नहीं

टिप्पणी

* शक्ति शक्ति मतो भेदो दृश्यते नैव तत्त्वतः।
यथाऽर्कश्चातपैरेको न द्वैतो मृगवारिणा॥

सन्, चित्त्वावछिन्नः चित्, आनन्दत्वावछिन्नः आनन्दश्च ते सन्त्यस्येति सच्चिदानन्द-मत्र्याशोदित्वादच् तदेव सच्चिदानन्दकम् एते-

होता अतः द्वैत न होगा। जैसे अग्नि अपनी दाहकता शक्तिसे द्वैत नहीं होता उसी प्रकार सच्चिदानन्द-धर्ममय अनन्त शक्तियोंके होते हुए भी परमात्मा द्वैत नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थमें चार अनुबन्ध हैं। [१] सम्बन्ध प्रयोजन अधिकारी और विषय। बोध्य बोधकभाव

टिप्पणी.

शक्ति और शक्तिमानमें वास्तविक भेद नहीं माना जा सकता किंतु भेदकी जो उपलब्धि होती है वह सूर्य, सूर्यकिरण और मृगजलकी भांति प्रतीतमात्र भिन्न है तत्त्वतः भिन्न नहीं ।

(१) अधिकारी च सम्बन्धो विषयश्च प्रयोजनम् ।
आदौ सर्वेषु ग्रन्थेषु वाच्यमेतच्चतुष्टयम् ॥

ग्रन्थकी आदिमें—अधिकारी, सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन ये चार अवश्य कहना चाहिये । "अधिकारिणमाशास्ते फल-सिद्धिर्विशेषतः" क्योंकि अधिकारीके अतिरिक्त दूसरेको फलसिद्धि नहीं होती ।

(१) विवेकश्च विरागश्च संपत्ति—षट्कमेवच ।
मुमुक्षतेति चत्त्वारि साधनान्यधिकारिणः ॥

अर्थः—विवेक, विराग, षट्संपत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, विश्वास) और मोक्षकी इच्छा ये चार साधन जिसमें पाये जावें उसे अधिकारी समझना चाहिये । क्योंकि योग्य पात्रके आधारसे वस्तु रह सकती है —" केसरी दूध ना रहे रजमात्र; उत्तम कनक बिना जिमि पात्र (श्री मुखवाणी) " जैसे सिंहिनीका दूध योग्य सुवर्ण पात्रके विना नहीं रह सकता उसी प्रकार अखंड लीलाका रहस्य उस लीलाके पात्र विना नहीं रह सकता । " याके पात्र होसी इन योग " ब्रह्मलीलाके रहस्य एवं उसके यथार्थ स्वरूपको ब्रह्मसृष्टिके अतिरिक्त दूसरे नहीं

नासज्जडदुःखादीनां व्यावृत्तिरुक्तेति । पुनः सच्छक्तिसहितम् सती शक्तिः स्वामिनी तया सहितम् । न चात्र शक्तित्वे किं मान-

सम्बन्ध, आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्राप्ति होना प्रयोजन; विवेक, विराग, शम-दम आदि सम्पन्न अद्वैत प्रेमीजन अधिकारी और आत्मज्ञान विषय है।

टिप्पणी.

जान सकते; कदाच जान भी लेवें तो ग्रहण करना कठिन है। इस लिये तुलसीदासजी कहते हैं कि—" कहत कठिन, समुझत कठिन; साधन कठिन विवेक " बेशक, विवेकका कहना सुनना तो कठिन है ही परन्तु उसका ग्रहण करना यह तो बहुतही कठिन और दुर्लभ है। इसी लिये शास्त्र आज्ञा करता है कि परमार्थ तत्त्वको अधिकारीके विना अन्यको नहीं देना चाहिये। " नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः [श्वेता० अ० ६ ।२२] शान्तादि गुणयुक्त पुत्र और शिष्यके अतिरिक्त अन्य किसीको ब्रह्म विद्या नहीं देना चाहिये। क्योंकि-

मन्त्रौषधि क्रिया धर्मा गुप्ता एव फलन्ति हि ।
गोपनीया ततो यत्नाद् विधेयं ब्रह्मदर्शिनी ॥

मंत्र, औषधि क्रिया और धर्म ये सुरक्षित रहते हैं तभीतक फल देते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मविद्याभी योग्य अधिकारीको देनेसे फलप्रद होती है। जैसा कि "निरुक्तके अ० २। पा० १ खं० ४ मं० १" में कहा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

अर्थः—विद्या (ब्राह्मणं) ब्रह्मज्ञ गुरुके पासमें (आजगाम) आकर प्रार्थना करती है कि, 'हे आचार्य ! (अहम्) मैं (ते) आपका (शेवधिः) सुखप्रद धन (अस्मि) हूँ अतएव (मां) मुझको (गोपाय) बचाओ, रक्षा करो। (असूयकाय) निन्दकके लिये (अनृजवे) कुटिल, धूर्त वंचक वग़ैरोंके लिये, (अयताय) विद्याकी कदर न जाननेवालोंके लिये (मां) मुझको (न) मत (ब्रूयाः) कहो। यदि आप इस प्रकारसे मेरी रक्षा करोगे तो (वीर्यवती तथा स्याम्) मैं गौरवयुक्त हो

मिति वाच्यम्, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते इति श्रुतेः । नच स्वामिनी सहितत्वे द्वैतत्त्वापत्तिरित्याशंक्यम् शक्तिमतोरभेदा-

टिप्पणी.

आपको विशेष फल देनेके लिये समर्थ होऊंगी । अत एव निम्न लक्षणवालेको ही विद्या प्रदान करना योग्य है-

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्तेन द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

अर्थः—(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मज्ञ ! (यम्) जिसको ' तू ' (शुचिम) शुद्धान्तःकरण (अप्रमत्तम) व्रतोंके पालनेमें अप्रमादी (मेधाविनम्) मेधा-सम्पन्न-श्रुत विषयको यथार्थ ग्रहण करने वाला (ब्रह्मचर्योपपन्नम्) जिसे मन, वचन तथा इन्द्रियोंसे अव्यभिचारी (विद्याः) समझो (यः ते न द्रुह्येत्) जो तुमारे साथ कभी द्रोह न करे (च) और (कतमत् न आह) जो सीखकर किसी अनधिकारीको न कहे (निधिपाय तस्मै एव) उत्तम धनके समान रक्षा करनेवाले पूर्वोक्त गुणविशिष्ट शिष्यके लियेही (मां ब्रूयाः) मुझको कहो-मेरा उपदेश कर । इस निरुक्त (अ० २ पा० १ खं० ४ ।४) मंत्र के देखनेसे पता चलता है कि प्राचीन समयमें अधिकारीके लियेही विद्या प्रदान किया जाता था । ब्रह्मविद्या जो कि परा नामसे प्रसिद्ध है उसके लिये तो अधिकारीकी खास जरूरत है अतः नीचे लिखे लक्षणयुक्त मनुष्यको इसका अधिकारी समझना चाहिये ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवं रूपो विनिश्चयः ।
सोऽयं नित्यानित्य वस्तु विवेकः समुदाहृतः ॥

' ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है ' इस प्रकार जो निश्चय है उसे नित्य-अनित्य वस्तुका ' विवेक ' कहते हैं ।

तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनं श्रवणादिभिः ।
देहादि ब्रह्मपर्यन्ते ह्यनन्ते भोग्यवस्तुनि ॥

शरीरसे आदि लेकर ब्रह्म या प्रकृति पर्यन्त जितने भी भोग्य

न्वयात् । पुनः नित्यं देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नम् इत्यर्थः । तत्रहेतुरखण्डमिति । अत्र ग्रन्थे सम्बन्धचतुष्टयं बोध्यम् । सम्बन्धाधिकारिम-

टिप्पणी.

पदार्थ हैं उनके देखने या सुनने अथवा भोगनेकी इच्छा न होनेको वैराग्य कहते हैं ।

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ॥

विषय समूहसे घृणा होना अर्थात् दोषदृष्टिद्वारा उन्हे वारंवार देखनेसे विराग उत्पन्न होनेके कारण अपने ध्येय–ब्रह्मज्ञानमें मनकी नियमित अवस्था होनेको ' शम ' कहते हैं । यह पहली सम्पत्ति है ।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ॥

ज्ञान तथा कर्म दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको तत्तद्विषयसे रोककर अपने २ स्थान पर स्थापित रखनेको 'दम' कहते हैं । यह दूसरी संपत्ति है।

" बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेवोपरतिरुत्तमा "

त्याग करी हुई बाह्य वस्तुओंका अनालम्बन–अस्वीकार करना अर्थात् त्याजित विषयोंपरसे बलात् मानसिक वृत्तिको रोकना ' उपरति ' कहा जाता है । यह तीसरी सम्पत्ति है ।

सहनं सर्वदुःखाना–मप्रतीकार–पूर्वकम् ।
चिन्ता–विलाप–रहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥

दुःखोंके हटानेका उपाय न करना किन्तु उलटा दुःख सहन करते रहना, एवं दुःखोंके लिये चिंता तथा विलाप करना नहीं, इसे तितिक्षा कहते हैं । यह चौथी संपत्ति है । अपनी संप्रदायके कुछ लोग कहा करते हैं कि " हम तो मायाका खेल देखने आये हैं, हमें जगतके त्यागकी क्या जरूरत ? त्याग करना तो दुनियाँके लोगोंके लिये है; परन्तु यह इनकी भूल है । शास्त्रोंमें जितने संयम, नियम लिखे हैं वे सबसे प्रथम हमारे लिये हैं । " या कारन माया रची शास्त्रभी तिन कारन। खेलभी एही देखसी अर्थ भी लिये इन (श्रीमुखवाणी)

योजन विषयभेदात् । तत्र बोध्यबोधकभावसंबन्धः । अद्वैतप्रेमिणोऽधिकारिणः । निज-स्वरूपावाप्तिः प्रयोजनम् । आत्मज्ञानं विषयः ॥ १

टिप्पणी.

इस नश्वर विश्व रचनाका दृश्यभी देखना और श्री मुखवाणी तथा शास्त्रोंके यथार्थ अर्थकोभी ग्रहण करना कितना बड़ा भारी काम है ! " जलमें न्हाइये कोरे रहिये " जलमें नहाना और कोरा-सूखा रहना ! कोई सहल काम है ! तलवारकी धार पर खेलना है, सूलीपर कला करना है । जराभी चूक हुई कि तमाशा खतम ! और पैसा भी हजम ! ! आप समझ गये होंगे कि मैं क्या कहना चाहता हूं । तमाशा दिखाने वाला मदारी या नट जब सूली पर कला करता है तब उसे कितना ध्यान रखना पड़ता है यह समझ लेना कठिन नहीं । वह सूलीकी नोंक पर खेल करता है सही; मगर उससे बचे रहनेके लिये प्राण अर्पण किये रहता है । यदि वह चूक जावे तो उसके प्राण गये और पैसाभी हजम अर्थात् तमाशगीर अपने २ घरको चम्पत हुए पैसा कौन देवे ? बस, यही दशा इस नश्वर विश्वके खेलकी है । हालांकि इस, खेलको दिखानेवाला दूसरा है तथापि ज्ञानीजनोंको सूलीसेभी अधिक भय इस खेलका है । ज्ञानीको इस खेलरूपी संसारमें सदाकाल सावधान रहना पड़ता है । कदाच भूल हुई कि किया कराया सब खाक ! लोक परलोक दोनोंसे गया । इस वास्ते खेल देखनेका मतलब " विश्वकी विचित्रता पर विश्वास न करनेके है " और अर्थ लेनेका मतलत लिखे मुताबिक चलने (आचरण) के है । नकि विषय वासनाओंके बढ़ानेसे । " कोई देत कसाला तुमको तुम भला चाहियो तिन " ऊपर लिखी तितिक्षासे कहीं अधिक तत्त्व इसमें भरा हुआ है । श्लोककी तितिक्षासे श्रीजीकी तितिक्षा दश कदम आगे है । श्लोकमें तो " प्रतीकार किये बिनाही दुःख सहन करलेना और अपने दुःखके लिये चिल्लाना नहीं " इतनाही लिखा है मगर श्रीजी कहते हैं कि इतनेसे ' तितिक्षा ' पूर्ण नहीं होती अतः " दुःख देनेबालेका भलाचाहना " और इसमें दाखिल करो । क्यों कि " बहुतसे अत्याचारी लोग गरीब लोगोंको अनेक प्रकारसे मार पीटकर प्रायः दुःख दियाकरते हैं और चिल्लाने भी नहीं देते । गरीब-

मू०–तदङ्ग–मक्षरं ब्रह्म ह्यव्यक्तं प्रकृतेः परम् ।
बालानां क्रीडनेनैव ब्रह्मण्डानां जनिर्यतः ॥२

गू०—अक्षरात्परत्वमुक्तं पूर्णब्रह्मणस्तत्र किमक्षरमित्यपेक्षायामाह तदंगमिति, तस्योत्तम–पुरुषस्याङ्ग–मक्षरमित्यन्वयः । न क्षर-

भावार्थः—उस प्रेमविहारी परमात्माका अंगभूत अक्षर ब्रह्म है जो प्रकृतिसे पर और अव्यक्त कहा जाता है । जिसकी लीलामात्रसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना हुआ करती है ॥ २

टिप्पणी

होनेके कारण विचारा चिंता, प्रतीकार आदिभी कुछ नहीं कर सकता" कहीं यह भी 'तितिक्षा'में सम्मिलित न हो जावे इसलिये "भलाचाहियो तिन" इतना और इसमें जोड़ दो; बस, अब ठीक हो गया। गरीब चुपचाप सहन कर लेगा मगर अत्याचारीका भला नहीं चाहेगा और तितिक्षावाला भला चाह सकता है । अब तितिक्षाका लक्षण विशुद्ध बन गया । किसी कालमें भी लक्षण–व्यभिचार होनेका भय न रहा । कितना सुन्दर लक्षण बन गया 'एक पंथ दो काम' तितिक्षाके लक्षणकी पूर्ति और आदर्श उपदेश दोनोंका समावेश एक छोटेसे वाक्यमें करके ब्रह्मसृष्टिके आदर्श पथको विशुद्ध बना दिया । अब यह कहनेकी गुंजायश न रही कि "हम तो खेल देखने आये हैं; हमें जगतके त्यागकी क्या जरूरत ?" अतः अब तो मान लेना पड़ेगा कि निवृत्ति–मार्गके जितनेभी साधन हैं वे सब स्वरूप भेदसे ब्रह्मसृष्टिद्वारा निर्दिष्ट मार्गके लियेही हैं ।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥

शास्त्र तथा गुरुके उपदेशको सत्यबुद्धिसे धारण करनेको; स-

तीत्यक्षरमविनाशीत्यर्थः । " क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः [श्वेता० १।१०] " इति "कूटस्थोऽक्षर उच्यते"

(प्रश्न)—प्रथम श्लोकमें परमात्माको अक्षर ब्रह्मसे पर बताया गया है और इस श्लोकमें अक्षरको परमात्माका अंग बताते हो तो अक्षर क्या वस्तु है ? विनाशी या अविनाशी ?

(उत्तर)—अक्षर परमात्माका अंग होनेंसे अविनाशी है। क्योंकि मायामय विनाशी पदार्थोंको क्षर और जिसका कभी नाश न हो उसे अक्षर कहते हैं यथा—" क्षरतीति क्षरं न क्षरं—अक्षरं "
(शङ्का)—यह तो आपने पदोंके अर्थसे अक्षरको अविनाशी बताया

टिप्पणी

ज्जन लोग श्रद्धा कहते हैं और इसीके द्वारा सद्वस्तुकी प्राप्ति होती है। यह पांचवीं सम्पत्ति कही जाती है।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥

सदाकाल विशुद्ध पर ब्रह्मस्वरूपमें सब प्रकारसे अपनी बुद्धिको स्थापित रखनेका नाम समाधान है। चित्तवृत्तिको यथेष्ट विषयोंमें जाने देनेको समाधान नहीं कहते। ये छठी सम्पत्ति हुई। ब्रह्म प्राप्तिकी इच्छावाला ऊपर लिखी छः सम्पत्तियोंको अवश्य धारण करे।

अहङ्कारादि देहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥

आत्म परात्म स्वरूपका यथार्थ ज्ञानहोनेके कारण अहंकारादि देह पर्यन्त मोह अज्ञानसे कल्पित बन्धनोंके छेदन करनेकी इच्छाको मुमुक्षुता कहते हैं। उपरोक्त " विवेक, विराग, छः संपत्ति और मुमुक्षुता "इस प्रकार लक्षण चतुष्टय सम्पन्न मनुष्य ब्रह्मज्ञानका अधिकारी होता है।

[गी० १५।१६] अक्षरं ब्रह्म परममित्यादि श्रुतिस्मृति प्रमाणैस्तदमृतत्त्वाभिधानात् । ननु तदंगत्त्वे किं प्रमाणमितिचेत्–उच्यते ।

और धातुबलसे पदोंके तो अनेक अर्थ हो सकते हैं । वर्णोंकोभी अक्षर कहते हैं । यथा—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म " और उनका नाशभी नहीं होता । (समाधान)–देखोजी ! लोकमें वर्णको अक्षर कहते हैं, यह बात सही है; किंतु यहां पर अक्षर शब्दसे ब्रह्मकाही ग्रहण होगा, ओंकार आदिका नहीं । महर्षि व्यासजीने उत्तरमीमांसाके * 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः [उ० मी० १।३।१०] इस सूत्रमें प्रकृति तथा ओंकार आदिका

टिप्पणी.

* इस सूत्रमें जो अक्षर शब्द आया है वह " एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! [बृ० ३।८।७] इस बृहदारण्यक श्रुति निर्दिष्ट अक्षर ब्रह्मके लियेही है, क्योंकि वही पृथिवीसे लेकर आकाश तक सब विकारोंको धारण किये है । " कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च ? " [बृ० ३।८।८।७] बृहदारण्यकोपनिषदमें गार्गी पूछती है कि " आकाश किसमें ओत प्रोत है ? " स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु इत्यादि [बृ० ३।८।८] याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि—' हे गार्गि ! जिसे तू पूछती है उसीको ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं । वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है । " एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च " अर्थः—हे गार्गि ! इसी अक्षरब्रह्ममें आकाश ओत प्रोत है "

(शङ्का)—' अक्षर समाम्नायः ' इत्यादि भाष्यमें अक्षर शब्द वर्णके लियेही प्रयुक्त हुआ है । लोकमें भी अक्षर शब्दसे वर्ण ग्रहण करनेकी प्रसिद्धि है । उपरोक्त महाभाष्य और लोक प्रसिद्धिका उल्लंघन करना ठीक नहीं; और 'ॐकार एवेदं सर्वं [छां० २।२३।३] ' यह सब ॐकारही है ' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति और " ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म " [ब्रह्मविद्योप० २] इत्यादि श्रुति वर्णकोही अक्षर प्रतिपादन करती हैं

" ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा इति " [२।५] तैत्तरीय श्रुत्या पक्षिरूपेण वर्णितस्य ब्रह्मणः पुच्छांगत्वेनाक्षरं प्रतिपादितमेवेति नच सावयवत्वाभ्युपगमे अनित्यत्त्वापत्तिरितिवाच्यं ब्रह्मणि सच्चिदानन्दमयावयवस्वीकारे क्षतिविहारादिति–अत्र पक्षिणः पुच्छस्य एकदेशावयवत्वाद

खंडन कर अक्षर शब्दसें ब्रह्मका ग्रहण किया है। श्रुतिमें भी अक्षरशब्द ब्रह्मके लियेही आया है। यथा—" क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मनावीशते देव एकः [श्वेता० अ० १। मं० १०] अर्थः–(प्रधानं) प्रकृति (क्षरं) नाशवान हैं (हरः) महाप्रलयमें सब समष्टि व्यष्टि जगतको संहार करनेवाला (अमृताक्षरं) अमृत–अविनाशी अक्षर है।

टिप्पणी.

और शब्द ब्रह्मकी उपासनाभी बतायी गयी है " इत्यादि पूर्व पक्षके समाधानकें लिये व्यासजी सूत्र पढ़ते हैं—" अक्षरमम्बरान्त धृतेः [उ० मी० १।३।१०] समस्त जगत–समष्टि व्यष्टि–अव्यक्ताकाश पर्यन्त परमात्माके अतिरिक्त अन्य ओंकारादि कोई धारण नहीं कर सकता अतः अक्षर शब्दसे ब्रह्मकाही ग्रहण करना चाहिये। यही बात गार्गीके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने भी कही है अतः अक्षर शब्दसे ब्रह्मकाही ग्रहण होगा। अगर कहो कि–कारणके आधीन कार्यके रहनेकोही यदि 'अम्बरान्तधृति आकाशान्तधारण—कहते हैं यह स्वीकार किया जावे तब तो प्रधान वादियोंके प्रधान (प्रकृति) में भी अम्बरान्तधृति उत्पन्न हो सकती है और अक्षरसे प्रकृतिकाभी ग्रहण होना चाहिये " इसके उत्तरमें व्यासजी दूसरा सूत्र पढ़ते हैं ' सा च प्रशासनात् [उ० मी० १।३।११] अर्थः—(सा) वह अम्बरान्तधृति अर्थात् अव्यक्ताकाशपर्यन्त धारण करना परमेश्वरकाही कर्म हो सकता है अन्य जड़ादि प्रकृतिका नहीं; क्योंकि श्रुतियोंमें शासन सुना गया है यथा—" एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः [बृ० ३।८।९] अर्थः—इसी अक्षरब्रह्मके प्रशासन–आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे स्थित रहते हैं " इत्यादि

क्षरस्य न्यूनत्वापत्तिः तथाहि सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदवयवाऽक्षरं तत्र पूर्णानन्दस्य लवानन्दोवर्तते ह्यतोऽक्षरस्यन्यूनत्वमिति सैषाऽऽनन्दस्य मीमान्सेत्यादि श्रुतेः। हि शब्दो हेतुसूचनार्थः। तत्राव्यक्तमिति हेतुः। न व्यज्यते येन तदव्यक्तं न्यूनानन्दत्वादिति भावः

(एकः) मुख्य (देवः) दिव्यस्वरूप अक्षरातीत (क्षरात्मानौ) क्षर-प्रकृति और अक्षरको (ईशते) अपने ऐश्वर्यसे नियममें रखता है। गीता [१५।१६-१७] में भी अक्षरको अविनाशी कहा है यथा—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

टिप्पणी.

श्रुति अक्षरकी आज्ञाका प्रतिपादन करती हैं अतः अक्षर शब्दसे अक्षर ब्रह्मकाही ग्रहण होगा, प्रकृति आदिका नहीं। भागवत तृतीयस्कन्धमें भी अक्षर शब्द ब्रह्मके लियेही आया है—

विकारैः स्सहितो युक्तै-र्विशेषादिभिरावृतः।
अण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत् कोटि विस्तृतः॥
दशोत्तराऽधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।
लक्ष्यन्तेऽन्तर्गन्ताश्चान्य कोटिशो ह्यण्डराशयः॥
तमाहुरक्षरं ब्रह्म सर्व कारण-कारणम्।

अर्थः—पृथिवी आदि आठ आवरणसे युक्त यह 'अंडकोश' पचाश कोटि योजनके विस्तारवाला है। आठ आवरण क्रमसे एक दूसरे से दश गुने अधिक हैं। जैसे प्रथम पृथिवीसे दशगुना अधिक जलका आवरण; जलसे दशगुना अधिक अग्निका अग्निसे वायुका और वायुसे आकाशादिका दशगुना अधिक समझना चाहिये। जो इस विराटके

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त इति गीतोक्तिश्चयत्रानुकूलेति यथा लोके बालकस्यानन्दाभिव्यक्तिर्न दृश्यते तथा तस्यापीत्यत्राव्यक्तविशेषणेन बोध्यमिति दिक्। पुनः कीदृशं तत् प्रकृतेः परम्। प्रकृति शब्देन मायोच्यते 'मायान्तु प्रकृतिंविद्यादिति' श्रुतेः 'माया परं भवेद्ब्रह्म

अर्थः—(लोके) लोकमें (इमौ) ये (द्वौ एव पुरुषौ) दोही पुरुष (च) प्रसिद्ध हैं (क्षरः) एक क्षर (च) और (अक्षर) दूसरा अक्षर (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (क्षरः) नाशवन्त हैं—

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥

टिप्पणी.

चारो ओर फिरे हुए अर्थात् मंडलाकार हैं। दश आवरणयुक्त इस विराटको अंडकोश कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्मके अन्तर्गत परमाणुके तुल्य है। ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी राशि अक्षर ब्रह्मके अन्तर्गत लक्षित होती है। सब कारणोंके कारणस्वरूप इसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं" इत्यादि स्मृतिभी अक्षर शब्दसे ब्रह्मकोही पुकारती है। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृ० ३।८।९) इत्यादि श्रुतिभी अक्षर ब्रह्मके शासनका उपदेश करती हुई इसे चेतन अविनाशी बताती है :।

अक्षरत्वेन प्रकृतिं ये वदन्ति विमोहिताः।
पुरुषत्वेन निर्दिष्टं कथं पश्यन्ति ते नहि॥
तस्मात्क्षरं विश्वमिदमक्षरं ब्रह्म केवलम् :

इत्यादि पुराणसंहिताके २३ अध्यायमें अक्षर शब्दसे प्रकृतिके ग्रहण करनेका निषेध भी किया है और श्रुतियोंमें पुरुषत्वेन उपदिष्ट अक्षर शब्दसे ब्रह्मके ग्रहण करनेकोही जोर दिया है अतः अक्षर शब्दसे अविनाशी ब्रह्मका ग्रहण करना उचित है।

तत्परं ब्रह्मकेवलमिति वचसूच्यामुक्तञ्च क्षरनाम्ना चेह प्रकृति रभिधीयते अत्राहुः श्वेताश्वतरीयाः 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर इति' तत्र प्रकृतेः–मायातः परमिति। यतः बालानां क्रीडनेनेव अनेके पाषण्डानां जनिरुत्पत्तिरिति। न चाक्षरमोंकारस्स्यादिति वाच्यं 'अक्षरमम्बरान्त धृतेः [ब्रह्म सू० १।३।१०] इति ब्रह्मसूत्रेणाक्षरस्य ब्रह्मत्वोक्तेः। ननु प्रधानाज्जगदुत्पत्तिर्भवतीति श्रूयते कथ-

"स्वप्नसृष्टिके समान उत्पत्ति विनाश धर्मवाले प्राणीमात्र समष्टि व्यष्टि जगत–सम्पूर्ण क्षर है [कूटस्थः] कूट–अचल स्थानमें स्थित (अक्षरः) अक्षर–अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है। (तु) परन्तु (उत्तमः+पुरुषः) सबसे पर पुरुष तो (अन्यः) अन्य है जो [परमात्मा–इति] परमात्मा–अक्षरातीत इस नामसे [उदाहृतः] कहा जाता है" इत्यादि प्रमाणोंसे अक्षरका अविनाशी होना सिद्ध है।

[प्रश्न]—मूल श्लोकमें अक्षरको परमात्माका अंग बताया है तो अक्षरको परमात्माका अंग होनेमें प्रमाण क्या है?

[उत्तर]—श्रुतिस्मृति प्रमाण हैं! श्रुति यथा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा [तैत्ति० उ० २।५] देखो, इस श्रुतिमें ब्रह्मका पुच्छ अंग वर्णन किया है अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्मको पक्षीरूपसे वर्णन करते हुए अक्षर ब्रह्मको पुच्छरूपसे वर्णन किया है "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः [मु० खं० २ मं० २] अर्थः—अप्राकृत दिव्यस्वरूप वह परमात्मा पुरुष बाह्य–अंग अक्षर और आभ्यन्तर अंग स्वामिनी आदि शक्ति सहित (अजः) अविनाशी है। इस श्रुतिमें भी अक्षरको बाह्य अंग वर्णन किया है अतः मानना चाहिये कि अक्षर भगवान परमात्माका अंग है। प्रश्न–अक्षर तथा अक्षरातीतमें

मक्षराज्जगदुत्पत्ति रुक्तेति न जडायाः प्रकृतेः विचित्रकार्य्यंप्रति स्वातंत्र्यम् ‘ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं ’ [ब्रह्म सू० २।२।१]

क्या भेद है ? (उत्तर)—अं गीअंगका भेद अथवा लीलामात्र भेद है, वास्तवमें एकही स्वरुप हैं ।

अक्षरः परमात्मा च पुरुषोत्तम संज्ञकः ।
उभावप्येक एवार्थो लीला भेदेन सुन्दरि ! ॥
"एकमेवाद्वयं ब्रह्म द्विधा लीला विभेदतः" ।

इत्यादि पुराणसंहिता तथा माहेश्वरतंत्रके देखनेसे पता चलता है कि अक्षर अक्षरातीतमें अंगी अंग भेद (१) अथवा लीलामात्र भेद

टिप्पणी

(१) सच्चिदानंद स्वरूप अक्षर ब्रह्ममें " सत्, चिद् और आनंद " इस प्रकार तीन अंशोंका समावेश है सदंश द्वारा विश्व रचना होती है, चिदंशसे अक्षर स्वयं प्रतिष्ठित है और आनंद अंश सच्चिदानंद स्वरूपके लिये है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है—

सदंश–विश्वरूपाय चिदंशाक्षररूपिणे ।
आनन्दांश–स्वरूपाय सच्चिदानन्दरूपिणे ॥

ब्रह्मधामके यावत्पदार्थ-त्रिवृत त्रिवृत धर्मवाले होनेसे सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी अनन्त स्वरूपवाले हैं । सच्चिदानन्द स्वरूप जो परमात्मा है उसके सद्धर्मसे अक्षर ब्रह्म है और आनन्द धर्मसे स्वामिनी आदि अनन्त शक्ति समुदाय है । चिद्धर्मसे स्वयं भोक्ता और नियामक अक्षरातीत परमात्मा है । पूर्णब्रह्मके सदंशसे जो अक्षर ब्रह्म है उसमें भी पुनः त्रिवृत है अर्थात् अक्षरके सदंशसे विश्वकी रचना होती है, चिदंशसे स्वयं अक्षर प्रतिष्ठित है और आनन्द अंश सच्चिदानन्द धर्मकी पूर्तिके लिये है—"आनन्दलव संसर्गात्सच्चिदानन्द मुच्यते (पु० संहिता)" आनन्द धर्मके होनेसे अक्षर सच्चिदानंद कहा जाता है परन्तु लवमात्र आनंदके कारण अक्षरातीतकी अपेक्षा न्यून्य है । उसी लवमात्र आनन्दसे आनंद सामिग्रीका आनंद लेता है

प्रवृत्तेश्चेत्युपक्रम्य प्रतिषेधाच्चासमंजसमित्यन्तै–र्ब्रह्मसूत्रैर्निराकृतत्वात्
किन्तु ब्रह्मैव जगदुत्पत्तिहेतुः 'तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्'। 'अहं-

—: भावार्थ :—

माना गया है वस्तुतः सच्चिदानन्दमय होनेसे दोनों एकही हैं। (शङ्का)—अक्षर तथा अक्षरातीत ब्रह्ममें अंगी अंग भाव माननेसे अवयवत्वापत्ति होगी अर्थात् परमात्मा सावयव हो जायगा और सावयव होनेसे अविनाशी न रहेगा। (समाधान) ब्रह्म सच्चिदानन्दमय होनेसे अवयवभी सच्चिदानन्दधर्म युक्त हैं अतः अनित्य होनेकी शङ्का व्यर्थ जैसी है। हां, पुच्छभागको एक देशावयवकी बताकर अक्षरमें न्यूनत्वापत्ति कह सकते हो, वह शास्त्र सम्मत होनेसे मान्य है। अर्थात् अक्षरमें आनन्द धर्म लवमात्र होनेसे अक्षरातीत ब्रह्मकी अपेक्षा न्यूनता है। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्ति० २।८) तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मको आनंदरूप पक्षीके रूपमें वर्णन करते हुए सब अवयवोंका प्रतिपादन किया है और "इस प्रकारसे आनंदकी मीमांसा समझना चाहिये" ऐसा उपदेश दिया है। गीतामें भी अक्षरके आनंदको न्यून बतानेके लिये अव्यक्त शब्दका प्रयोग किया है यथा—"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् (गी० ८।२१) जैसे लोकमें बालकोंका आनंद व्यक्त नहीं होता उसी प्रकार बाल स्वरूप अक्षरका आनंद व्यक्त नहीं होता; इसीसे यहां पर अक्षरको अव्यक्त कहा गया है "तदक्षरं च विज्ञेयं ज्ञानमात्रं च बालवत्" इत्यादि स्मृति भी अक्षरको बालस्वरूप वर्णन करती है।

यही बालस्वरूप अक्षर अपनी लीलामात्रसे एक निमेषमात्र कालमें अनेकों ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न कर लय किया करता है। प्रश्न—जगतकी उत्पत्ति अक्षरसे मानते हो या मायासे? (उत्तर)—अक्षर ब्रह्मसे। क्या

सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वंप्रवर्तते' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रतिपादितत्वाच्च नचाक्षरस्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वभावस्य तदुत्पादने किं प्रयोजनमि

—:भावार्थ:—

केवल प्रकृति जगतको नहीं बना सकती ? [उत्तर]–जी ! नहीं, प्रकृति जड़ होनेसे विचित्र विश्वकी रचना स्वतः नहीं कर सकती। उत्तरमीमांसामें व्यासजीने भी जगत उत्पत्तिका हेतु अक्षरको बताकर "रचनानुपपत्तेश्च * नानुमानं [उ० मी० २।२।१] इत्यादि सूत्रोंसे प्रकृतिद्वारा जगत–उत्पत्तिहोनेका खंडन किया है। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः [तै० उ० व० २। अ० १]' इसी अक्षर आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ "तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् [मुं० १।७]" उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है। " तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति (मु० द्वि० खं० १।१) जैसे प्रदीप्त अग्निसे

टिप्पणी.

* [पूर्वपक्ष]—परमाणु-वादको माननेवाले नैयायिक तथा आर्यसमाजी आदि बहुतसे लोग सृष्टिकी उत्पत्ति प्रत्येक तत्त्वके अथवा प्रकृति के परमाणुओंसे मानते हैं। इनका कहना है कि ब्रह्म सृष्टिका उपादान नहीं हो सकता। यदि ब्रह्मको जगतका–उपादान कारण मान लें तो ब्रह्मके चैतन्य आदि गुण जगतमें होने चाहिये; क्योंकि " कारण–गुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः [वैशेषिक अ० १ आ० १ सू० २४] उपादान कारणके सदृश कार्यमें गुण होते हैं, ऐसा वैशेषिक दर्शनमें लिखा है। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मसे असत् जड़, दुःखरूप जगत पैदा नहीं हो सकता अतः जगतकी उत्पत्ति प्रकृतिके परमाणुओंसे मानना ठीक है इत्यादि।

[उत्तर पक्ष]—इनका परमाणुवाद मानने योग्य है या नहीं आओ जरा इसकी परीक्षा करें। प्रथम इनसे पूछना चाहिये कि प्रकृतिके परमाणु साकार हैं या निराकार ? और रूपरहित हैं या स्वरूपवाले ? एवं नित्य हैं या अनित्य ? " यदि परमाणु निराकार हैं तब तो इनके

तिवाच्यं बाल्यक्रीडनवल्लीलैव प्रयोजनमवसेयम् । तथाच बादरायणोऽपि 'न प्रयोजनवत्त्वादिति' [ब्रह्म २।१।३२] सूत्रेण पूर्वपक्षं कृत्वा

—:भावार्थ:—

शहस्त्रों विस्फुलिंग (चिनगारी) उठा करते हैं उसी प्रकार अक्षरब्रह्मसे असंख्य जगत उत्पन्न होकर उसीमें लय पाते हैं । " अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ' (गी० १०।८) मैं ही सबका कारण हूं और मेरेसेही सम्पूर्ण प्रवृत होता है' इत्यादि श्रुतिस्मृति वचनभी अक्षरसेही जगतकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करते हैं अतः जगतकी उत्पत्ति अक्षरसेही मानना योग्य है । (शंका)—जैसे—जल, पृथिवी वृक्षादिकोंमें विचित्र रूपसे परिणमित हो अनेक रूप—पत्र, पुष्प, फल, कंटक; कटु मधुर, तिक्त, कषाय भेदसे अनंतरूप धारण करता है उसी प्रकार प्रकृति भी नानारूपसे परिणमित हो जगदाकार हो सकती है; ब्रह्मकी क्या आवश्यकता ? " (समाधान) देखो जी ! जलादिकोंके आभ्यन्तर भी परमात्माकी चेतन शक्ति विद्यमान् है " योऽपोऽन्तरोयमयत्येष त आत्मा-

---

टिप्पणी.

मतानुसार सृष्टि भी निराकार होनी चाहिये क्योंकि इनके मतमें उपादान कारणके गुण अवश्य कार्यमें आते हैं और यदि साकार कहें तो नित्य न रहेंगे क्योंकि इनके मतमें कोईभी साकार वस्तु नित्य नहीं हो सकती । दूसरी बात—जो परमाणु रूप, रस, गन्ध आदि गुणवाले हैं ऐसा मानें तो वे सृष्टि तो बना सकेंगे मगर नित्य न रह सकेंगें; क्योंकि इनके मतानुसार कोईभी रूपवाली वस्तु नित्य नहीं हो सकती । तीसरी बात—जो परमाणुओंको नित्य मानें तो नित्यवस्तु सदा सर्वदा एकरस रहती है उसमें परिवर्तन नहीं होता तब तो नित्य परमाणु परिवर्तनशील इस जगतकी रचना न कर सकेंगे और यदि उन्हें परिवर्तनशील मान लें तो जगतको तो उत्पन्न कर सकेंगे किन्तु इनके मतानुसार नित्य न रह सकेंगे और जगतकी भांति उनकाभी नाश हो जायगा । रूपरहित २ परमाणुका जोड़

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् इति (ब्रह्म २।१।३३) सूत्रेण लीला-मात्रमेव प्रयोजनमुक्तवानित्यवगन्तव्यं विद्वद्भिः ॥ २ ॥

—: भावार्थ :—

न्तर्याम्यमृतः (बृ० ३।७।४) 'जो जलके मध्य रहकर जलको नियमित रखता है वह अन्तर्यामी आत्मा अविनाशी है, इत्यादि परसे स्पष्ट होता है कि जलादि प्राकृत पदार्थोंकी प्रवृत्ति स्वतंत्र नहीं किंतु परमात्माके आधीन है।

"ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत!"

इत्यादि गीतामेंभी प्रकृतिको अस्वतंत्र बताया है। अतः मानना चाहिये कि जगत् अक्षरसे उत्पन्न होता है प्रकृति तो मात्र द्वेत है।

(प्रश्न)—नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अक्षरके जगत उत्पन्न करनेका प्रयोजन क्या है? (उत्तर)—लीलामात्र प्रयोजन है। जैसे बालकोंके या चक्रवर्ती महाराजाओंकी क्रीड़ामें लीलामात्र प्रयोजन होता है। "लोकवत्तु लीला कैवल्यम् [उ० मी० अ० २। पा० १ सू० ३३] इस व्यास सूत्रमें भी जगत् उत्पत्तिके प्रति ब्रह्मका लीलामात्र प्रयोजन बताया है।

टिप्पणी

(समुदाय) भी रूपरहित होना चाहिये, आकार रहित परमाणुसे बनी हुई पृथिवी भी निराकार होनी चाहिये; नित्य परमाणुसे बना जगत भी नित्य होना चाहिये मगर ऐसा देखा नहीं जाता अतः परमाणुवाद असंगत है और निम्नलिखित श्रुतिके विरुद्ध होनेसे आस्तिकवर्गके लिये त्याज्य है यथा—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

(मु० उ० खं० १ मं० ७)

मू०--न सन्नासन्नसदसन्नासीद्वै प्रकृतिः परा।
नाऽऽसीन्महानहङ्कारो न सत्त्वं न रजस्तमः ॥२

सू०—द्वाभ्यामक्षरातीतमक्षरं क्षरं च त्रिविध पदार्थानुदेशतो निरूप्येदानीं ब्रह्मांगनाऽऽगमनार्थे जगदुत्पत्तिबीजं निरूपयिष्यन् यदैतत् प्रकृति कार्य्यं नाभूत्तन्निरूपयति। न सदिति द्वाभ्याम्—तत्र सत्त्वं नाम कारणोपाधिरीश्वर इति यावत् असदित्यनेन व्याप्य-कार्य्योपाधिर्जीवो लभ्यते। सदसदित्यनेनोभयोर्जडचेतनाऽऽत्मिका-ग्रन्थिरुच्यते पराप्रकृतिर्मूलप्रकतिर्महान् महत्तत्त्वं, अहङ्कारोऽभि-मानोऽन्यत्सुगमम् ॥ २ ॥

भावार्थः—अब अक्षरातीत, अक्षर तथा क्षर तीनों पदार्थोंको नाम मात्रसे कहकर ब्रह्म प्रियोंके आनेके लिये ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका निरूपण करते हैं। जब यह प्रकृति कार्य कुछ भी न था, उस समयका वृत्तान्त कहते हैं, सुनो! जब सत्—ईश्वर और असत्—कार्य्योपाधि जीव नहीं थे। सत्‌असत अर्थात् जड़ चेतनकी ग्रन्थि नहीं थी। परा-मूल प्रकृति नहीं थी और न महत्तत्त्व हिरण्यगर्भ और अहंकार थे एवं सत्व, रज, तम ये गुण भी नहीं थे ॥ २ ॥

टिप्पणी.

— इस श्रुतिमें मकरी और उसके तारका, पृथिवी और उससे उत्पन्न औषधियोंका द्रष्टांत ब्रह्म तथा जगतके कारण कार्यकी विचित्रताका वोधक है। इसी प्रकार पुरुषके केश तथा बालोंका द्रष्टांत भी कारण कार्यकी विलक्षणताको बताता है। अर्थात् जब जगतके तुच्छ जीवोंमें ऐसी विलक्षणता पाई जाती है कि कारणका गुण कार्यमें विचित्र हो जाता है तब परमात्मा तो सर्वशक्तिमान है 'कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं' यह सब कुछ तो उसकेलिये लीलामात्र है; अतः मनुष्यबुद्धिसे श्रुतियोंका

मू०--न खं वायु-र्न तेजो वै नापो भूमिर्यदा ह्यभूत् ।
न चाण्डकल्पना जाता न जीवाश्चाण्डजातयः ॥४

गू०—नेति, खमाकाश आपो जलं, अण्ड शब्देनात्र अण्डज स्वेदजोद्भिज्जाः प्राणिनो गृह्यन्ते सुगममन्यत् ॥ ४ ॥ ॥

भावार्थ:—जब आकश, वायु, तेज और जल तथा भूमि नहीं थे, और न कोई अण्ड कल्पना थी एवं अण्डज पिण्डज स्वेदज उद्भिज्ज आदि कोई जीव भी नहीं थे तब क्या था, वह सुनो ! ॥ ४ ॥

टिप्पणी

खंडन कर ब्रह्म शक्तिके विषयमें बालकोंकेसे तर्क वितर्क करना उचित नहीं । परमात्मा अनन्त ऐश्वर्य और अपार शक्ति सम्पन्न होनेसे इस अनिर्वचनीय विश्वकी रचना लीला-मात्रसे करता है । इस बात पर विश्वास न होता हो तो नीचे लिखे वेद मंत्रोको एकान्तमें बैठकर मनन कीजिये सब तर्कोंका निर्मूल नाश हो जायगा—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्या-नारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
तस्मादश्वाऽजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽजावयः ॥

(यजु० अ० ३१। मं० ६-८)

अर्थः-(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सर्व श्रेष्ठ (यज्ञात्) पूजनीय प्रादुर्भूत पुरुषसे (पृषदाज्यम्) दधिमिश्रित घृत (सम्भृतम्) सम्पादित हुआ (वायव्यान्) वायव्यदेश प्रधान अथवा वायु देवतावाले "अन्तरिक्ष दैवत्याः खलु पशवः" इति श्रुतेः (पशून्) पशुओंको (चक्रे) उत्पन्न किया (आरण्याः) जंगलके (ग्राम्याः) ग्रामके (ये) जो पशु हैं (तान् च) तिनको भी उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

मू०--अक्षरश्चाक्षरातीतं दिदृक्षुर्याति नित्यदा ।
दिव्यब्रह्मपुरे धाम्नि दूराद्दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५

गू०—जगदुत्पत्तिकारणोत्थाने महाहेतुमाह—अक्षरश्चेति। नित्य दर्शनार्थगमनेनाक्षरस्योपास्यदेवोऽक्षरातीत इति लभ्यते, दृष्ट्वा नि-वृत्त्याऽन्तःपुरेऽप्रवेशोऽभिहितः। नच पुच्छरूपकल्पेनऽप्रवेशोऽसंभव इति वाच्यं पुच्छावयवस्यापि सर्वाङ्गेषु प्रवेशो नेति लोकसिद्धत्वात् ॥५

भावार्थः—अक्षर ब्रह्म पूर्ण ब्रह्म अक्षरातीत के दर्शनकी इच्छासे नित्यही दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् परम धाममें जाते हैं, और दूरसे दर्शन कर अपने धाममें सदाकाल लौट आते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी

अर्थः—(तस्मात्) उस पुरुषसे (अश्वाः अजायन्त) घोड़े उत्पन्न हुए (च) और (ये के) जो कोई घोड़ोंसे अतिरिक्त गधा आदि (उभयादतः) ऊपर नीचे दोनों तरफ दांतवाले हैं उत्पन्न हुए। (ह) प्रसिद्ध है कि [तस्मात्] उसी पुरुषसे (गावः) गौयें (जज्ञिरे) उत्पन्न हुईं (तस्मात्) उसीसे (अजा आवयः) बकरी भेड़ें (जाताः) उत्पन्न हुईं ॥ ८ ॥ देखो, इन वेदमंत्रोंमें परमाणुवाद अर्थात् उपादानके अनुसार कार्यके होनेको एकदम उड़ा दिया। यहां पर सांसारिक विषयोंके विरुद्ध परमात्माकी शक्तिका चमत्कार देखिए। यहां पर उपादान कारणके विरुद्ध गुण कार्य उत्पन्न होते हैं। सृष्टिक्रमके विरुद्ध रचना होती है। यहांपर कारणरूप चैतन्य आदि पुरुषसे जड़ दधि घृतरूप कार्य उत्पन्न होते हैं बिना माता पिताके घोड़े गधे; भेड़ बकरी; जंगली व्याघ्र सिंह तथा ग्रामीण पशु सूकर आदि बिना क्रम और बिना रज वीर्यके; चैतन्य पुरुषसे पंच-भौतिक शरीरयुक्त उत्पन्न होते हैं। यहां तर्क बुद्धिको तिलांजलि देना पड़ेगा जहां दूधका अभी ठिकाना नहीं है और घृत कूद पड़ा। क्रम देखने जाइये तो गायका संयोग बैलके साथ होनेके बाद दशमास पीछे

मू०--सचैकदा तु तं द्रष्टुं परमं धाम जग्मिवान् ।
ददर्श परमात्मानं किशोरं शक्ति-संयुतम् ॥ ६

गू०—सदाचारं निरूप्य गाथामवतारयति एकदावसरेत्विति-पादपूरणे । सच-सदंगाक्षरः शक्तयः सख्यः आनन्दाङ्गभूताः ताभि-

भावार्थः—एक समय अक्षर भगवान अक्षरातीतके दर्शनार्थ गये और शक्तिरूप सखीगणों सहित किशोर स्वरूप परमात्माको चकित

टिप्पणी.

बछरा उत्पन्न होवे जब दूध निकले और उसके बाद उसका दधि बनाया जावे तब कहीं मथानीके मथनेसे घीका दर्शन होता है, ऐसा क्रम है । किंतु यहां तो अभी गाय उत्पन्न नहीं हो पायी और पहलेही दही घी सब हाज़िर है, इस प्रकार यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें तथा अथर्वके१८ वें कांडमें जड़ चेतन यावत्पदार्थोंका आदि पुरुषसे उत्पन्न होना लिखा है ।

यदि यहां पर विचार बुद्धिका त्याग कर केवल शुष्क तर्कसे काम लेने लगें तो दूसरेको समझाना तो दूर रहा अपनी आत्माकोही किसी विचार केन्द्र (Centre) तक नहीं पहुंचा सकते । यदि हमें आप्त-उपदेश वेद शास्त्रानुसार मानना हैं तो सबसे प्रथम शुष्क तर्कवादको नीलाम पर चढ़ा कर विना मूल्य वेच देना चाहिये । यदि हम तर्क करने लगें कि पुरुषसे घोड़ा गधा, भेड़ बकरी, दही घी, सूकर श्वान, सिंह व्याघ्र, पैदा होना एकदम असम्भव और नई बात है । पैदा करना तो मादा (स्त्री) का काम है, फिर पुरुष तो नर है, उसने उत्पन्न कैसे किया ? अश्ववीर्य और अश्वक्षेत्रके विना घोड़ा उत्पन्न होही नहीं सकता ! इस प्रकारकी तर्कोंका कभी अन्त नहीं आ सकता अतः मनुजी (मनु०२।११) लिखते हैं कि—

" योऽवमन्येत ते मूले हेतु-शास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
सः साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ "

र्युतं ददर्शेत्यत्र शक्तिसहितस्य पूर्णब्रह्मणस्सकृद्दर्शनमेव बीजं । तथाहि यजुर्मंत्रः " तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शत-

—: भावार्थ :—

हो देखने लगे । बस, अक्षरका शक्तिसहित परमात्माको वह देखनाही जगत् उत्पत्तिका कारणरूप हो गया । " तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र

टिप्पणी.

अर्थः—तर्कका आश्रय लेकर जो कोई वेद शास्त्रको अमान्य बतावे उसे वेद निन्दक नास्तिक समझ उसका बहिष्कार कर देना चाहिये । "तर्काऽप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति (उ० मी० २।१।११) इत्यादि ब्रह्मसूत्र में व्यासजीनेभी तर्कको अप्रतिष्ठित बताया है अतः वेद शास्त्र विरुद्ध तर्क मात्रसे न तो किसी सिद्धान्तको स्थापित किया जा सकता है और न वह सर्वथा मान्य हो सकता है; अत एव " एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै० उ० व० २।१) 'तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मु० अ० १।७) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी० १०।८) इत्यादि श्रुति स्मृति प्रतिपादित अक्षरसेही जगतकी उत्पत्ति मानना ठीक है । यद्यपि सांख्यवादी प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति मानते हैं किंतु इनके मतको " ईक्षतेर्नाशब्दम् (उ० मी० अ० पा० १ सू० ५) रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम (उ० मी० २।२।१) 'प्रवृत्तेश्च (उ० मी० अ० २ पा० २ सू० २) इत्यादि ब्रह्म सूत्रोंसे व्यासजी द्वारा खंडन किया जा चुका है और " तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय [छा० ६।२ ३] उसने ईक्षण किया कि मैं प्रजा उत्पन्न करनेको बहुत होऊं । स इमाँल्लोनसृजत [ऐत० १।१।१] [सः] उसने (इमान्) इन सब (लोकान्) लोकोंको (असृजत) उत्पन्न किया । स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजत [प्रश्न उ० ६।३] उसने ईक्षण किया, उसने प्राणकी रचना की ' इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें ईक्षण करनेका उल्लेख है तथा पुरुषद्वारा सृष्टिकी रचनाका प्रतिपादन होनेसे प्रधानवाद शास्त्रसम्मत नहीं हो सकता, एवं " आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा" (ऐत० १।१।१) इत्यादि श्रुति सृष्टिके आदिकालमें एक ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यके होनेका निषेध भी करती है, अतः ' यह सांख्यवाद मानने योग्य नहीं ।

मिति " अस्यार्थः—तत् चष्टे पश्यति शक्तियुत परमात्मानं यत् तदक्षरं ब्रह्म चक्षुः। देवहितं देवस्याक्षरातीतस्य हितमभिहितं पुरस्ता-

—: भावार्थ :—

मुच्चरत् पश्येम शरदः शतम् (यजु अ० ३६ मं० २४) अर्थः-(तत्) उस शक्ति सहित परमात्माको (चक्षुः) अक्षर ब्रह्मका वह देखना (पुरस्तात्) जो पहलेसेही (देवहितं) दिव्यस्वरूप अक्षरातीत परमात्माको अभिमत था—उस (शुक्रम्) बीजभूत*मनोरथको (उच्चरत्) उत्पन्न करता भया कि (शरदः शतम्) सैकड़ों वर्ष पर्यन्त (पश्येम)

टिप्पणी.

ब्रह्मधामकी लीला ब्रह्मानन्द रसमय होनेसे शब्दद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता और शब्दद्वारा वर्णन करें तो पञ्चभौतिक जगतकी घटना जैसी प्रतीत होती है क्यों कि वर्णन करनेवाले शब्द तो इस नश्वर जगतके हैं ये उसे कैसे वर्णन कर सकें—

ये जुबां मेरी इन जिमीकी इसी जिमीकी अकल ।
धाम धनी सुख वर्णन करना चाहे असल ॥

अतः इस विषयमें शास्त्रोंने मौन जैसा धारण कर लिया है परन्तु फिरभी जगतके जीवोंके कल्याणार्थ जो कुछ संकेत और वर्णन शास्त्रोंने किया है वह एक मात्र समझने और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये है। अक्षर ब्रह्म जिसे कूटस्थ कहते हैं वह नित्यही पूर्ण ब्रह्मके दर्शनार्थ ब्रह्मधाममें जाते हैं सही मगर प्रेमकी पूर्णता होनेसे दिलमें किसी प्रकारका संकल्प विकल्प उत्पन्न नहीं हो पाता—

" कूटस्थ एव तद्धाम्नि कृष्णदर्शन लालसः ।
नित्यं प्रयाति परमः प्रेमपूरित मानसः ॥ "

इस बातका संकेत पुराणसंहिताके इस श्लोकमें आया है। ब्रह्मधाममें अक्षरके जाने पर संकल्प विकल्प न होनेका कारण यह है कि—

चक्षुकं वीजमुच्चरदुद्भूतमित्यर्थः । अनन्तरं ब्रह्मसृष्ट्योऽपीच्छन् शरदःशतं वयमपि—अक्षरं पश्येमेत्यर्थः । अत्रापि शक्तिभिर्द्वैतमिति न

—: भावार्थ :—

हम अक्षरातीत परमात्माकी किशोर लीलाको देखें । " चष्टे पश्यति कर्मा " [निरुक्त ३।११] इस निरुक्तस्थ 'चक्षिङ्' धातुसे वैदिक 'चक्षु' शब्द बनता है जिसका अर्थ देखना या द्रष्टा होता है । तदनन्तर सखियों (शक्तियों) को भी इच्छा हुई कि हम लोग भी अक्षरको सैंकड़ों वर्षतक देखें, देखते हुए सैंकड़ों वर्ष तक जीवें और सैकड़ों वर्ष तक अच्छी २ वाणी बोलें इत्यादि । प्रश्न–मूल

टिप्पणी.

" प्रविष्टमात्र पुरुषः कूटस्थो ब्रह्मधाम्नि वै ।
आनन्दावरण–व्याप्तश्चित्प्रकाशोऽधितिष्ठति ॥ "

परमधाममें प्रवेश होतेही आनंद आवरणसे व्याप्त चिद्घन परमात्मा का प्रकाश एकदम अक्षरको आच्छादित कर लेता है अर्थात् ब्रह्मानंदका एक अलौकिक आवरण जैसा पड़जाता है कि जिससे अक्षरके हृदयमें किसी प्रकारकी इच्छाही नहीं हो पाती । क्योंकि वहांकी चिंतामणिमयी सत्य संकल्प भूमिका है । वहां यदि संकल्प होवे तो तत्काल उसकी पूर्ति होनी चाहिये अथवा यों समझिये कि पूर्णात्पूर्ण चिद्घन श्री राजजीके आनंदधाममें संकल्पको अवकाशही कहां ? इस प्रकार नित्यधामकी लीला अनादि कालसे चली आती है ।

विप्रलम्भोन्मुखतया प्रवृत्तस्तु यदा रसः ।
तदैकदाऽक्षरो द्रष्टुं जगाम पुरुषोत्तमम् ॥

ब्रह्म रसरूप है और रस ब्रह्मस्वरूप है " रसो वै सः 'ब्रह्म वै रसः " इत्यादि श्रुति ब्रह्मके रसस्वरूपका उल्लेख करती हैं । एक समय रस स्वरूप ब्रह्मने विप्रलम्भलीला–रसास्वादको अपने विचारमें लिया कि दर्शनार्थ

शंक्यम् 'आत्मनि चैवं विचित्राश्चहीति' ब्रह्मसूत्रेण परमात्मनि शक्तीनामपार्थक्यकथनात् । किशोरमिति । ननु किशोरत्व विशेषणेनाऽवस्था निश्चीयते कथं ब्रह्मण्यवस्था स्यादिति चेन्न ' युवास्यात्साधु ' इत्यादि 'किशोराकृतिरच्युतः' इति श्रुति स्मृतिभ्यां तदवस्थेतिनिरूप-

—: भावार्थ :—

श्लोकमें " परमात्माके किशोर स्वरूपको अक्षर नें देखा " ऐसा लिखा है । किशोर स्वरूप कहनेसे अवस्था ज्ञात होती है तो ब्रह्मकी अवस्था कैसे मानी जावे ? यदि किशोर अवस्थावाला ब्रह्मको मानें तो नित्यत्त्व धर्मका नाश हो जायगा क्योंकि अवस्थावाले यावत्पदार्थ हैं वे सब नाशवान देखे जाते हैं । उत्तर—देखोजी ! हम लोगोंकी-सी उसकी अवस्था नहीं, वह तो सदा एकरस पूर्ण है, अतः दोष नहीं । श्रुति भी ब्रह्मकी अवस्थाका प्रतिपादन करती है यथा—" युवा स्यात्साधु (तै० उ० व० २।८) युवा—अर्थात् किशोर स्वरूप परमात्मा है । ' किशोराकृति रच्युतः " इस स्मृतिनेंभी ब्रह्मको किशोराकृति बतलाया है अतः किशोरावस्था मानना योग्य हैं । वस्तुतः किशोर स्वरूप कहनेंका आशय यह है कि ब्रह्म पूर्ण आनन्दघन होनेसे सदाकाल युवा हैं । यदि आनन्दधर्म न्यून होवे तो बाल्य और क्षीण होवे तो वृद्धापन आदि का भय हो सकता है मगर जब वह ' पूर्णात्पूर्ण ' है तब ह्रास वृद्धिकी

टिप्पणी

आए हुए अक्षरके मनमेंभी अभिलाष उत्पन्न होने लगा " अक्षर मन उपजी ये आश, देखौं धनीको प्रेमविलास " कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मधामकी लीला सर्वथा विलक्षण है । ब्रह्मके अन्तर्गत विचार होतेही विप्रलम्भ लीलाका बीजभूत अभिलाष अक्षरके अन्तर्गतभी प्रगट होने लगा । इसी कारणका उल्लेख "तच्चक्षुर्देव हितं" इस वेदमंत्रमें संकेतरूपसे किया है ।

णाच्च दोषः परन्तु तत्त्वतः पूर्णानन्दादिधर्म्मकत्वमेव लभ्यते किञ्च-
न्यूनानन्दस्यासत्त्वाच्च बाल्यत्वं ब्रह्मणोऽक्षीणानन्दत्वाच्च न वृद्धत्वं,

—: भावार्थ :—

शंकाही व्यर्थ है । प्रश्न—यदि ब्रह्मको किशोर स्वरूप मानोगे तो उसके पूर्व बाल्य और पश्चात् वृद्धापन अवश्य मानना पड़ेगा क्योंकि बिना बाल्यके किशोरावस्था प्राप्त नहीं होती । उत्तर—देखो जी ! जब वह निर्विकार तथा एकरस है तब वृद्धापन नहीं हो सकता और अजन्मा अनादि होनेसें जन्म, बालत्व आदि दोष भी नहीं हो सकते । सदा एक रस पूर्णानन्द होनेसे युवा या किशोर स्वरूप कहनेमें भी कुछ हानि प्रतीत नहीं होती ।

नीचेंलीखी श्रुति भी उसे पूर्णात्पूर्ण प्रतिपादन करती है यथा—" पूर्ण-मिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते (ईशावास्योपनिषद) देखो ! यह श्रुति ' पूर्णात्पूर्ण ' पूर्णसेभी पूर्ण ब्रह्मको बताती है । " अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान्वशी " अर्थः—(अन्यूनः) ह्रास रहित [च] और (अवृद्धिः) बृद्धिरहित [स्वाधीनः] सर्वतंत्र स्वतंत्र [अनादिमान्] आदि अन्त रहित अविनाशी (वशी) सबको नियममें रखनेवाला परमात्मा है । देखो ! इस स्मृतिमें भी ह्रास वृद्धि रहित परमात्माको सदाकाल एकरस बताया है अतः ब्रह्ममें बाल्य वृद्धत्व आदि दोष नहीं माने जा सकते ।

शंका—आप लोग ब्रह्मको साकार मानते हो और साकार पदार्थ सावयव होनेसे अनित्य होता है । समाधान–देखो जी ! हम ब्रह्मका पञ्चभौतिक शरीर नहीं मानते किन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप (१) दिव्य

टिप्पणी.

(१) ब्रह्मको सभी वेद शास्त्रोंने अविनाशी और सच्चिदानंद स्वरूप माना है। जब ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है तो उसके हस्त पादादि भी

सर्वदैकरसत्वेन पूर्णानन्दत्वात्किशोरत्वप्रतिपादनमेव युक्तं, अतएव 'अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान्वशीति' स्मृतिशास्त्रानु-

—: भावार्थ :—

कलेवर मानते हैं अर्थात् सत्—चिद्—आनंदघन, हस्त पादादि मानते हैं जो अविनाशी सच्चिदानंद धर्मयुक्त ब्रह्मस्वरूप होनेसे नाशवान नहीं कहे जा सकते।

शङ्का—" निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् (श्वे० ६।१९) इत्यादि श्रुति ब्रह्मको निष्कल, निष्क्रिय, निराकार प्रतिपादन करती है और आप उसे शुद्ध साकार बताते हैं तो परस्पर श्रुति विरुद्ध आपका सिद्धान्त कैसे माना जाय ? । समाधान—देखो जी ! पारिभाषिक ज्ञान तथा व्यापक बुद्धि न होनेसे विरोध मालूम पड़ता है, वास्तवमें विरोध नहीं। जहां पर ब्रह्मको निराकार, अकाय, अशरीर, अरूप,

---

टिप्पणी

अवश्य होगें। हस्त पादादि शब्दसे किसीको अनित्य नाशवान होनेका सन्देह न होने लगे अतएव श्रुति स्मृतियोंने ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय पहलेसेही कर दिया है। यथा—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादान रहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

(महावाराह०)

अर्थः—उस परमात्माके सब देह अर्थात् हस्त, पाद, नेत्रादि किंवा धाम, महल, मंदिर गृह शय्या आदि कैसे हैं—'शाश्वताः'—अविनाशी जिनका कभी नाश नहीं होता। पुनः कैसे हैं-हानोपादान रहिताः अर्थात् जिनमें कभी विकार पैदा नहीं होता और उपादान कारणसे रहित हैं। कहनेका मतलब-अनादि होनेके कारण ब्रह्मके शरीरका कोई उपादान कारण नहीं अर्थात् अजन्मा है। कदाच किसीके मनमें शङ्का न होने

कूलेति । अन्यूनशब्देन बाल्यानन्दादिरहितः । यस्य च बाल्यानन्दः स बालस्तदभावात्किशोरः; नचास्मदादिवद् बाल्यावस्थामनुभूय

—: भावार्थ :—

निरवयव आदि शब्दोंसे निर्देश किया है, वहां पर प्राकृत पंचभौतिक विनाशी स्वरूप तथा अवयवोंका निषेध किया है, सच्चिदानन्दस्वरूप दिव्य कलेवरका नहीं। यदि ब्रह्मके स्वरूपका अभाव होता तो निम्नलिखित श्रुतियाँ ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन कदापि न करतीं। जैसे कि "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् (मु० ३ खं०१मं०३)"

टिप्पणी.

लगे कि ब्रह्मके अंगतो हमारे जैसे हो गये! अतः लिखा है 'नैव प्रकृतिजाः क्वचित्' परमात्माके दिव्यस्वरूपमें कोईभी अङ्ग प्राकृत जैसे परिवर्तनशील नहीं किंतु सदा एकरस अविनाशी हैं। पाद्मसंहितामें भी सच्चिदानंदमय ब्रह्मके कलेवरका उल्लेख है—

हेयोपादेय-रहितं सच्चिदानन्द—विग्रहम् ।
प्रमाणैरपरिच्छेद्यं यतः संविन्मयं महान् ॥

नाशवन्त उपादान रहित, परमात्माके सच्चिदानन्द कलेवरको प्रमाण नहीं वर्णन कर सकते; वह तो अनुभव द्वारा परा विद्यैक-गम्य है। दूसरी स्मृतियोंमें भी ब्रह्मको शुद्ध साकार प्रतिपादन किया है यथा—

" निर्दोषपूर्णगुण आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकर-पादमुखोदरादिः सर्वत्र स्वगतभेद विवर्जिताऽऽत्मा ॥ "

इत्यादि शतशः स्मृति ब्रह्मके कलेवरको अचेतनात्मक शरीर जन्य दोषोंसे रहित आनन्दस्वरूप प्रतिपादन करती हुई ब्रह्मके हस्त, पाद, मुख उदर आदि प्रत्येक अवयव आनन्दसे परिपूर्ण हैं, इस प्रकारका वर्णन करतीं हैं। श्रुतिभी ब्रह्मके पृथक् २ अवयवोंको निरूपण करती है यथा— "अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा " इत्यादि परसेभी परमात्माके पुरुषाकार होनेका स्पष्ट वर्णन मिलता है अतः ब्रह्मको सच्चिदानंद आकार युक्त माननाही उचित है।

किशोरत्वं प्राप्त इति वाच्यं तस्य सर्वदैकरसत्वादविकारित्वाच्च। ननु किशोरत्वेऽपि वृद्धस्स्यादितिचेत्तत्राह अवृद्धि रिति। कुत एकरसत्वमत्राह स्वाधीनोऽनादिमान्वशी इति ॥ ६ ॥

—: भावार्थ :—

अर्थः—(यदा) जब (पश्यः) दिव्य दृष्टिवाला ज्ञानी पुरुष (रुक्मवर्णं) सुवर्णके सदृश गौर वर्णयुक्त (कर्तारं) सर्व नित्यन्ता (ब्रह्मयोनिं) ब्रह्म जो अक्षर तिसकाभी कारणस्वरूप (ईशं) स्वामी (पुरुषं) पुरुषस्वरूप जो परमात्मा है उसे (पश्यते) देखता है। " आनंदरूपममृतं यद्विभाति (मु० खं० २ मं० ७)" अर्थः—(यद्) जो ब्रह्म [अमृतम्] जन्म मरण रहित अविनाशी [आनंदरूपं] आनंदस्वरूप (विभाति) प्रकाशित हो रहा है। "यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनः एवैवं वा अरे! अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" * 'आनन्दघन एव' [बृ० ४।५।१३] अर्थः–[यथा सैन्धवघनः] जैसे सैन्धव लवण–सेंधा नमक, (अनन्तरोऽबाह्यः) बाहर भीतर रहित [कृत्स्नः] सम्पूर्ण (रसघनः) लवणमूर्ति रसही रस रहता है (एवं वा अरे) अरे! मैत्रेयि! उसी प्रकार [अयमात्मा] यह परमात्मा (अनन्तरः) अन्तर रहित (अबाह्यः) बाह्यरहित [कृत्स्नः] सब ओर (प्रज्ञान घनः एव) प्रज्ञानघनही है अर्थात् आनन्द–मूर्त है। इत्यादि श्रुति स्पष्टरूपसे ब्रह्मके आनन्द–स्वरूपका प्रतिपादन करती हैं. जैसे–लवण रसरूप और मूर्तिरूप दो प्रकार उपलब्ध होता है, उसी प्रकार परमात्मा चिदानन्द घन रूपसे अपनी सच्चिदानन्दमयी लीलाका भोक्ता है अत एव श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मका सच्चिदानन्द कलेवर मान लेनाही उचित है।

टिप्पणी

* प्रज्ञानघनका अर्थ आनंदमूर्ति है और जिसमें लगा हुआ 'घन' शब्द मूर्तिका बोधक है, जिसका अर्थ 'ठोस' होता है। जैसे–लोकमें कोई

पुनस्तिरोहिता लीला दृष्टिमार्गाद्बहिष्कृता।
तामक्षरो नमस्कृत्य प्रागाद्धाम निजदिशम् ॥ ७

गू०—पुनरिति। दृष्टिमार्गाद्दूरी कृतत्वात् तिरोहितेत्युक्तं अन्यथाऽखण्डलीलायास्तिरोधानाऽसम्भवात् ॥ ७ ॥

भावार्थः—तदनन्तर सखियों सहित अक्षरातीतकी ब्रह्मलीला जिसको अक्षरने देखा था—तिरोहित हो गई, अर्थात् अक्षरके दृष्टिमार्गसे अथवा आंखोंसे दूर हुई, तब अक्षर भगवानजीने उस दिशाको नमस्कार कर अपने स्थानको गमन किया अर्थात् अपने अक्षर धामको पीछे लौट गये ॥ ७ ॥

टिप्पणी

चीज एकही धातुसे गढ़कर छिद्र अथवा पोल रहित बनाई जाती है उसे लोग ठोस कहते हैं। 'अमुक आभूषण ठोस चाँदीका है, अमुक कड़े ठोस सोनेके हैं, इत्यादि। लोकमें एकही धातुका बोध करानेके लिये जैसे ठोस शब्दका प्रयोग होता है इसीप्रकार शास्त्रमें ठोस वस्तुके बोधकेलिये 'घन' शब्दका प्रयोग किया जाता है। शास्त्रमें जब किसी वस्तुकी कठिन अवस्थाको कहना होता है तब "मूर्तौघनः [अ० ३।३।७७] इस पाणिनीय सूत्रसे 'अप् प्रत्ययान्त घन आदेश' हो जाता है जिसका अर्थ काठिन्य बोधक मूर्ति माना गया है। अगर कहो कि यह सूत्र तो उसी दशामें प्राप्त हो सकता है जब कि कोई द्रवित पदार्थ काठिन्य भावको प्राप्त होवे। इसी अभिप्रायको लेकर इस सूत्र पर प्रश्न किया गया है कि "कथं सैन्धवघन-मानय इति" सेंधालवण तो प्रथमसेही कठिन होता है तो उसके लिये घन शब्दका प्रयोग कैसे होगा? इसके उत्तरमें कौमुदीकार लिखते हैं कि 'अत्र धर्म शब्दे धर्मी लक्ष्यते" अर्थात् यहां पर काठिन्य धर्मसे धर्मी अभिप्रेत है अतः कोई दोष नहीं हो

तद्दिनाद्दर्शनापेक्षश्चकमे वैभवं प्रभोः ।
द्रष्टुमाकृष्टचित्तोऽसौ तताप परमं तपः ॥ ८

गू०—तद्दिनादिति । चकमे इयेष 'स ईक्षाञ्चक्रे' सोऽकामयत बहुस्यामित्यादि श्रुतयस्तदिच्छां प्रतिपादयन्ति । सोऽक्षरः प्रभोर्लीलै-

भावार्थः—उस दिनसे अक्षरब्रह्म अक्षरातीत परमात्माके वैभवको देखनेकी इच्छासे आकृष्ट चित्त हो परम तप करने लगे । "सोऽकामयत बहु स्याम् [तै० २।६] "उसने कामना की, कि मैं परमात्माकी लीला देखनेमें बहुत प्रकारसे समर्थ होऊं" इत्यादि श्रुति अक्षरके अभिलाषकी प्रबलताका संकेत करती हैं । प्रश्न—ब्रह्मने जगत बनानेकी इच्छासे बहुत रूप होनेकी कामनी की, ऐसा अर्थ सुना जाता है और आप "परमात्माकी लीला देखनेंकी कामना की" ऐसा अर्थ करते हो तब तो अर्थमें विरोध होगा, अतः कौनसा अर्थ सत्य माना जावे ? (उत्तर)—दोनों सत्य मानें जावें । देखो जी! विचार पूर्वक देखा जावे तो बिल्कुल विरोध नहीं पड़ता । जैसा चाहिये वैसा अर्थ करनेसे कभी विरोध नहीं हो सकता । छान्दोग्योपनिषद्में "तदैक्षत बहु स्यां

टिप्पणी.

सकता । इसी प्रकार आनन्दघन शब्दका अर्थ समझना । हालां कि पर-परमात्मा अनादि हैं उसे पीछेसे किसीने आनन्दमूर्ति बनाया नहीं; परन्तु फिर भी मनुष्यबुद्धिके सुलभ बोधार्थ यहां पर ब्रह्मको आनन्दमूर्ति बतानेके लिये आनन्दके साथ घनशब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् ब्रह्ममें प्रकृतिका अभाव होनेसे ब्रह्मका संपूर्ण कलेवर चिदानन्दमूर्ति है, यह बताया है । घन शब्दसे श्रुतिको यही अभिप्रेत है कि आनन्द शब्दसे कदाच कोई केवल आनन्द धर्म न समझ बैठे अतः ब्रह्मस्वरूप के स्पष्टार्थ श्रुतिने यहां पर घन शब्दका प्रयोग किया है ।

स्वर्ध दर्शनार्थ-मैच्छदहमपि बहुः स्यामिति-एतेन प्रभोर्लीला-दर्शनेनाऽऽत्मनो बहुत्वं मन्यते--इति ध्वन्यते तथाहि "लीला-

—: भावार्थ :—

प्रजायेय [छा० ६।२।३] इत्यादि सृष्टि रचनाके प्रकरणमें आई हुई श्रुति सृष्टिके लिये बहुत रूप होनेको कहती है और तैत्तिरीय श्रुति "ब्रह्मलीलाके देखनेमें बहुत प्रकारसे समर्थ होऊं इस प्रकार तप किया" ऐसा वर्णन करती है। दोनोंका विषय भिन्न होनेसे अर्थमें विरोध मानना उचित नहीं। क्योंकि "सोऽकामयत बहु स्याम्" इसी श्रुतिके नीचे "स तपोऽतप्यत (तै० २।६)" 'उसने तप किया' इस प्रकार श्रुति है। तप हमेशा किसी अलभ्य पदार्थ अथवा दुर्लभ मनोरथके लियेही किया जाता है; तुच्छ कार्यके लिये नहीं। भागवतके तृतीय स्कन्धमें लिखा है—"लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः" जिस अक्षर ब्रह्मके अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्ड परमाणु जैसे प्रतीत होते हैं। "तमाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारण-कारणम्" सब कारणोंके कारण—मूलस्वरूप उसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं। अब विचार कीजिये कि—जिसके अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्ड परमाणु जैसे प्रतीत होते हों और जो इच्छा मात्रसे करोड़ों जगत उत्पन्न कर नाश करता हो वह सृष्टिरचनाके लिये तप करे यह असम्भव है अतः परमात्माकी दुर्लभ (१) लीला देखनेके लियेही 'तप करना' हो सकता है।

टिप्पणी.

(१) अक्षर ब्रह्मके तप करनेका गर्भित आशय यह है कि जैसे—लोकमें गान विद्या या तो कविताके यथार्थ स्वरूपको न समझने-वाले मनुष्योंको, गायन अथवा कविताके विषयमें शून्य—हृदय माना जाता है अर्थात् उनके अन्तःकरणमें गायन तथा कवितासे किसी प्रकारका विशेष-आनन्द अभिव्यक्त नहीं होता अतः हृदय शून्य

रहस्यमतुलं कथं दृश्ये ऽहमातुरः । दृश्ये ऽहमपि चेत्कृष्णो ऽनुगृह्णं कुरुते मयि " इति स्मृत्या स तपो ऽतप्यतेत्युक्तिः संगच्छते ॥ ८ ॥

—: भावार्थ :—

शंका—"यस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादि श्रुति ब्रह्मके ज्ञानकोही तप बताती है और आप अन्य प्रकारसे अर्थ करते हो। समाधान—देखो जी ! यहांपर तपका अर्थ ज्ञान मानना ठीक नहीं क्योंकि वह तो नित्य ज्ञाता, सर्वान्तर्यामी, और सर्वज्ञ है; उसकेलिये कुछ भी अज्ञात नहीं तो क्या ज्ञानरूप तप सृष्टिके पूर्व न था जो सृष्टिके समय उत्पन्न हुआ ? कदाच जगतकी रचना विचित्र होनेसे तपरूप-ज्ञानकी आवश्यकता कहो तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि विश्वकी विचित्र रचना हमारे लिये कठिन है उसका तो सदैव करतल मात्र है। [प्रश्न]—तपका अर्थ क्या होता है ? [उत्तर]—मन तथा इन्द्रियोंकी एकाग्रताको तप कहते हैं। जैसा कि मनुजीने लिखा है "मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" मन तथा इन्द्रियोंकी एकाग्रताको परम तप कहते हैं।

टिप्पणी

किंवा अन्तःकरण शून्य कहे जाते हैं; परन्तु वास्तवमें अन्तःकरण शून्य नहीं होते किंतु अन्तःकरण युक्तही होते हैं। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म बाल स्वरूप होनेसे ब्रह्मानन्दलीला-रसके अनुभवमें अन्तःकरण शून्य जैसे रह जाते हैं अर्थात् लवमात्र आनंद होनेके कारण उसमें आनंदकी पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं हो पाती इसीलिये—स्वामी श्री प्राणनाथजी कहते हैं कि अक्षर ब्रह्मको ब्रह्मलीलाकी खबर नहीं है—

" अक्षरातीतके महलमें; प्रेम इसक वरतत ।
सो सुध अक्षरको नहीं; जो किन विध केलि करत ॥ "

किसी पदार्थके स्वरूपको यथार्थ समझनेके लिये अन्तःकरणकी वृत्तिही समर्थ होती है। यदि हम किसी विषयको पूर्णतया नहीं समझ

स तपोऽतप्यतेत्यादि श्रुतिभिश्चोपदिश्यते।
कालान्तरात्प्रसन्नात्मा दयालुः पुरुषोत्तमः ॥ ९

गू०—तपसाचरणे श्रुत्युक्तिं दर्शयति स इति । एकान्तचित्तेन तल्लीलास्मरणं तपः "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति मनुवचनात् ॥ ९ ॥

भावार्थः—'स तपोऽतप्यत" उसने तप किया, इत्यादि श्रुति उपदिष्ट अक्षरब्रह्मके तपसे दयालु अक्षरातीत परमात्मा कुछ समयमें प्रसन्न आत्मा होते भये ॥ ९ ॥

टिप्पणी.

पाते तो हमारे अन्दर उसके समझनेकी वृत्तिका अभाव है, ऐसा समझना चाहिये । यदि किसी पुरुषमें काम वासना उत्पन्न न होवे तो लोग उसे नपुंसक कहने लगते हैं तब क्या उसमें किसी प्रकारकी शक्तिही नहीं, ऐसा कह सकते हैं ? कदापि नहीं । अन्य विषयकी शक्ति रहते हुए भी जिस विषयकी शक्तिका प्रादुर्भाव न होता हो उसी विषयकी वृत्तिसे शून्य उसे समझा जाता है ।

इसी प्रकार ब्रह्मानंद रसकी अभिव्यक्ति न होनेके कारण अक्षर ब्रह्मको आनंदरहित तथा अन्तःकरणसे हीन ज्ञानमात्र बालस्वरूप वर्णन किया है । यही बात पुराणसंहितामें लिखी है यथा—

निस्यन्दैर्वृत्तिभिर्हीनं तथान्तःकरणेन च ।
तदक्षरं च विज्ञेयं ज्ञानमात्रं च बालवत् ॥ ५६

"आनंदलवसंसर्गात्सच्चिदानन्द मुच्यते (पु० संहिता)" यद्यपि आनंद धर्मका लव संसर्ग होनेसे अक्षरको भी सच्चिदानंद स्वरूपही कहते हैं तथापि लीलाभेदसे स्वरूप भेद और स्वरूप भेदसे अवस्था भेद मान कर अक्षरको बालस्वरूप माना गया है । यथा—

तदीप्सितस्य पूर्त्यर्थं मनश्चक्रे कृपानिधिः ।
मनसा यस्य सर्वार्थ सिद्धिर्भवति तत्क्षणात् ॥१०

गू०—तदिति तस्याक्षरस्य यदाप्तुमिष्टतमं तस्य पूर्त्यर्थं पूर्णार्थं कृपायाः निधिरक्षरातीतः मनश्चक्रे कृतवान् यस्य मनसा तत्क्षणात् सर्वार्थस्य सिद्धिर्भवतीति ॥ १० ॥

भावार्थः—तब कृपानिधि अर्थात् दयाके सागर परमात्माने उस अक्षर ब्रह्मके ईप्सित मनोरथ–किशोरलीला देखनेके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये मनमें लिया; क्योंकि परमात्माके संकल्पमात्रसेही सब मनोरथोंकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

टिप्पणी.

स लवः कृष्णरूपेण कूटस्थहृदि वर्तते ।
अन्तर्यामिरूपेण तेन नित्यं प्रणोदितः ॥ ३२

नित्यं प्रयाति कूटस्थस्तल्लीला—दर्शनोत्सुकः ।
कृष्णक्रीडा–गृहाद्दूरे वर्तमानः कृताञ्जलिः ॥ ३३

वह लवमात्र आनंद अक्षरके हृदयमें बालस्वरूप विराजमान है । उसी अन्तर्यामी आनंदकी प्रेरणासे अक्षर नित्यही अक्षरातीत परमात्माके दर्शनार्थ जाते हैं और दूरसेही अञ्जलिबद्ध प्रणाम कर लौट आते हैं । इनको श्रीमुखवाणीमें नित्य वैकुण्ठ नाथ और भगवान आदि शब्दसे उल्लेख किया है । यथा-"नित्य वैकुण्ठ मीने अक्षर" [प्रकाश प्र० ३७।६]

या समै श्री वैकुण्ठ नाथ; इच्छादर्शन करने साथ [प्रकाश प्र० ३७। १७]

इन समै श्री भगवानजी इत्त; दर्शनको आवें नित्त [प० प्र० ३। ६७]

इत्यादि श्री मुखवाणीके वचनोंमें लवमात्र आनंद स्वरूप युक्तही अक्षर के आनेका वर्णन है ।

एकदाऽक्षरमायान्तं दिदृक्षाकुल-चेतसम् ।
प्रभुणा प्रेरितात्मानः पश्यन्तिस्म सखीगणाः ॥११

गू०—अक्षरेप्सितपूर्त्त्यर्थं प्रभुणा प्रेरित चित्ताः सख्योऽप्या-यान्तमक्षरं कस्मिंश्चिद्दिवसे ददृशुरित्याह एकदेति ॥ ११ ॥

भावार्थः—अन्तर्गत अक्षरातीत प्रभुकी प्रेरणाके कारण व्याकुल हो रहे हैं चित्त जिनके ऐसी सखियोंके गणने भी एक समय परमात्माके दर्शनार्थ आए हुए व्याकुलचित्त अक्षरब्रह्मको देखा ॥ ११ ॥

टिप्पणी.

यों तो अक्षर ब्रह्म सदाकालही अक्षरातीतके दर्शनार्थ परमधाममें जाते हैं किंतु एक समय अक्षर ब्रह्मके परमधाममें पहुँचतेही कारण कार्य संयोगसे ब्रह्मानंदरस विप्रलम्भ लीलाकी तरफ उन्मुख हुआ कि तत्काल अक्षरके मनमें ब्रह्मलीला देखनेकी प्रबल इच्छा होने लगी। इस बातका उल्लेख पुराणसंहिताके २२—२३ अध्यायमें इस प्रकार किया है—

विप्रलम्भोन्मुखतया प्रवृत्तस्तु यदा रसः ।
तदैकदाऽक्षरो द्रष्टुं जगाम पुरुषोत्तमम् ॥
अक्षरस्य दिदृक्षाभूत् ब्रह्मलीला विलोकने ।
लीला रहस्य मतुलं कथं द्रक्ष्येऽहमातुरः ॥
द्रक्ष्येऽहमपिचेत्कृष्णोऽनुग्रहं कुरुते मयि ॥ ७९
अनुग्रहेण सेत्स्यन्ति कार्याणि विषमाण्यपि ।
दुर्घटानि दुराराध्य—तमान्यपि न संशयः ॥ ८०

विप्रलम्भ रसके उन्मुख होतेही दर्शनार्थ आए हुए अक्षरके मनमें अक्षरातीतकी किशोर लीलाके देखनेकी प्रबल इच्छा बढ़ने लगी। अरे! इस अपार लीलाके तुलना रहित रहस्यको मैं किस प्रकार देखनेमें समर्थ होऊं। यदि अक्षरातीत प्रभुकी कृपा होवे तो देख भी सकता हूँ क्यों-कि प्रभु अनुकम्पासे दुर्घट और दुर्लभ कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं इसमें संशय नहीं। इस प्रकार अक्षरातीतकी कृपा प्राप्त करनेके लिये निरन्तर चिंतवन करना, यही एक प्रकारका अक्षर ब्रह्मका तप है।

तमन्यं पुरुषं दृष्ट्वा ह्यपूर्वं विस्मयं गताः ।
कोऽसावन्यः पुमान्योऽयं दर्शनार्थं समागतः ॥१२

गू०—तमिति । यद्यप्यक्षराक्षरातीतयोरेकत्वं वस्तुतस्तथापि व्यक्तिभेदाऽभिप्रायेणान्यत्वं प्रतिपादितं । अन्यं तं पुरुषं अक्षरमित्यर्थः । अपूर्वं पूर्वं मदृष्टमित्यर्थः ॥ १२ ॥

भावार्थः—मानो जिसको प्रथम कभी देखाही न हो इस प्रकार उस अक्षर पुरुषको देखकर आनन्दस्वरूप सखी विसयको प्राप्त हो अरे ! यह दर्शनके लिये आया हुआ अन्य पुरुष कौन है ? इस प्रकारसे तर्क वितर्क करने लगीं ॥ १२ ॥

एवं संतर्कन्त्यस्ताः परमानन्द धामनि ।
नापुस्तान्निश्चयं सख्य स्तदोचुस्स्वप्रियं प्रति ॥ १३

गू०—एवमिति । परमानन्दमयं यद्धाम तस्मिन् स्थिता इति शेषः । एवं संतर्कयन्त्यो विचारयन्त्यस्ताः सख्यो यदा निश्चयं नापुस्तदा स्वप्रियं प्रत्यूचुः ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस प्रकार तर्क वितर्क करतीं हुई सखियाँ परम आनन्दमय धाममें जब किसी प्रकारके निश्चयको प्राप्त न हो सकी तब अपने प्रियतम परमात्माके प्रति कहने लगीं ॥ १३ ॥

प्राणनाथ ! दयासिन्धो ! दृष्ट्वैनं पुरुषं प्रभो ! ।
वयन्तु विस्मिताः सर्वा निश्चेतुं नैव शक्नुमः ॥१४

गू०—प्राणनाथ ! एनं पुरुषं दृष्ट्वा वयं विस्मयं प्राप्ता अतो निश्चेतुं नैव शक्नुम इति ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे प्राणोंके नाथ ! हे दयासागर ! इस पुरुषको देखकर हम सब विस्मयको प्राप्त हो रही हैं और इसके निश्चय करनेके लिये हमारी बुद्धि समर्थ नहीं है ॥ १४ ॥

पृच्छामस्त्वामतो नाथ ! कोऽसाविति सुदर्शनः ।
ब्रूहि नः प्राणपेत्येतत् कुत्रत्यः कुरुते च किम् ॥१५

गू०—पृच्छाम इति । हे नाथ ! अतः पृच्छामस्त्वां कोऽसाविति द्वे कर्म्मणी पृच्छतेः द्विकर्म्मकत्वात् च पुनरयं कुत्रत्यः किं कुरुत इति अस्मान् ब्रूहीति ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे नाथ ! हे प्राणोंके प्राण ! इस लिये हम लोग आपसे पूछती हैं कि यह सुन्दर पुरुष कौन है ? और कहाँ रहता है ? एवं क्या करता है ? कृपया हमें संतोषकारक उत्तर दीजिये ॥ १५ ॥

एवं त्वनन्यनाथानां प्रियाणां सरसं वचः ।
समाकर्ण्याऽक्षरातीत स्ता ऊचे सुगिरं मुदा ॥ १६

गू०—एवमिति । नान्योनाथोयासां तास्तासाम् ॥ १६ ॥

भा०—अनन्य स्वामी अक्षरातीत परमात्मा इस प्रकार सखियोंके सतर्क और सरस बचन सुनकर सहर्ष सुन्दर वाणी बोले ॥१६॥

भो प्रियाः श्रूयतां वाङ्मे ह्यक्षरः पुरुषस्त्वसौ ।
क्रीडया सृजते विश्वमसद्दुःख जडात्मकं ॥ १७

निर्माय कोटिशो ह्यण्डान्संहरत्येव बालवत् ।
यमुनायाः परेधाम्नि वास्तव्योऽमुष्य ब्रह्मणः ॥ १८

गू०—एवं सखीभिः प्रार्थितोऽक्षरातीत उवाच, द्वाभ्यां भो प्रिया इति। किं कुरुते असाविति पृष्टः प्रभुः असद्दुःख जडात्मकं विश्वं करोति संहरति च क्रीडया इत्युक्तवान्। कुत्रत्य इति पृष्टोऽमुष्य-धाम्नि वास्तव्य इति चोक्तवान ॥ १७ ॥ १८ ॥

भावार्थः—हे सखियो! यह अक्षर पुरुष है। इसका निवास यमुनाजीके पार निज धाममें है। जो निमेषमात्र कालमें (१) असत् जड़ दुःखरूप असंख्य जगत बाल क्रीड़ावत् उत्पन्न कर लय करता हैं॥ १७–१८

इत्याकर्ण्य प्रियां वाचं प्रियस्य परमात्मनः।
ऊचुः सख्यः समेता वै विश्वं कीदृग्विधं प्रभो ॥ १९
विश्वेऽस्मिन् कीदृशं दुःखं जाड्यासत्त्वे तथा कथं।
न जानिमो वयं स्वामिन्नतो दर्शय दुःखताम् ॥ २०
दुःखात्मकस्य विश्वस्य दर्शने महती स्पृहा ॥
जानीमोऽनुभवं तस्य कृपासिन्धो! प्रसीदताम् ॥ २१

टिप्पणी.

(१) यदुन्मेष निमिषाभ्यां ब्रह्माण्ड विलयोदयौ।
नगद्भ्रमस्याधिष्ठानं रजतस्येव सूक्तिका ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां विदुषा ज्ञानगोचरं।
यत्सत्तयाप्यसद्भाति नामरूप विकल्पितम् ॥

जिसके उन्मेष निमेष मात्रसे ब्रह्माण्डोंका विनाश तथा प्रादुर्भाव हुआ करता है। सीपमें चांदीकी भांति मोहाज्ञानके कारण यह जगत प्रतीत होता है वास्तवमें विद्वानोंकी दृष्टिमें तो सदाही अनित्य है। जगत कुछ है नहीं केवल अक्षरब्रह्मकी सत्तामात्रसे नामरूप—कल्पनामात्र दृष्टिगोचर होता है।

मनस्तृप्तिकरस्त्वं वै त्वत्तोऽन्यो न प्रतीयते ।
जिज्ञासासागरे मग्न चित्त निस्सारणे क्षमः ॥२२

गू०—इत्याकर्ण्येति तदानीं जगदुत्पत्ति संहरणे दुःखादिकञ्च-नानुभूत पूर्वं कौतुकमिव मन्यमानाः सख्यः ऊचुः प्राहुरिति सार्द्ध त्रिभिः जाड्यंचासत्यत्वं च ते कथमिति ।१९।२०।२१।२२।

भावार्थः—प्रियतम परमात्माके इस प्रकार मधुर वचन सुनकर सब सखी एकत्रित हो बोलीं। हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! वह विश्व कैसा है ? जिसको अक्षर पुरुष बाल्यक्रीड़ावत् बनाकर पल मात्रमें संहार करता है । विश्वमें असत् जड़ दुःखरूप क्या हैं ? दुःख किसे कहते हैं ? असत् जड़ किस प्रकारके होते हैं ? हम लोग नहीं जानती (१) अतः भगवन् कृपाकर हमें दुःख दिखाइये । दुःखात्मक जगत देखनेकी बड़ी स्पृहा है हमारे मनोरथको पूर्ण करनेवाला आपके अतिरिक्त अन्य

टिप्पणी

(१) अक्षरात्मा तु भगवान् या लीला सृजते प्रभो ! ।
अस्माभिर्नानुभूता ता कीदृशी किं विधा इति ॥
तद्दिदृक्षित—चित्तानां कामो नः प्रतिबाधते ।
कारयानुभवं तस्याः कारुण्येन कृपानिधे ॥

हे प्रभो ! अक्षर भगवान् जिस प्रपंचलीलाकी रचना करते हैं उसे हम लोग नहीं जानती कि कैसी है और किस प्रकारसे बनाते हैं ? उसे देखनेकी इच्छा हमें व्याकुल बनारही है अतः हे कृपासागर ! उसका अनुभव हमें अवश्य कराइये, इस प्रकार सखियोंने हठ किया । इस प्रकार माहेश्वरतंत्र, पुराणसंहिता आदि ग्रंथोंमें लिखा है ।

कोई नहीं अतः जिज्ञासारूप सागरमें निमग्न हमारे चित्तका उद्धार करनेवाले आपही हैं ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा विरेमुस्ताः प्रियः प्राह तदा प्रभुः ।
दुःखरूपमिदं विश्वं, जरामरण संततम् ॥ २३

गू०—एवमिति । एवमुक्त्वा ताः सख्यो यदा विरेमुस्तदा प्रभुराह भो सख्य इति । संबोधनमुपरिष्ठाद्योजनीय मिति । जगतो दुःखरूपत्वं पातञ्जलि सूत्रेणोक्तं—परिणाम ताप संस्कार—दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस प्रकारसे सखियोंके प्रार्थना करनेपर अक्षरातीत प्रभु कहने लगे । हे सखियो ! वह जगत गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि नाना क्लेशयुक्त होनेसे अत्यन्त दुःखरूप (१) हैं ॥ २३ ॥

टिप्पणी

(१) वस्तुतः शास्त्रकार तथा विद्वानोंनेभी इस जगतको दुःखरूपही बताया है यद्यपि तात्कालिक संयोगोंकी अनुकूलताको लोग सुख कहा करते हैं यथा—“ अनुकूल वेदनीयं सुखं ” जो अपनेको अनुकूल लगे वही सुख । परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो वह सुखभी दुःखरूपही है । इसी बातको पतञ्जलि योगसूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं यथा—परिणाम-ताप—संस्कार—दुःखैर्गुण—वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (योग० २ । १५) अर्थः—परिणाम ताप और संस्कार रूप दुःखोंसे जन्य होनेके कारण एवं रागानुबन्धी होनेसे ऐहिक सभी सुख विवेकीके लिये दुःखही समान हैं । क्योंकि कोईभी ऐहिक सुख रागके विना नहीं प्राप्त होता । दूसरी बात—“ नानुपहत्यभूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोप्यस्ति शारीरः कर्माशयः ” किसी प्राणीको दुःख दिये बिना

कुटुम्ब-ममताऽऽरूढं क्रोधाऽहङ्कारसंयुतम् ।
तत्र गन्तुं न युक्ता स्थ यूयं प्राणाधिकाः प्रियाः॥२४

भावार्थः–कुल कुटुम्ब, पुत्र, कलत्र आदिकी ममतासे व्याप्त, क्रोध और अहङ्कारसे युक्त वह जगत हमारे देखने योग्य नहीं; जहाँ पर ममत्व मात्र [यह मेरा है ऐसी कल्पना होतेही] बन्धन है । मिथ्या मोहके कारण काम क्रोध; मोह अहंकार आदि गुण बंधनमें डाले रखते हैं । ऐसे विषम और दुःखरूप जगतमें आपको जाना योग्य नहीं क्योंकि प्राणाधिक प्रिय आपको दुःखी देख हमसे कैसे सहन होगा.

टिप्पणी.

किसी सुख की उपलब्धि होती भी नहीं, अतः ऐहिक सुख हिंसा जन्य होनेसे भी दुःखरूपही है । तीसरी बात—" भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तिस्तत्सुखम् " भोग्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी तृप्तिको सुख कहते हैं " और उसके विपरीत अतृप्तिको दुःख कहते हैं । संसारमें देखा जाता है कि भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो पाता प्रत्युत भोगेच्छा बढ़तीही जाती है । जैसे कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते—महा भा० आ०८५।१२

जैसे--अग्निमें आहुति डालनेसे अग्नि शान्त नहीं होती किन्तु उलटी बढ़तीही रहती है; इसी तरह विषय वासना भोगनेसे कभी तृप्त नहीं होती प्रत्युत बढ़तीही जाती है और बढ़ी हुई संकल्प परम्परा कभी पूर्ण नहीं हो पाती; अतृप्ति होनेके कारण सुखके बदले दुःखही विशेष प्राप्त होता है इस लिये भी सांसारिक सुखोंको महात्मा लोगोंने दुःख-बताया है या यों समझिये कि, यह संपूर्ण जगतही दुःखरूप है सुख तो ब्रह्मधामके अतिरिक्त अन्यत्र है ही नहीं " यो वै भूमा तत्सुखम् " " विज्ञानमानन्दं ब्रह्म " इत्यादि श्रुतियोंने ब्रह्मकोही सुखरूप बताया है परन्तु मोहके कारण अज्ञानी लोग दुःखको सुख मान बैठे हैं ।

तत्र गत्वा परात्मानं विस्मरिष्यथ सर्वतः ।
देहाद्यहं–बुद्धियुक्ता ममताऽऽकुलचेतसः ॥ २५

गू०–तत्रेति । तत्र तस्मिन्विषमे जगति गत्वा परात्मानं मूल स्वरूपं सर्व प्रकारेण यूयं विस्मरिष्यथेत्यन्वयः । स्वाप्निक देहादिषु याऽहं बुद्धिस्तया युक्ता ममतयाऽऽकुलानि चेतांसि यासां ता इति ॥२५

भावार्थः—वहाँ पर जानेसे अपने मूलस्वरूपका विसरण हो जाता है । देह इन्द्रिय एवं पुत्र कलत्रमें अहं बुद्धि अर्थात् मैं हूं, मेरे हैं ऐसा अध्यास होनेंके कारण सदा व्याकुल चित्त हो मुझे भूल जावोगी और अपने मूलस्वरूपको न जान सकोगी ॥ २५ ॥

दिव्यब्रह्मपुरस्याऽपि निजानन्दस्य विस्मृतिः ।
प्राणाधिक प्रियस्याऽपि ममाऽपि भविता तथा ॥२६

गू०–दिव्य ब्रह्मपुरस्येति । दिव्यब्रह्मपुरस्य निजानन्दस्यापि स्मृतिर्न भविता प्राणाधिकः सचासौ प्रियश्चेति तस्य ममापि विस्मृतिर्भवितेत्यन्वयः ॥ २६ ॥

भावार्थः—अरे ! इतनाही नहीं, किंतु अपने परमधामको, यहांकी आनन्द लीलाको एवं प्राणसे अधिक प्रिय मुझको भी भूल जावोगी ॥२६

मत्स्वरूपं परित्यज्य मृत्पाषाणादि कृत्रिमाम् ।
मूर्तिं विधाय पुष्पाद्यैर्यूयं वै पूजयिष्यथ ॥ २७

गू०—मत्स्वरूपमिति । मत्स्वरूपं परित्यज्य मृत्पाषाणादिना कृत्रिमां मूर्तिं विधाय पुष्पाद्युपहारैर्यूयं पूजयिष्यथेत्यन्वयः ॥ २७ ॥

भावार्थः—मेरे वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूपको त्यागकर मिट्टी पत्थर आदिकी कृत्रिम मूर्ति बना कर पुष्पादि नाना उपचारोंसे पूजोगी अर्थात् यही हमारा परमात्मा है ऐसा समझ उन्हीको सब कुछ अर्पण करोगी ॥ २७ ॥

असावेवेश्वरः साक्षाद् भुक्ति मुक्ति प्रदायकः ।
एतस्मान्नापरो देवोऽप्येवं यूयं वदिष्यथ ॥ २८

भावार्थः—यही साक्षात्स्वरूप ईश्वर है । इसके अतिरिक्त भोग तथा मोक्षको देनेवाला इससे श्रेष्ठ कोई अन्य देव नहीं हो सकता, इस प्रकार तुमलोग परस्पर विवाद करोगी ॥ २८ ॥

नाना पाखण्डधर्म्मेषु यथा संसारिणो जनाः ।
गुरुकर्म्मपरा यूयं भ्रमिष्यथ यतस्ततः ॥२९

गू०—नानेति । यथा संसारिणो विषयिणो जनाः गुरुषु कर्म्मसु, यज्ञाद्यनुष्ठानेषु स्वर्गाद्युत्तरफलेषु परा, नानापाखण्ड धर्मेषु निरताः सन्तो यतस्ततो भ्रमन्ति तथा यूयं भ्रमिष्यथेति भावः । ननु अपामसोम ममृता अभूम अक्षय्याहं चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती-त्याद्या, श्रुतयः कर्म्मणो नित्यफलकत्वं वदन्ति इतिचेन्न "तद्यथेह कर्म्म-

भावार्थः—जैसे—विषयी मूढ़ लोग नाना पाखंड धर्मोंमें लगे हुए जहाँ तहाँ भटक रहे हैं अर्थात् हम कौन हैं, कहांसे आये हैं और किस साधनसे कहां जावेंगे ? इस प्रकार अपने मूलस्वरूपको न जानते हुए तुच्छ स्वर्ग आदि फलके लिये नाना प्रकारके कर्म करते हैं और अपने कर्मानुसार स्वर्ग आदि फलका भोग कर पुनः पुनः

चितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत इति श्रुत्या कर्मफलस्याऽनित्यत्वं प्रतिपाद्यते । अथचाथर्वशास्त्रीयाः श्रुतयोपिकर्म-

—: भावार्थ :—

चौरासी लक्ष (१) योनिमें भ्रमण करते हुए जन्म, मरण, जरा, व्याधि आदि अनेक प्रकारके सांसारिक तापोंको सहन करते हैं; इसी प्रकार हे सखियो ! तुम लोग भी मिथ्या प्रपंचके क्लेश, कर्म, विपाक आदिमें पड़कर अनन्त प्रकारके दुःख उठाते हुए भी अपने मूलस्वरूपका स्मरण न कर सकोगी और मिथ्या कर्मरत हो जन्म मरणके बन्धनमें पड़ जावोगी ॥ प्रश्न—क्या कर्मोंके करनेसे जीव मुक्त नहीं होते ? उत्तर—जी ! नहीं; कर्म करनेसे जीव मुक्त नहीं होते प्रत्युत बन्धनमें पड़कर नाना योनिको प्राप्त हो जन्म, मरणके दुखोंको भोगते हैं । प्रश्न—क्या स्वर्ग आदि लोकोंमें सुख नहीं है ? । उत्तर—जी ! नहीं; जिस सुखके क्षीण होने पर पुनः पाँच प्रकार (गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि, मरण) का दुःख भोगना पड़े उसे सुख नहीं कहा जा सकता इससे तो प्रथमही सुख न होना (२) अच्छा है । " हेयं दुःखम-

---

टिप्पणी.

(१) नवलख जलके जीव बखाना । पक्षीगण दशलक्ष प्रमाना ॥
किरमि कीट एकादश लाखा । तेईस लाख चतुष्पद भाखा ॥ १

सताइस लाख स्थावर जानौ । चार लाख मानुष तनु मानौ ॥
अन्य योनि निश्चय नहिं गावा । मुक्तिद्वार मानुष तनु पावा ॥ २

(२) सुख एक प्रकारका ऐसा पदार्थ है जो दुःखके पश्चात्ही अधिकतर अच्छा लगता है और सुखके पीछे जो दुःख प्राप्त होता है वह तो एकदम असह्य हो जाता है । यथा—

णामविद्यान्तर्गतत्वं प्रतिपाद्य तत्फलप्राप्त्यर्थं नानाश्रमं कुर्वतः मूढा-न्पुरुषान्निन्दन्ति "अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिम-

—ः भावार्थ :—

नागतम् [योग० २।१६] इस योग सूत्रमें भी आनेवाले दुःखकोही त्याज्य बताया है अतः स्वर्ग आदि सुख–दुःखावश्यंभावी—भविष्यमें दुःखदायक होनेसे वास्तविक नित्य सुख नहीं हैं। शङ्का—' अपाम सोम-ममृता अभूम " सोम (सोमनामक याग होता है) रसको पान करेंगे तो अमर हो जावेंगे "अक्षय्यं ह चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति " अर्थः—चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय पुण्य होता है " इत्यादि श्रुति कर्मद्वारा अक्षय सुखकी प्राप्तिका वर्णन करती हैं अतः स्वर्ग आदि सुखको अनित्य तथा दुःखरूप बताना उचित नहीं लगता। समाधान—देखोजी ! उपरोक्त श्रुति कर्मजन्य सुखको नित्य नहीं बतातीं किन्तु कर्मकी प्रशंसा वा स्तुति करती हैं। ऐसे श्रुति वचनोंको शास्त्रमें अर्थवाद (१)

टिप्पणी.

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते यथान्धकारेषु हि दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥

जैसे दीपका प्रकाश खूब अँधेरेमें अच्छा लगता है, खूब भूखके बाद भोजन प्रिय लगता है; उसी प्रकार दुःखोंका अनुभव करनेके पीछे सुख अच्छा लगता है। सुखके पीछे जो कदाच दुःख भोगना पड़े तो मृत्युसे भी अधिक कष्टप्रद प्रतीत होता है। इस लिये सुखके पीछे दुःख देने वाला स्वर्गका सुख, सर्वथा दुःखही है, सुख नहीं।

(१) मीमांसाशास्त्रानुसार मंत्र ब्राह्मणात्मक जो वेद भाग है उसे प्रायः 'विधि और अर्थवाद' इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त किया गया है। यद्यपि इन दोनोंसे 'विलक्षण एक तीसरा भाग भी है परन्तु साधा-रणतया उस पर विचार नहीं किया गया। विधि और अर्थवादमेंसे केवल

न्यन्ति बालाः। यत्कर्म्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्त इति । अथच "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

—: भावार्थ :—

माना गया है । जैसे—"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति" (अर्थः—जिसकी पलाशपत्रकी स्रुवा हो वह कलङ्कित यशको नहीं सुनता) इत्यादि श्रुति सिर्फ स्तुतिमात्रमें पर्यवसित होनेसे उसका स्तुतिके अतिरिक्त अन्य अर्थ नहीं माना गया। इसी प्रकार अक्षय सुकृत बतानेवाली श्रुतियोंका फल भी स्तुतिपरक होनेसे कर्मकी प्रशंसा मात्रमें पर्यवसित है अर्थात् कर्ममें प्रवृत्त करानेके लिये उसकी प्रशंसा करता है ।

टिप्पणी.

विधि भागकोही प्रमाण कोटिमें माना है; अर्थवाद तो केवल विधिभागकी स्तुति मात्रमेंही पर्यवसित हो जाता है ।

विधि वाक्य—जो वाक्य किसी प्रकारका विधान, नियोग किंवा इष्ट साधनता बतावे उसे ' विधिवाक्य ' कहते हैं । इसकी परिभाषाके विषयमें मतभेद हैं परन्तु उद्देश्य सबका एक है । " इष्ट साधनता—विधिः " इति तार्किकाः । तर्कशास्त्रवाले किसी प्रकारके इष्ठ साधनता बोधक वाक्योंको ' विधिवाक्य ' कहते हैं । " शब्द भावना—विधिः " इति भट्टाः । भट्ट आचार्यके मतसे शब्दभावना बोधक वाक्यही विधि हैं । " नियोगो—विधिः "—इति प्रकाराः । मीमांसकोंके मतानुसार जो वाक्य किसी प्रकारकी आज्ञा प्रदान करते हों वेही ' विधि ' हैं । सम्पूर्ण विधिवाक्य—उत्पत्ति, अधिकार, विनियोग और प्रयोग, इस प्रकार चार भागोंमें विभक्त किये गये हैं । चारों प्रकारके वाक्योंको " अपूर्वविधि, नियमविधि और " परिसंख्याविधि " इस प्रकार पुनः तीन भागोंमें विभक्त करने पर प्राप्ति-अनुसार इनका आशय समझा जाता है। जैसा कि-नीचे लिखी कारिका परसे स्पष्ट होता है । यथा—

इति संहितामंत्रेण सर्वदा कर्माचरणं प्रतिपादितं, कथं हेयं स्यादिति चेन्न "नाविशेषात् स्तुतयेऽनुमतिर्वेति" द्वाभ्यां सूत्राभ्यां भगवता वा-

—: भावार्थ :—

शङ्का—" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः [यजु अ० ४०। मं० २। ईशावास्य उ० २] कर्म करते हुएही सैकड़ों वर्ष जीनेकी इच्छा करे " " कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः [गीता ३।२०] कर्मसेही जनकादि महात्मा सिद्धिको प्राप्त हुए " इत्यादि श्रुति स्मृति

टिप्पणी

विधिरत्यन्त-मप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र संप्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

जो वाक्य किसी अपूर्व अथवा अप्राप्त अर्थका विधान करे उसे ' विधि ' और किसी अंशमें अप्राप्त अर्थको प्राप्त करे उसे ' नियम ' एवं उभयत्र समानतया प्राप्त अर्थको इतर व्यावृत्ति-पूर्वक अर्थका परि-संख्यान [नियत] करे उसे परिसंख्या कहते हैं । इनके अलग २ लक्षण नीचे लिखे अनुसार समझना । यथा-

क-" प्रमाणान्तरेणाऽप्राप्तस्य प्रापकोविधिः—अपूर्वविधिः " प्रमाणा-न्तरसे अप्रतिपादित विषयको प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंको ' अपूर्व विधि ' कहते हैं ।

ख-" पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिः—नियमविधिः" किसी पक्षमें अप्राप्त अर्थको नियमित बनानेवाले वाक्य—नियमविधि, कहे जाते हैं ।

ग—' उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितर व्यावृत्तिपरो विधिः—परिसंख्या " ।

एकही साथ दो तरफ प्राप्त अर्थको किसी एक पक्षमें नियमित करनेवाले वाक्योंको परिसंख्या विधि कहते हैं । जैसे कि "पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः " इस श्रुतिमें पांचनखवाले—[शशकः शल्लको गोधा कूर्मः खड्गी च पञ्चमः] " शशक, शल्लक, गोह, कछुवा और गेंड़ा इन पांच जीवोंके भक्षण करनेको लिखा है । मांसभक्षण करना रागसे स्वाभाविक

दरायणेन वारितमेव कर्माचरणं, किञ्च ज्ञानिभिः कर्म्माचरणीयं याव-ज्जीवमिति विशेषावाभान्नेत्थं श्रुतिर्वक्तीति बोध्यम् । अथच स्मृतयो व-

—: भावार्थ :—

जीवन पर्यन्त कर्माचरण करनेका उपदेश करती हुई उसीके द्वारा श्रेय प्राप्तिका प्रतिपादन करती हैं और आप उसे अनित्य तथा दुःखरूप बताकर चौरासी लक्ष योनिका कारण बताते हो, तब आपकी बात कैसे मानी जावे?

टिप्पणी.

प्राप्त है अतः इसे विधि नहीं कह सकते । विधिवाक्य न होनेके कारणही पञ्च नख जीवोंको नखानेवालोंके लिये दोष नहीं लगता । किसी अंशमें अप्राप्त भी नहीं है अतः इसे नियम विधि भी नहीं कह सकते । अतः पञ्चनख-भक्षण निवृत्तिपरक होनेसे इसे परिसंख्यावाक्य माना गया है । इसी प्रकार " ऋतौ भार्यामुपेयात " इत्यादि वाक्य भी इतर विषय निषेधपरक होनेसे परिसंख्या माने जाते हैं । इसपरसे सिद्ध होता है कि मांस और विषयका त्यागही सर्वथा शास्त्रको अभिमत है, ऐसा समझना चाहिये । बहुतसे विषय-लोलुप ऐसेही वचनोंपरसे मांसभक्षण तथा मैथुन, मद्यपान आदिको शास्त्रीय समझ तत्परायण हो जाते हैं । ऐसेही मूर्खोंको अन्तमें रौरव नरक भोगना पड़ता है । एक तो शास्त्रके-विरुद्धाचरणका पाप और दूसरे शास्त्रको स्वार्थपरायण बनानेका अपराध । इसीलिये स्वामी श्री प्राणनाथजी कहते हैं कि " दुनीको आग एक है अगुओंको आग दोय " बात भी ठीक है, जो बिना समझे अपने ऊपर उत्तरदायित्वका भार लेगा उसे दोजक न मिले तो फिर किसको मिलेगी? इसीलिये कहा है ' महाजनो येन गतः स पन्थाः " महात्माओंके कहे अनुसार चलना यही सत्य मार्ग है ।

किसी २ विद्वानके मतसे " विधिमुखेन निषेधज्ञापकोविधिः—परिसंख्या " विध मुखसे निषेध करनेवाले वाक्य " परिसंख्या " कहे जाते हैं । अर्थात् जो देखनेमें विधि वाक्य जैसे लगें और वास्तवमें निषेधसे

दन्ति । कर्मफलानित्यत्वं यथोक्तं गीतासु "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

—: भावार्थ :—

समाधान—देखो जी ! उपरोक्त श्रुति साधारण लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करानेके लिये कर्मकी प्रशंसा करती है; कर्मको श्रेय प्राप्तिका साधन नहीं बताती । 'कर्मसे श्रेय प्राप्ति होती है' यदि ऐसा मान लेवें तबतो नीचे लिखी श्रुतियोंसे विरोध होगा । जैसे कि—तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते (छा० प्र० ८ खं० १ मं० ६) जैसे इस लोंकमें सेवादि कर्मसे प्राप्त भोग—धन, कुल, कुटुम्ब, पुत्र, कलत्र, आदि सुख क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार परलोकमें पुण्यसे प्राप्त स्वर्ग आदि नाना प्रकारके भोग, ऐश्वर्य

टिप्पणी.

अभिप्राय रखते हों ऐसे वाक्योंको 'परिसंख्या' समझना चाहिये । जैसे—सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां कौंडिन्याय तक्रम्" सब ब्राह्मणोंको दही देउ और कौंडिन्यके लिये छाछ । यहां पर कौंडिन्यके लिये दधि देनेका प्रत्यक्षमें निषेध नहीं किया गया किन्तु छाछके विधानसे दधिका निषेध माना गया है । क्योंकि जो दधि देना होता तो दधि परसनेके समय छाछका नाम न लिया जाता । यहां पर कौंडिन्यको ब्राह्मणत्वेन दधि तो प्राप्त था ही और छाछका विधान किया गया अतः दोनों मिलना चाहिये मगर यह परिसंख्या विधिका वाक्य होनेसे दधिका निषेध हों जाता है; केवल छाछका मिलनाही माना गया है । इसी प्रकार वैदिक श्रुतियोंके विषयमें भी समझना चाहिये ।

अर्थवाद—दूसरा भाग जो अर्थवादके नामसे प्रसिद्ध है उसको प्रमाण कोटिमें नहीं माना जाता किन्तु अमुक वेदभाग व्यर्थ न हो जावे इस लिये विधि वाक्योंके साथ अर्थवाद वाक्योंकी एकता मान ली गई है अर्थात् अर्थवाद किसीकी निंदा स्तुति व्यर्थ नहीं करता अपितु

गतागतं कामकामा लभन्त इति एवमुक्तं। भागवतेऽपि "तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते; क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचा-

—: भावार्थ :—

आदि सुख भी क्षीण हो जाते हैं । इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति वर्णन करती है । मुण्डक [मु० २–९] श्रुति भी कर्मको तुच्छ बताकर जन्म मरणरूप दुःखका कारण बताती है । यथा—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीण–लोकाश्च्यवन्ते ॥

अर्थः—(बालाः) अज्ञानी लोग (अविद्यायाम्) अविद्यारूप कर्ममें (बहुधाः वर्तमानाः) बहुत प्रकारसे लगे हुए (वयं कृतार्थाः) हम लोग कर्म करनेसे कृतार्थ हो गये (इति अभिमन्यन्ति) इस प्रकार

टिप्पणी

शुभकर्ममें प्रवृत्ति और अशुभकर्मसे निवृत्ति करानेके लियेही निंदा स्तुति-वाले वाक्य कहता है । यही बात पूर्व मीमांसामें—" आम्नायस्य क्रिया-र्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते [पूर्वमी० अ० १ पा० २ सूत्र१]" शास्त्र दृष्ट विरोधाच्च [पूर्वमी० अ० १ पा० २ सूत्र २] " इत्यादि सूत्रोंसे अर्थवादका खण्डन कर " विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः [पूर्व मी० अ० १ पा० २ सूत्र ७] " " गुणवादस्तु [पूर्व मी० अ० १ पा० २ सूत्र १०] " इत्यादि सूत्रों द्वारा विधि-वाक्योंके साथ अर्थवादकी एकवाक्यता करते हुए सिद्ध की है परन्तु उसे प्रमाण कोटिमें नहीं माना ।

व्यासजीनेभी " नाविशेषात् (उ० मी० ३।४।१३) स्तुतयेऽनु-मतिर्वा (उ० मी ३।४।१४) इत्यादि सूत्रोंसे अर्थवादका खण्डन किया है । गीता (अ० २–४२) में भी भगवान कृष्णने अर्थवादकी निन्दा करते हुए उसे निष्फलही बताया है । यथा—

लित इति'। न्यायविरोधादपि तस्य हेयत्वं प्रतिभाति तद्यथा कर्म अनित्यमिति प्रतिज्ञा, कृतकत्वादिति हेतुः. यत्कृतकं तदनित्यमित्युदा-

—: भावार्थ :—

अभिमान में डूबे रहते हैं। (यत्) इस लिये (कर्मिणः) कर्मकाण्डी लोग (रागात्) स्वर्ग आदि फलके लोभसे परमात्माके तत्त्वको (न प्रवेदयन्ति) नहीं समझ पाते (तेन) उसीसे (आतुराः) आतुर होते हुए (क्षीण लोकाः) कर्मफलके क्षीण होने पर (च्यवन्ते) स्वर्गसे इस संसारमें पतित हो नाना योनिका दुःख भोगते हैं। गीता [९।२१] में भी कर्म फलको अनित्य कह कर पुनः पुनः जन्म मरणरूप दुःखका कारण बताया है। यथा—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी—धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

टिप्पणी

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नाऽन्यदस्तीति वादिनः॥

अर्थात् अज्ञानी लोग वेदवादरता—कर्मपरायण हो कर्मकी प्रशंसावाले फूले फूले वाक्य बोलते हैं परन्तु हे पार्थ ! उसमें अर्थवादके अतिरिक्त कुछ भी सार नहीं है इत्यादि अनेक प्रकारसे जहां देखो तहां अर्थवादका खण्डनही किया है। शास्त्रकारोंने अर्थवादका लक्षण इस प्रकार किया है। यथा—

प्राशस्त्य-निन्दान्यतरपरं विधिविशेषभूतं वाक्यं-अर्थवादः।
स च त्रिविधः—गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति॥

स्तुति अथवा निन्दा प्रतिपादन करने वाले-विधिविशेषभूत जो वाक्य हैं उन्हें अर्थवाद कहते हैं। वह तीन प्रकारका होता है। यथा-

हरणं, यथा स्थाल्यादिद्रव्यमित्युपनयः, तथेदमिति निगमनमिति एवं साधर्म्यात्पञ्चावयववाक्यमिति। तथा वैधर्म्याद्बोध्यं यन्न कृतकं

—: भावार्थ :—

अर्थः—कर्मकाण्डी लोग उस विशाल स्वर्ग सुखको भोगनेके बाद क्षीण पुण्य होकर मृत्युलोकमें पुनः प्रवेश पाते हैं। भागवतमें भी कर्म फलको अनित्य बताते हुए जन्म मरणरूप—दुःखका कारण बताया है। यथा—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्काल—चालितः॥

मनुष्य कर्मजन्य स्वर्ग सुखको तहांतक भोगता है जहांतक पुण्य समाप्त नहीं होता। पुण्यके क्षीण होतेही इच्छा न होने पर भी कालकी

टिप्पणी.

(१) गुणवाद, (२) अनुवाद, और (३) भूतार्थवाद।

(क)—"प्रमाणान्तर विरुद्धार्थ बोधको गुणवादः" प्रमाणान्तरसे विरुद्धार्थ बोधक वाक्योंको "गुणवाद" कहते हैं। जैसे "आदित्यो यूपः" यहां पर आदित्य (सूर्य) को स्तम्भ बताया है; यह बात कहीं लिखी नहीं और सुनी भी नहीं गई कि सूर्य स्तम्भ (खम्भ) होता है। इस लिये–अन्य प्रमाणके विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य होनेसे इसे 'गुणवाद' माना गया है।

(ख)—"प्रमाणान्तरेण निर्णीतार्थ बोधकोऽनुवादः" अन्य प्रमाणोंसे निर्णीतार्थका बोधक वाक्य—'अनुवाद' कहा जाता है। जैसे–"अग्निर्हिमस्य भेषजम्" अग्नि हिम (ठण्डी) की औषधि है। यह बात अनेकशः प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकी है कि अग्निसे ठंडीका नाश हो जाता है अतः उपरोक्त वाक्य अनुवाद मात्र अर्थवाद माना गया है।

(ग)—"तत्काले तद्गुण बोधको-भूतार्थवादः" गुणके विद्यमान

तन्नाऽनित्यं यथाऽऽत्मादिकं नेदं तथेतिदिक् । मुक्तानां मुमुक्षूणां वा कर्मानुष्ठानं दुःखदं, संसारिणान्तु युक्तमेव इतिभावः ॥ २८ ॥

—: भावार्थ :—

प्रेरणासे मृत्युलोकमें आता है अर्थात् गर्भ, जन्म मरण आदि नाना-योनिकें दुःखोंको भोगता है । इत्यादि शतशः प्रमाण कर्मको अनित्य प्रतिपादन करते हुए उसे नाना योनिके जन्म मरणका हेतु बताते हैं; अतः कर्मद्वारा श्रेय प्राप्तिकी इच्छा रखना आकाश पुष्पवत् निष्फल है । हां, संसारिक व्यवहार तथा प्रवृत्ति मार्गकी इच्छा रखनेंवालेको एकदम कर्मका परित्याग करना योग्य नहीं; किन्तु मुमुक्षुको तो कर्म पर आस्था न रखना ही अच्छा है ॥ २८ ॥

टिप्पणी.

कालमें उस गुणका बोधक वाक्य भूतार्थवाद कहा जाता है यथा— " जारायामप्ययं शूरः " यह मनुष्य वृद्धावस्थामें भी शूर है । यह वाक्य वृद्धावस्थामें विद्यमान भूतकालकी शूरताका कथन करता है अतः भूतार्थवाद माना गया है । इस प्रकार अर्थवादके तीन भेद पाये जाते हैं—

विरोधे गुणवादस्स्या—दनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्ज्ञानादर्थवाद स्त्रिधा मतः ॥

विरुद्धार्थका बोधक ' गुणवाद, ' निर्णीतार्थका बोधक 'अनुवाद' और किसी गुणका तत्काल बोधक 'भूतार्थवाद' इस प्रकार तीन भाँतिका अर्थवाद समझना । अर्थवादको प्रमाण कोटिमें न माननेका कारण यह है कि—" अवाधिताज्ञातज्ञापकत्वं हिं प्रमाण्यम् । तच्च वाधित विषयत्वाद् ज्ञातज्ञापकत्वाच्च गुणवादानुवादयोर्न प्रामाण्यम ” अर्थः—अवाधित और अज्ञातार्थ बोधक वाक्योंकोही प्रमाण कोटिमें माना गया है ।

अहं चेत्सद्गुरुर्भूत्वा बोधयिष्यामि वः प्रियाः ।
मदुक्तवाक्यमाकर्ण्य हसिष्यथ मदान्विताः ॥ ३०

गू०—अहमिति। हे प्रिया ! चेद्यदि अहं सद्गुरुः सद्गुरुरूपो भूत्वा वः युष्मान्बोधयिष्यामि तर्हि मदेनान्विताः यूयं मयोक्तं यद्वाक्यं तदाकर्ण्य श्रुत्वा हसिष्यथेत्यन्वयः ॥ ३० ॥

भावार्थः—हे प्रियाजनो ! यद्यपि मैं सद्गुरुरूप धारण कर तुम लोगोंको जाग्रत करूंगा तथापि मदान्धताके कारण—संसारी लोगोंकी भांति मेरे उपदेश वचनोंको सुनकर तुम लोग हँसोगी ॥ ३० ॥

विभाव्यैवं मदुक्तीश्च स्वकासां दुःखकारणम् ।
हातव्या दर्शनेप्सा वै जगतो दुःखरूपिणः ॥ ३१

टिप्पणी.

बाधितार्थ और ज्ञातार्थ मात्र बोधक होनेसे 'गुणवाद और अनुवाद' को प्रमाणभूत नहीं माना जाता । और भूतार्थवादके स्वार्थमें तात्पर्यरहित होनेसे प्रमाण कोटिमें होनेपर भी कुछ विशेषता नहीं पाईजाती । मूलोक्त " कुर्वन्नेवहि कर्माणि " तथा " अक्षय्यं ह चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति " इत्यादि कर्म प्रतिपादक श्रुति " तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते [छा० ८।१] तथा " अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः " [मु० २-९] इत्यादि श्रुतियोंसे बाधित होनेके कारण प्रमाणभूत नहीं मानी जा सकतीं, किंतु अर्थवाद मात्र होनेसे केवल कर्मकी प्रशंसा करती हैं ।

गू०—विभाव्येति। एवं मदुक्तीः च पुनः स्वकासां आत्मनां दुःखकारणं विभाव्य विचिन्त्य दुःखरूपिणो जगतो दर्शनेप्सा हाताव्या त्याज्या वै निश्चयेनेति ॥ ३१ ॥

भावार्थः—'हे सखियो! इस लिये मेरे वचनों पर विश्वास रख और अपनें दुःखके कारणको समझ कर दुःखरूप जगतको देखनेकी इच्छारूप हठका परित्याग करो ॥ ३१ ॥

धीमन्तो दुःखफलके द्रष्टव्ये शोकदायिनि।
क्वचित्प्रीतिं न कुर्वन्ति दूराद्धेयं त्यजन्ति च ॥३२

यद्यपीद---मसद्रूप—ममृता---दाधिकायते।
संप्रतीष्यथ तद्धातुं परिणामे (१) विषाधिकम् ॥ ३३

गू०—धीमन्त इति। धीमन्तो बुद्धिमन्त श्शोकं ददात्येवंशीलं-तस्मिन् दुःखानि फलानि यस्मिन् द्रष्टव्ये प्रीतिं क्वचिन्न कुर्वन्ति

भावार्थः—जैसे बुद्धिमान लोग जिस कार्यके परिणाममें दुःख समझते हैं अथवा जिससे अन्तमें शोक होगा ऐसा समझते हैं उसका

टिप्पणी.

(१)—श्री राजजीके पुनः २ निषेध करनेका अभिप्राय यह था कि सखियां जिस प्रकार इस जगतको देखना चाहती थीं उस प्रकार से जगतका वास्तविक रूप देखना असम्भव था। यही बात पुराण-संहिताके ११ अध्यायमें दिखाई गई है यथा—

हेयं तत् दूरतः त्यजन्ति। यद्यपीति संप्रति इदानीं काले अमृता-
दधिकमिवाचरति तथापि परिणामे विषाधिकं तत् दृश्यं हातुं त्यक्तुं
संप्रतीष्यथेच्छां करिष्यथेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

—: भावार्थ :—

दूरसेही परित्याग कर देते हैं। उसी प्रकार दुःखरूप जगतके देखनेकी
इच्छाको छोड़ दो। यद्यपि दुःखरूप जगत निज धाममें बैठे हुए इन्द्र-
जालवत् दृष्टिगोचर करना है और खेलभी मिथ्या है तथापि अन्तमें
हास्य आदिसे दुखप्रद होगा अतः हेय समझ उसका दूरसे परित्याग करनाही
अच्छा है क्योंकि " प्रक्षालनाद्धिपङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् " पहले
कीचड़में हाथ बिगाड़ना और फिर धोना ' इससे तो प्रथमही उसको न

टिप्पणी.

तन्मात्रभूतास्तद्रूपं कथं प्रेक्षितुमिच्छथ।
असाध्यार्थे प्रवर्तेत बुद्धिमान्न कदाचन ॥

असाध्ये साधनायासं ये कुर्वन्ति विमोहिताः।
निष्पीड्य सिकता–पुञ्जमिच्छन्ति स्नेह–संग्रहम् ॥

स्वसामर्थ्यानुसारेण कार्ये लोकः प्रवर्तते।
किं सामर्थ्यं पुरोधाय यूयं तत्र प्रयाप्यथ ? ॥

अर्थः—हे सखियों ! तुम खेलरूप होकर खेलको देखना चाहती
हो यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् पञ्चभूतके शरीरसे पञ्चभौतिक
जगतको देखना चाहती हो यह असम्भव है। जो कार्य कभी सिद्ध
नहीं हो सकता; ऐसे असम्भव कार्यमें बुद्धिमान लोग कभी प्रवृत्त नहीं
होते। जो मोहवश असाध्य कार्यको साध्य बनानेका प्रयत्न करते हैं
मानो वे बालूमेंसे तैल निकालनेकी इच्छा रखते हैं, ऐसा समझना।

—: भावार्थ :—

छूना अच्छा है। यह दुःख तथा जड़रूप जगत असत् है और इस समय अमृतसेभी अधिक प्रिय लगता है परन्तु परिणाममें विषसे भी अधिक भयंकर लगेगा और उसे त्याग कर पुनः इसी सुखको चाहोगी अतएव उसे न देखनाही उचित है। इस प्रकार अक्षरातीत परमात्माने निषेधद्वारा वार २ भविष्य सूचना की ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

एवं निषिद्धाः प्रभुणाऽपि सर्वाः—
सख्यो मुहुस्तं प्रतियाचमानाः।
अन्तस्तदाज्ञावशगा दयालो—
र्बाह्या न तूरींकृतवत्य वाचः ॥ ३४

टिप्पणी

बालूमेंसे कभी तैल नहीं निकलता परन्तु जैसे निकालनेकी इच्छा करना मूर्खता है उसी प्रकार 'हे सखियो!' जगद्रूप होकर जगतको देखनेकी इच्छा करना मूर्खपन है। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अनुसार कार्यमें प्रवृत्त होता है; तो आप कौनसा सामर्थ्य लेकर मिथ्या जगतमें देखनेको जाना चाहती हो ?

फुल्लपद्म-- सरस्त्यक्त्वा मृगतृष्णानुधावथ।
मामानन्दं परित्यज्य पाषाणं पूजयिष्यथ ॥
लीला—क्रीडा—-रसानन्दानुभवं परिहास्यथ।
दैन्य कार्पण्य दुःखाक्तमाकार मुपयास्यथ ॥
गाढान्धकार—मार्गेषु कथं तु विचरिष्यथ।
लीला कार्याणि संत्यक्त्वा दुष्टकार्याण्युपास्यथ ॥

(पुराण संहिता अ० २२)

गू०—एवमिति । एवं प्रभुणा निषिद्धा निवारिता अपि तं प्रभुं मुहुः प्रतियाचमानाः अन्तस्तदाज्ञावशं गच्छन्तीति तथा सर्वाः

भावार्थः—इस प्रकार परमात्माके निषेध करने पर भी सखियोंने मिथ्या जगत देखनेंके लिये पुनः याचना की । इसका कारण यह

टिप्पणी.

अरे ! तुम लोग विकशित कमलवाले सरोवरके जलको छोड़ कर मृगतृष्णाके लिये दौड़ती हो । मेरे आनन्दका त्याग कर पाषाणको पूजोगी, आनन्द, लीला विहारके रसरूप आनन्दका अनुभव त्यागकर दीन, हीन, दुःखादिसे भरे हुए आकारको प्राप्त होउ गी । विकट अन्धकारवाले मार्गोंमें कहां मारी २ फिरोगी । लीलाविहारका त्याग कर दुष्ट कर्म करने पड़ेंगे अतः हे सखियो! ऐसे विषम जगतमें तो आप न जावें, यही अच्छा है । ऐसा सुनतेही सखियोंने कहा—

शर्करा कर्करा न स्यादमृतं न विषं भवेत् ।
चिन्तामणिर्न पाषाणो न दीपो रजनी भवेत् ॥
नाम्भोधिः स्थलमयो न प्रियश्चाप्रियो भवेत् ।
त्वन्तु कस्मात्प्रियतमः प्रियाणा–मप्रियंकरः ॥
अविच्छिन्नस्मृतिधरा स्त्वत्समर्पितचेतसः ।
त्वत्सेवाऽनन्यविषयाः कथं मुह्यामहे वयम् ॥

[पु० संहिता अ० २८]

हे प्रभो ! खांड़ कभी बालू नहीं हो सकती, अमृत कभी विष नहीं होता; चिन्तामणि कभी पत्थर नहीं बन सकता, दीपक कभी रात्रि नहीं होता, समुद्र कभी सूखता नहीं । इसी प्रकार जो प्रिय है वह अप्रिय नहीं हो सकता । परन्तु आप तो हमारे प्रियतम होते हुए भी अप्रिय हो रहे हो और उलटा हमीको भूल जानेका भय दिखाते

सख्यो दयालोः परमात्मनो बाह्या वाचो न तूरीकृतवत्यो नाङ्गीकृतवत्य इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

—: भावार्थ :—

था कि ऊपरसे खेल देखनेको मने किया है सही मगर भीतरसे तो खेल देखनेकी इच्छाको प्रेरित कर रहे हैं क्योंकि उधर अक्षर ब्रह्म भी अन्तः

टिप्पणी.

हो, यही आश्चर्य है । अरे ! निरन्तर आपकाही स्मरण करने वालीं और आपके लिये चित्तको समर्पण करने वालीं हम भला ! आपसे विमुख हो कैसे मोहको प्राप्त हो सकतीं हैं ? । आप तो सदा अपने प्रेमकोही अधिक बताते हैं किन्तु यह तो विपरीत देखनेमें आता है यदि आपका प्रेम अधिक होता तो हमारे मनोरथको अवश्य पूर्ण करते । मगर इस बातको कौन कह सकता है कि आपका प्रेम अधिक हैं ? इससे तो हमाराही प्रेम अधिक मालूम पड़ता है; इस प्रकार श्री राजजीसे सखियां विवाद करने लगीं । इस विवादका उल्लेख निम्न लिखित वेद मन्त्रने बड़े मर्मके साथ किया है । यथा—

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद ।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत् ॥

[निरुक्त दैवतकां० अ० ७ पा० ७ खं० ३१ मं० १७]

अर्थः—(यत्र) जिस ब्रह्म धाममें (अवरः) सखीगण (च) और (परः) परमात्मा (विवदेते) परस्पर विवाद करते हैं कि (यज्ञन्योः नौ कतरो विवेद) गोष्ठी प्रेम—लीला विहारके सत्सङ्गी हममेंसे गोष्ठी प्रेमको कौन अधिक जानता है अर्थात् आनन्द विहाररूप जो प्रेम सत्सङ्ग है उसमें परस्पर कौन अधिक प्रेम रखता है ? (सखायः) समानरूपवाले हे सखिगण ! (नक्षन्त—समश्नुवानानां) समान आनन्द भोगनेमें समर्थ तुममेंसे (कः इदं विवोचत्) कौन इस बातको—प्रेमसम्वाद—को विभक्त करके कह सकेगा कि—(सधमादं यज्ञं आशेकुः इत्) एकसाथ रमण करनेवाले गोष्ठी विहारके प्रेमकी अधिकताको

—: भावार्थ :—

पुरकी ब्रह्मलीला देखनेके लिये तप कर रहे हैं और उनका मनोरथ अवश्य पूर्ण करना है अतः ऊपरसें निषेध करते हुए अन्तर्गत में चाहना बढ़ा रहे हैं और इसी लिये अक्षरातीतके वचनोंको सखियोंने भी नहीं माना अन्यथा श्री राजजीकी इच्छा विरुद्ध होकर सखीगण कदापि याचना नहीं करतीं ॥ ३४ ॥

टिप्पणी.

हमलोग जानती हैं अर्थात् कोई नहीं कह सकता अतः इसका निर्णय भौतिक जगतमें चलो तुम्हीसे कराऊंगा ।

(क)—इस वेद मंत्रमें यज्ञ शब्दको देखकर लोगोंने दो यज्ञ अग्नियोंका परस्पर विवाद बताया है परन्तु वास्तवमें यह विवाद दो अग्निके बीचका नहीं किन्तु बहुत शक्तियोंका है; इस बातको स्पष्ट बताने वाला इसमें षष्ठी विभक्तिका बहुवचन ' नक्षन्त ' पद है । नक्षन्त पदसे निर्धारण अर्थमें षष्ठी विभक्ति हुई है जिसका ": सुपां सुलुक [अष्टा० ७।१।३६] इत्यादि पाणिनीय सूत्रसे लोप हो गया है । नक्षन्त शब्द व्याप्त्यर्थक नक्षधातुसे बना है ।

(ख)—इस वेदमन्त्रका ' सधमादं ' पद बड़े मर्मका है जिसका अर्थ एक साथ क्रीड़ा करना है । यथा—सह माद्यन्ति सखिगणा यस्मिन्सः तं किम्वा सहमदनं सधमादस्तं " यहां पर " सध मादस्थयोश्छन्दसि [अष्टा० ६।३।६६] इस पाणिनीय सूत्रसे ' सह ' के स्थानमें 'सध' आदेश हो गया है यह सधमाद पद ब्रह्म प्रियाओंके एक साथ क्रीड़ा विहारका बोधक है । जिसमें एक साथ क्रीड़ाविहार किया जाता हो ऐसी अग्नि देखने, सुननेमें नहीं आती अतः खेंचातान करके इसका अर्थ यज्ञ तरफ भले लगा दिया जावे नहितर शब्दार्थ या भावार्थ देखा जावे तो स्पष्टरूपसे पुराण संहितामें वर्णित ब्रह्म और ब्रह्मशक्तियोंके बीचके विवादकाही इसमें वर्णन है । 'सखायः' पद जो सखी वर्गके लिये प्रयुक्त हुआ है वह भी उपरोक्त बातकी पुष्टि करता है । ' परः ' शब्द स्पष्टरूपसे परमात्माका वाचक देखा जाताही है । अग्निके विषयमें जब

त्रिःकृत्वा प्रार्थितश्चैव परमात्मा स्वशक्तिभिः ।
अक्षरस्य स्वकासां च प्रियं कर्त्तुं मनो दधे ॥ ३५

इतिश्री निजानन्दस्वामि-मतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्म-
सूरिप्रणीते-आनन्दसागरे प्रथमस्तरङ्गः ॥१॥

गू०—त्रिःकृत्वेति । एवं त्रिःकृत्वा त्रिवारं स्वामिशक्तिभिः प्रार्थितः परमात्माऽक्षरस्य स्वकासां च प्रियं कर्त्तुं मनोदधे ॥ ३५ ॥

इतिश्री निजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां
गूढार्थचन्द्रिकायां प्रथम स्तरङ्गः ॥१॥

भावार्थः—जब वारम्वार निषेध करने परभी सखियोंने तीसरी वार खेल देखनेकी याचना की तब अक्षर और सखीगण दोनोंके मनोरथको पूर्ण करनेंके लिये अक्षरातीत प्रभुने मनमें धारण किया ॥ ३५ ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्थप्रथमतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्त शास्त्रिकृता
आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ १ ॥

टिप्पणी

तक अग्निका वाचक कोई अन्य विशेष्य पद न हो तहां तक परत्व अपरत्वकी कल्पना करना असम्भव है । अतः प्रत्येक प्रकारसे आनन्द शक्तियोंके विवादका वर्णनही इस मंत्रसे सिद्ध होता है ।

इतिश्री—आनन्दसागरस्थप्रथमतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्तशास्त्रिकृता
तरङ्गदीपिका टिप्पणी समाप्ता ॥ १ ॥

द्वितीयः—तरंगः

तावत्कूटस्थ—हृदयात्प्रादुर्भूता सुमङ्गला ।
श्रीकृष्णप्रेरिता सा तु निद्रामजनि मोहिनीम् ॥ १

गू०—अक्षरातीतस्य परब्रह्मणो मनोधारणमात्रमेव जगदुत्पत्ति बीजन्तदेव महाकारणं प्रथमस्तरङ्गान्तिमश्लोकेन निर्दर्शितमिति । अथेदानीं प्रभुणा प्रेरिता सुमङ्गलाशक्तिरक्षरस्य हृदयाकाशात्स्वकार्य्यं जनयन्ती प्रादुर्भूतेत्याह तावदिति तावन्नामादौ कूटस्थोऽक्षर उच्यते इति गीतोक्तेः तस्य हृदयाकाशात्सुमङ्गलानाम्नी काचिच्छक्ति प्रादुर्भूतेति । नच सा शक्तिर्विजातीया स्वाधीना वेति शंक्यं "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामिति श्रुत्या तच्छक्ति कथनात् " ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके "

अवतरण—प्रथम तरङ्गमें अक्षर तथा सखियोंके खेल देखनें रूप मनोरथको परमात्माका मनमें लेना रूप महाकारण प्रगट किया गया। अब द्वितीय तरङ्गमें—" अक्षरातीत प्रभुकी आज्ञानुसार सुमङ्गलाशक्तिने अक्षरके हृदयसे प्रगट हो निद्राको उत्पन्न किया " यह दिखाया जायगा ।

भावार्थः—जैसेही अक्षरातीत प्रभुने अक्षर तथा सखियोंके मनोरथको पूर्ण करनेंका विचार किया कि तत्काल—विचाररूप प्रेरणा मात्रसे अक्षर ब्रह्मके हृदयसे ' सुमंगला ' नामकी शक्तिने प्रगट हो मोहरूप निद्राको उत्पन्न किया ।

इति सूत्राच्च । सा किं कृतवती इत्यपेक्षायामाह श्रीकृष्णेनाक्षरातीतेन प्रेरिता सा मोहिनीं निद्रामजनि जनयामासेत्यर्थः । "कूटस्थस्य हृदाकाशात्प्रादुर्भूता सुमंगला निद्रामुत्पादयामास महामोहमयीं दृढामिति" पुराण संहिता वचनादिति ॥ १ ॥

—: भावार्थ :—

प्रश्न—सुमंगला शक्ति क्या वस्तु है ? सजातीय है अथवा विजातीय ? उत्तर—उभय विलक्षण होनेसे अचिन्त्य है उसीको मूल प्रकृति कहते हैं । यह निगूढ़ होनेसे अनिर्वचनीय है । श्वेताश्वतर श्रुतिभी ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिका वर्णन करती है यथा—" ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणै र्निगूढाम् [श्वेता० अ० १–३] जब वेदवेत्ता ऋषि ध्यानयोगाद्वारा विश्वका कारण देखनेको समाधिस्थ हुए तो स्वगुणोंसे ढकी हुई स्वयं प्रकाशरूप परमात्माकी दिव्य शक्तिको देखा, इत्यादि ।" वेदान्त दर्शनमें व्यासजीने भी " ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके [उ० मीं० १–४–९] इस सूत्रमें ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिका (१) वर्णन किया है पुराणसंहितामें भी अक्षरके हृदयसे सुमंगला शक्तिका प्रगट होना और सुमंगलासे मोहनिद्राका उत्पन्न होना लिखा है–

टिप्पणी.

(१) विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें मार्कण्डेय ऋषिने इस अचिन्त्यशक्तिका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है । यथा—

जीवस्यानस्य सर्गेण नरे मुक्तिमुपागते ।
अचिन्त्यशक्तिभि र्भगवान् जगत्पूरयते सदा ॥
ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते ब्रह्मलोक मुपागताः ।
सृज्यन्ते च महाकल्पे तद्विधाश्चापरे जनाः ॥

सृष्टिके साथ जीवोंके मुक्त होजाने पर अचिन्त्यशक्ति द्वारा अक्षर

कूटस्थस्य हृदाकाशात् प्रादुर्भूता सुमंगला ।
निद्रा मुत्पादयामास महामोहमयीं दृढाम् ॥

अतः परमात्माकी अचिन्त्य शक्तिका होना सिद्ध होता है । प्रश्न—जिसे सुमंगलाशक्तिने उत्पन्न किया वह निद्रा क्या वस्तु है? उत्तर—पूर्व ज्ञानको नाश करनेवाली वृत्तिको निद्रा कहते हैं। जैसाकि "अभाव-प्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा (योग० १—१०)" इस योग सूत्रमें लिखा है॥१

विक्षेपाऽऽवृत्तिरूपे द्वे मोहशक्ती द्विधे मते ।
विक्षेपया मनो भ्रान्तिश्चावृत्त्यावरणं भवेत् ॥ २

गू०—विक्षेपेति । विक्षेपावृत्तिरूपा इति द्विधे मोहशक्ती मते विक्षेपया मनसो भ्रान्तिरावृत्तिशक्त्या चावरणं भवेदिति ॥ २ ॥

भावार्थः—उस—मोहरूप निद्राकी "विक्षेपा और आवृत्ति" नामकी दो शक्ति हैं । विक्षेपाशक्तिसे मनमें विक्षेपरूप भ्रम उत्पन्न होता है और आवरण शक्तिसे ज्ञान ढक जाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी.

भगवान् जगतके जीवोंकी पूर्त्ति कर देते हैं । कार्य ब्रह्मलोकके नाश होने पर चार प्रकारकी मुक्तिको प्राप्त हुए जो जीव हैं वे अपने अध्यक्षके साथ जब ब्रह्म लोकको प्राप्त हो जाते हैं तब महाकल्पके प्रारम्भमें उसी प्रकारके अन्यजीव अचिन्त्य-शक्तिद्वारा उत्पन्न किये जाते हैं । वेदान्त दर्शनके 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् [उ० मी० ४।३।१०]' इस सूत्रमें व्यासजीने भी क्रममुक्तिद्वारा अत्यन्त मुक्तिको प्राप्त होना माना है अतः मानना चाहिये कि सृष्टिकी आदिमें अचिन्त्य शक्तिद्वारा जगतकी उत्पत्ति होती है ।

यदाऽत्तरमनो भ्रान्ति रावृत्तिस्तु तदाऽभवत् ।
आवृत्त्या ज्ञानरहितं महामोहस्तदाऽभवत् ॥ ३

गू०—यदेति। यदाक्षरमनोभ्रान्तिरहं मुक्तो बद्धो वेति भ्रमो जातस्तदावृत्तिरभवत् । तयावरणशक्त्या ज्ञानरहितं जातं यदा तदैव महामोहोऽभवत् तथैव ऋङ् मन्त्रैरुपदिश्यते " तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं । तथा च मनुः । आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातम–लक्षणं " इति तम एव महामोहः ॥ ३ ॥

भावार्थः—सुमंगलाद्वारा मोहरूप निद्रा उत्पन्न होतेही अत्तरके मनमें भ्रम होने लगा कि " मैं बँधा हूं किम्वा छूटा हूं; जाग्रत हूं अथवा स्वप्नमें हूं ? " उसी समय आवरण शक्तिने आकर ज्ञानको आच्छादित कर दिया । तब अत्तरको पूर्ण मोह हो गया । इसी को मनुजीने अप्रज्ञात तमोभूत–महामोह कहकर लिखा है ॥ ३ ॥

चिन्मये ह्यत्तरे पूर्ण अज्ञानं जायते कथम् ।
इतिचेन्न वितर्कोऽत्र कर्त्तव्यः श्रुतिचोदनात् ॥ ४

टिप्पणी.

(१) सृष्टिके आदि कालीन तमरूप–अज्ञानका वर्णन वेद शास्त्रोंने अनेक प्रकारसे किया है । किसीने उसे मोह बताया तो किसीके मतसे मोहरूप जल था । किसी २ का कहना कि वह तमरूप अज्ञान था; कोई उसे प्रकृति किंवा माया कहकर पुकारते हैं । वास्तवमें देखा जाय तो नाममात्र मतभेद हैं; सिद्धान्त सबका एक है । सृष्टिकी आदिमें चाहे जो मानो, परमात्मासे पृथक् एक पदार्थकी कल्पना किये

गू०—चिन्मयइति–चिन्मये ज्ञानघने अक्षरे पूर्णब्रह्मणि कथमज्ञानं जायते हीति चेन्नाऽत्रवितर्कः कार्य्यः श्रुतिचोदनात्–श्रुतिप्रमाणादित्यर्थः । श्रुतिर्यथा " द्वे अक्षरे ब्रह्मपरेत्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे इति " तथा च ऋङ् मन्त्रः " ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तप-

भावार्थः—चिन्मय–ज्ञानघन पूर्ण जो अक्षर ब्रह्म है उसमें अज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ होगा; इस प्रकारका संशय न करना चाहिये क्योंकि श्रुति इस बातका प्रतिपादन करती हैं कि ब्रह्ममें विद्या और अविद्या नामकी दो शक्ति विद्यमान् हैं । यथा—द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे (श्वेता ५–१) जिस अविनाशी अन्तरहित अक्षर ब्रह्ममें विद्या और अविद्या नामकी दो शक्ति गूढ स्थित हैं इत्यादि । " सृष्टिके आदि कारणको बताते हुए इस बातको ऋग्वेदके अघमर्षण मन्त्रने भी बड़े मर्मके साथ वर्णन किया है । यथा–" ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत (ऋग्वेद मं० १० अ० १२ सू० १९० मं० १) अर्थः—(अभीद्धात्तपसः) बढ़े हुए तपसे (ऋतं च सत्यं च) ऋत–मानसिक संकल्प और सत्य—वाचिक

टिप्पणी

विना छुटकारा नहीं अतः वेदोंने उसे संज्ञारहित अज्ञात वस्तु कहकर सबके मतोंकी एकता की है यथा—

" तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् "

अर्थः—अज्ञानसे आच्छादित जिसका कुछ नाम नहीं कहा जा सकता ऐसा तमरूप जलही सर्वत्र था अर्थात् वर्तमान जलका उत्पत्तिक्रम आकाशादिके पश्चात् होनेसे उसे मोह किंवा तमरूप जल बताया है । वास्तवमें सुमङ्गला शक्तिने जिसे उत्पन्न किया वही मोहनिद्रारूप यह तमस पदार्थ है ।

सोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायतेति । तत्राभीद्धात् अभितप्तात्तपसः हेतोः ऋतं मानसं संकल्पनमक्षरब्रह्मणो मनोऽभिलषितमित्यर्थः च पुनः सत्यं वाचिकं परमार्थं भाषणं ब्रह्मप्रियाणा मक्षरबाल्यवैभवदर्शनाभिलपितं यत् तदुभयं महाकारणं अधि उपरि प्रथम मजायत ततो रात्री–अज्ञानमजायतेति मंत्रार्थः ॥ ४ ॥

—: भावार्थ :—

सङ्कल्प (अध्यजायत) प्रथम प्रगट हुए (ततः रात्री अजायत) तदनन्तर रात्रिरूप अज्ञानावरण प्रगट हुआ ।

यहांपर अक्षरके बढ़े हुए तपसे प्रथम ऋत और सत्य दोनों संकल्प प्रगट हुए अर्थात् अक्षरातीतकी किशोर लीला देखनेके लिये अक्षरने मनही मन संकल्प किया था अतः इसे ऋत–मानसिक संकल्प कहा गया और ब्रह्मप्रिया जनोंने अक्षरकी बाललीला देखनेके लिये शब्दद्वारा प्रगट याचना की थी अतः उसे सम्भाषणरूप सत्य सङ्कल्प कहा गया है। ऋत और सत्य शब्दके साथ दो चकार होनेसे स्पष्ट दो कारण ज्ञात होते हैं । यही दोनों कारण सबसे प्रथम अधिक जायमान हुए और तदनन्तर रात्रि अज्ञानावरण उत्पन्न हुआ जिसे मोहरूप निद्रा कहा गया है । सायणाचार्य भाष्यकारनेभी उपरोक्त ऋत और सत्य शब्दका मानसिक तथा वाचिक संकल्पही अर्थ किया है । देखो—" सायणभाष्य–ऋतं मानसं यथार्थ संकल्पनम्; सत्यं वाचिकं यथार्थ भाषणम् " जब उपरोक्त श्रुतियां ब्रह्मसे अज्ञानका प्रगट होना वर्णन करती हैं तब किसी प्रकारके तर्कको स्थान नहीं । दूसरी बात–शब्द प्रमाणके विरुद्ध अन्य प्रमाणोंको मानाभी नहीं गया इसलिये भी श्रुतिविरुद्ध तर्क नहीं किया जा सकता ॥४

प्रत्यक्षमनुमानञ्च ह्युपमानन्तु शब्दजः ।
चातुर्विध्यं प्रमाणानां निरूपि गौतमानुगैः ॥ ५

गू०—चातुर्विध्यं प्रमाणानां शाब्दबलवत्त्व प्रतिपादनायाऽऽदौ प्रत्यक्षादीनुद्देशतो दर्शयति । प्रत्यक्षमिति । गौतमोनाम न्यायशास्त्राचार्य्यः तमनुगच्छन्ति तथा तैः गौतमानुयायिभिः प्रमाणानां चातुर्विध्यं निरूपिनिरूपितमिति तत्र प्रत्यक्ष मनुमान मुपमानं शब्दजञ्चेति चत्वारि प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानीति [न्या० १।१।३] गौतमीयसूत्रात् ॥ ५ ॥

भावार्थः—अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा शब्द प्रमाणकाही अधिक महत्व माना गया है, यह बतानेके लिये प्रथम प्रमाणोंके स्वरूप तथा नामोंका. वर्णन करते हैं । गौतम आदि आचार्योंने (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द प्रमाण इस प्रकार चार प्रमाण माने हैं । यथा-प्रत्यक्षानुमानोपमान-शब्दाः प्रमाणानि [न्या० अ० १ आ० १ सू० ३] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इस प्रकार चार * प्रमाण होते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी.

* प्रमाणोंके विषयमें प्राचीन कालसे मतभेद चला आता है । प्रथम तीनही प्रमाण माने जाते थे । जैसे २ विद्याका विकाश होता गया, प्रमाण बढ़ते गये । जैसे—

सांख्या अपि प्रभाषन्ते प्रमाण त्रयमेव हि ।
प्रत्यक्ष-मनुमानं च शब्दं तत्त्व विचारकाः ॥

तत्त्वोंका परिसंख्यान करनेवाले सांख्यवादी—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इस प्रकार तीनही प्रमाण मानते हैं ।

उपमानाधिकानि वै तान्येव गौतमानुगाः ।
षट् प्रमाणानि मन्यन्ते तथा वेदान्तचिन्तकाः ॥
प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं सादृश्यमेव च ।
अर्थापत्ति रभावश्च प्रोक्तान्येतानि तानि षट् ॥

प्रत्यक्षं षड्विधं प्रोक्तं घ्राणजादिप्रभेदतः ।
घ्राणजं रासनं चापि चाक्षुषं स्पार्शश्रोत्रजे ॥ ६

मानसञ्चेति विज्ञेयं प्रमाणं षड्विधं बुधैः ।
"संक्षेपतस्तु तत्रैकं त्वगिन्द्रियं विशिष्यते"॥ ७

गू०--प्रत्यक्षमिति। घ्राणजादीनां भेदतः प्रत्यक्षं षड्विधं प्रोक्तं किं षड्विधमित्यपेक्षायामाह। घ्राणजमिति। घ्राणेनजातं घ्राणजं रसनया जातं ज्ञानं रासनमेवं सर्वत्र व्याख्यानमूह्यम् चाक्षुषं स्पार्शश्च श्रोत्रजश्च मानसं चेति षड्विधं प्रत्यक्षं बुधैर्विज्ञेयमिति। वस्तुतस्तु तत्रै-

भावार्थः—ऊपर बताये गए चार प्रमाणोंमेंसे प्रत्यक्षके-(१) घ्राणज (२) रासन (३) चाक्षुष (४) स्पर्शज (५) श्रोत्रज और (६) मानस, इस प्रकार छः भेद माने गये हैं। नासिकासे सुगन्ध, दुर्गन्धके ज्ञान होनेको 'घ्राणज' कहते हैं। रसनाद्वारा मधुर, लवण, तिक्त, कषाय आदि रसोंके ज्ञान होनेको 'रासन' कहते हैं।

टिप्पणी

अर्थः—तर्कशास्त्रवालोंने पूर्वोक्त तीन प्रमाणोंके साथ उपमान प्रमाणको और दाखिल किया तब चार प्रमाण हुए। वेदान्ती लोगोंका इतनेसे निर्वाह न हुआ अतः उन्होंने अर्थापत्ति और अभाव, दो और जोड़ दिये तब लोग षट् प्रमाण मानने लगे। जैसे कि—"प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव" ये छः कहे जाते हैं। पुराणवादी निम्न लिखित ८ प्रमाण मानते हैं यथा—

पठन्त्यष्टौ प्रमाणानि तथा पौराणिका अपि ।
सम्भवैतिह्य युक्तानि पूर्वोक्तानि तानि षट् ॥

कमेव स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणां व्यापकमिन्द्रियम्—सर्वेन्द्रियाणां व्यापक-स्पर्शकृतो यो भाव विशेषः सोऽयमुपशयात्पञ्चविध इतिभावः ॥६॥७॥

—: भावार्थ :—

चक्षुद्वारा लाल, पीले, हरे आदि रूपका जो ज्ञान होता है उसे चाक्षुष कहते हैं। त्वचा आदिके छू जानेसे जो उष्ण, शीत आदिका ज्ञान होता है उसे 'स्पर्श' कहते हैं। कानोंसे ध्वनि वा शब्दद्वारा जो ज्ञान होता है उसे श्रोत्रज कहते हैं। मनकी वृत्तिसे किसी बातके ज्ञानहोनेको मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रकार छः विधका 'प्रत्यक्ष' ज्ञान माना गया है परन्तु वास्तवमें देखा जावे तो सब इन्द्रियोंमें त्वचाकी प्रधानता होनेसे एक त्वग् इन्द्रिय ही मुख्य है अर्थात् सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान एक स्पर्श इन्द्रिय जन्यही है। केवल वृत्तिभेदसे नाममात्र भेद मान लिये गए हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

टिप्पणी.

पौराणिक लोगोंका काम षट प्रमाणसे भी न चला अतः पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि षट् प्रमाणोंमें ऐतिह्य और सम्भव' इस प्रकार दो प्रमाण और सम्मिलित कर उन्हें अष्ट प्रकारका बनाय डाला।

प्रत्यक्षस्यानुमानादेः व्यभिचारोपि दृश्यते।
तस्माद् वलीयः शाब्दं वै, प्रमाणमिति मे मतम् ॥

शाब्दं प्रमाणमुत्सृज्य प्रमाणै रितरै रपि।
विचारयन्ति ये तत्त्वं ते मया नास्तिका मताः ॥

प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण कभी २ व्यभिचारी (मिथ्या) भी हो जाते हैं अतः हे व्यासजी! शब्द प्रमाणकोही सबसे बलवान माना गया है। शब्द प्रमाणको छोड़कर प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे जो लोग तत्त्वका निर्णय करते हैं; मेरी समझमें तो वे नास्तिक हैं; ऐसा पु० संहितामें लिखा है। कदाच कहो कि "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" इस लोकोक्ति अनुसार प्रत्यक्ष विषयमें अन्य प्रमाणको दुर्बल माना गया है तब प्रत्यक्ष विषयमें अन्य प्रमाण न मानने वालोंको नास्तिक क्यों कहा?

संयोग इन्द्रियार्थानां प्रत्यक्षं सत्प्रगीयते ।
एकदेशस्य विज्ञप्त्याऽनुमिति-ज्ञानमिष्यते ॥ ८

गू०—संयोग इति । इन्द्रियार्थानां संयोगः सन्निकर्षस्तज्जन्यं-यद् ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रगीयते । तथोक्तं न्यायसूत्रे "इन्द्रियार्थसन्निकर्षो-

भावार्थः—पूर्व-श्लोकमें प्रत्यक्ष प्रमाणके भेदोंको कहा अब उसका स्वरूप लक्षण बताते हैं । "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इन्द्रियार्थ-जो शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं—इनके संयोगसे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । ऐसाही न्यायसूत्रकार गौतमनें प्रत्यक्षका लक्षण किया है । यथा—" इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् [न्या० १-१-४] " अर्थ—इन्द्रियार्थ-[शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श] के संयोगसे इन्द्रिय-द्वारा उत्पन्न व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह व्यपदेश्य तथा व्यभिचारी न होना चाहिये । व्यपदेश किसी संज्ञा या नामको कहते हैं । जैसे-किसीने कहा—' इस घोड़ेको देखो ' यहां

टिप्पणी.

इसका उत्तर यही है कि पहले बौद्धवादी लोग प्रत्यक्ष और अनुमानके अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं मानते थे । उनको परास्त करनेके लिये सांख्यवादियोंने शब्द प्रमाण अधिक सम्मिलित कर उन्हें परास्त किया था अतः तबसे शब्द प्रमाणको न माननेवालोंको प्रायः लोग नास्तिक कह दिया करते थे । दूसरी बात—प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक व्यवहारमें तो सर्वांशमें प्रमाण हो सकता है, अलौकिकमें नहीं; अत एव मूलमें "तत्त्वं विचारयन्ति " ऐसा पद दिया है अर्थात् जो लोग शब्द प्रमाणके बिना अलौकिक तत्त्वको समझना चाहते हैं उन्हें नास्तिक समझना चाहिये ।

त्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति ”। एकदेशस्येति । एकदेशस्य धूमादेर्विज्ञप्त्या विज्ञानेन वह्न्यादि-

—: भावार्थ :—

पर कहनेवाला और देखनेवाला ‘ घोड़ा ’ के रूपका प्रत्यक्ष करतें हैं; दो अक्षरसे बने ‘घोड़ा’ शब्द [व्यपदेश्य] को नहीं। व्यभिचारी—किसी प्रकारसे वाधित ज्ञानको व्यभिचारी कहते हैं। जैसे—सीपमें चाँदी, रस्सीमें सर्पका भास होना व्याभिचारी है। सीपमें सीप, और चाँदीमें चाँदी, मानना अव्यभिचारी है। अतः “ व्यभिचार तथा व्यपदेश रहित इन्द्रियार्थके संयोगसे उत्पन्न व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। वस्तुतस्तु प्रत्यक्षज्ञान आत्मा, इन्द्रिय तथा मनके साथ विषयोंका संयोग होनेसे होता है; केवल इन्द्रियार्थके संयोगसे नहीं। इस बातको चरक—सूत्रस्थानके ११ अध्यायमें लिखा है। यथा—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥

टिप्पणी

तीसरी बात—शब्द प्रमाणको बलवान माननेका कारण यहभी है कि शब्दके विना प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणोंका व्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता अतः शब्द प्रमाणकोही मुख्य माना गया है। शंका—आप केवल शब्द प्रमाणसेही तत्त्व निर्णय करनेको कहते हो तो अनुमान आदिके बिना केवल शब्दसे तत्त्वका निश्चय कैसे होगा ? दूसरी बात—केवल शब्दका आधार लेकर तत्त्वका निर्णय करने-को शास्त्र निषेध भी करता है यथा—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीन—विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

देखो ! यह शास्त्रका वचन मनुस्मृतिकी टीकामें कुल्लूकभट्टने उद्धृत

रनुमानं यत्तदनुमिति—ज्ञानमिष्यते । तथा च न्यायसूत्राद्विशेषो-पलब्धिर्बोध्या तद्यथा अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेशवत् सामान्यतो दृष्टश्च इति ॥ ८ ॥

—: भावार्थ :—

(क)—अनुमान—" परामर्शजन्यज्ञानकरणकं ज्ञान मनुमानम् " परामर्शद्वारा उत्पन्न—ज्ञान हेतु हो जिस ज्ञानका उसे अनुमान कहते हैं अर्थात् किसी एक देशके विज्ञानसे किसीके स्वरूपका ज्ञान होना अ-नुमान कहा जाता है । जैसे—धूमको देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है । धूम अग्निका सहचारी एक देश होनेसे प्रत्यक्ष धूमसे अदृष्ट अग्निका ज्ञान होता है । विश्वकी विचित्र रचना देखनेसे कारणरूप ईश्वरका बोध होता है । इसका विशेष विवर्ण देखना हो तो न्यायदर्शनके " अथ तत्पूर्वकं त्रिविध मनुमानम्—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च [न्या० अ० १ आ० १ सू० ५] इस सूत्रमें देखना ॥ ८ ॥

टिप्पणी.

किया है कि केवल शास्त्रको लेकर किसी विषयका निर्णय न करना चाहिये । यदि कोई व्यक्ति युक्ति—अनुमान आदिसे रहित केवल शास्त्रका आधार लेकर तत्त्वका निर्णय करेगा तो धर्मकी हानि होगी " समाधान—देखो जी ! इसमें शब्द प्रमाणकी प्रबलताका निषेध नहीं किया किन्तु युक्तिरहित निर्णय करनेको संदिग्ध बताया है । अर्थात् शास्त्रोंके वचनोंकी संगति युक्तिपूर्वक करना चाहिये ऐसा लिखा है; कुछ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाणोंको प्रबल नहीं बताया । प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण केवल बुद्धि विकाशके लिये हैं; तत्त्व निर्णय तो शब्द प्रमाणसेही होता है; ऐसा लिखा है । यथा—

तर्कदृष्टान्त युक्त्याद्या बुद्ध्यारोहाय केवलम् ॥
श्रुत्यर्थानुगताः स्यु श्चेत्तदा ते कार्य साधकाः ॥
श्रुत्यर्थाद् विरुद्ध श्चेत्तर्कोपि स्यादसम्मतः ।

साद्दश्यदर्शनात् ज्ञानमुपमानं प्रचक्ष्यते ।
आप्तानां वचनं प्रोक्तं शाब्दमानं मुनीश्वरैः ॥ ९

गू०—साद्दश्यस्य साधर्म्यस्य दर्शनात् यद्ज्ञानं तदुपमानं प्रचक्ष्यते उच्यत इत्यर्थः । तथोक्तं न्यायसूत्रे " प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति " यथा गवादि ज्ञानेन गवयस्य ज्ञानमिति । आप्तानामिति । आप्ताः यथार्थवक्तारस्तेषां वचनं शाब्दमानं प्रमाणं मुनीश्वरैः गौतम कणादादिभिः प्रोक्तं तथा च सूत्रं " आप्तोपदेशः शब्दः [न्य० १-१-७]" एषां न्यायसूत्राणां व्याख्या वात्स्यायनकृत भाष्ये स्पष्टेतिदिक् ॥ ९ ॥

भावार्थः—अब तीसरे उपमान प्रमाणको बताते हैं । " प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् " [न्या० १-१-६] साद्दश्य धर्मके देखनेसे जो ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं । जैसे—नील गायको

टिप्पणी.

अर्थः—तर्क, द्दष्टान्त और युक्ति आदि जितनेभी प्रमाण हैं वे सब बुद्धि बढ़ानेके लिये हैं । तर्क, युक्ति, अनुमान आदि जहाँतक श्रुति—अर्थके अनुकूल होते हैं तभी तक मान्य रहते हैं । परन्तु जैसेही श्रुत्यर्थके विरुद्ध हुए नहीं कि बस, उन्हें फिर कोई प्रमाणभूत नहीं मानता । मनुजीने भी श्रुतिस्मृति विरुद्ध तर्कके आधारलेने वालेको नास्तिक बताकर बहिष्कृत किया है यथा—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

जो कोई हेतु शास्त्र तर्क अनुमान आदिका आश्रय लेकर वेद शास्त्रका अपमान करे उसे वेदनिन्दक—नास्तिक समझ सज्जन लोग समाजसे बाहर निकाल देवें " अतः माना गया है, कि शब्द प्रमाणके विरुद्ध कोई भी प्रमाण मान्य नहीं हो सकता ।

—: भावार्थ :—

न जानने वाले मनुष्यने किसी वनवासी व्यक्तिसे पूछा कि अरे भाई ! नीलगाय कैसी होती है ? वनवासीने उत्तर दिया—'गौ जैसी' यह सुनकर वह जंगलमें गया और गौ सदृश पिंडको देखकर समझ लिया कि यह नील गाय है, इस प्रकारके ज्ञानको उपमान कहते हैं।

चौथा शब्द प्रमाण—आप्तोपदेशः शब्दः [न्या० १-१-७] आप्त पुरुषोंद्वारा किया गया उपदेश शब्द प्रमाण है। "आप्तस्तु यथार्थ वक्ता" जो ऋषि मुनि अथवा महात्मा पुरुष यथार्थ बोलने वाले हुए हैं उन्हीके उपदेश वचन सर्वांशमें मान्य समझे जाते हैं॥ ९ ॥

ऐतिह्यमर्थापत्तिश्च सम्भवोऽभाव एव च।
इत्यन्याऽष्टौ प्रमाणानि प्रवदन्ति मनीषिणः॥ १०
ऐतिह्यमन्तर्भूतं स्या च्छब्दस्यान्येऽबहिर्गताः।
अर्थापत्तिप्रभृतयोऽनुमितेस्स्युस्त्रयो गणाः॥ ११

सू०—ऐतिह्यमिति। इहोचुरित्यनिर्दिष्टमकृतकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यं यथा वटेवटेयक्ष इति यत्राभिधीयमानेऽर्थेऽन्योऽर्थः प्रसज्यते, सोऽर्थापत्तिः यथा घनेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति प्रसज्यते। संभवति यत्र सोऽसंभवः यथा सहस्रे शतमिति। न भवति यत्रसोऽभावः यथा नकुलाभावे सर्प इति। इत्यन्ये मनीषिणोऽष्टौ प्रमाणानि प्रवदन्ति। तत्रैतिह्यं शब्दस्यान्तर्भूतं स्यादन्येऽर्थापत्तिप्रभृतयस्त्रयो गणाः अनु-

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव, इस प्रकार चार प्रमाण अन्य होनेंसे कोई २ आठ प्रमाण मानते हैं। जो बात इतिहास रूपमें परम्परासे चली आती है उसे ऐतिह्य कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि अमुक

मितेरनुमानस्याऽबहिर्गता अन्तर्भूता स्स्युरित्यतश्चत्वार्य्येव प्रमाणानि गणितानि एवं गौतमोप्याह तद्यथा—“ न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति-संभवाऽभावप्रामाण्यात्,” शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति संभवाऽभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाऽप्रतिषेधः इतिसूत्रद्वयमिति ॥१०॥११

—: भावार्थ :—

वट वृक्षपर यक्ष रहता है ऐसा मैंने सुना है। जो बात अर्थपरसे सिद्ध होती हो, उसे ‘ अर्थापत्ति ’ कहते हैं। जैसे किसीनें कहा कि बादलके बिना पानी नही वर्षता इस परसे सिद्ध होता है कि बादलके होनेसेही जल वर्षता है। सम्भव उसे कहते हैं जो बात घट सके। जैसे सहस्रमें सौ मनुष्य अच्छे हो सकते हैं। असम्भव सौमें हजार कहना, पानीमें पत्थर तैरते देखा है; इत्यादि बात करना असम्भव है। अभाव जैसे नकुलके अभावमें सर्पका भाव है। इस प्रकार ऐतिह्य अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, और पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द प्रमाण ” सब मिल कर आठ प्रमाण कहे जाते हैं परन्तु ‘ ऐतिह्य ’ का शब्दके अन्दर और अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभावका अनुमानके अन्दर समावेश होनेसे मुख्य प्रत्यक्ष आदि चारही प्रमाण माने जाते हैं। इसका वर्णन “ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद्–अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाऽभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाऽप्रतिषेधः (न्याय सू० २–२–२)” इस न्याय सूत्रमें स्पष्ट रूपसे किया है ॥१०–११

सर्वेषां तु प्रमाणानां बलीयश्शाब्द मिष्यते।
शाब्द प्रमाण स्वीकारादत्तरे मोह संभवः॥ १२

सू०—सर्वेषामिति। सर्वेषां प्रमाणानां तु शाब्दप्रमाणं बलीयोऽति बलवदिष्यते। ननु कथं शाब्दस्यैवबलवत्वमुक्तमिति चेत्–श्रूयतां। शब्द मन्तरेण केषांचिदपि व्यवहाराः न प्रवर्तन्तेऽतो बल-

वत्वं, शब्दार्थयोस्तु संबन्धः शब्दद्वारा तदर्थज्ञानं फलं तच्च आप्तोपदेशाद्बोध्यं। 'आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थ संप्रत्ययः' इति न्याय-

भावार्थः—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारोंमेंसे शब्दप्रमाणकोही अधिक बलवान् माना गया है। शङ्का—शब्द प्रमाणकोही बलवान् माननेका कारण क्या है ?। समाधान—' देखो जी ! शब्दके बिना देव, मनुष्य पशु आदि किसीकाभी व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जहांतक संज्ञा, नाम आदिका ज्ञान न होगा तहाँतक घट, पटादि वस्तुके लेने देनेका व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे—किसीनें कहा—अरे देवदत्त! दूध ले आ; परन्तु जबतक ले आनेवाला देवदत्त ' दूध ' किसे कहते हैं; यह न जानता हो, तबतक दूधको प्रत्यक्षमें देखते हुएभी नहीं ला सकता। किंतु मगानेवाला ज्ञाता पुरुष जब दूधके स्वरूपको शब्दद्वारा बतावेगा तभी ले आनेवाला ला सकता है; अतः शब्दको बलवान् मानना उचित है। दूसरी बात—शब्द और अर्थका वाच्यवाचक सम्बन्ध होनेसे वाचक शब्दके विना वाच्य—अर्थका बोध कदापि नहीं हो सकता। तीसरी बात—अखिल विश्वकी व्यवस्थाका हेतुभूत आप्तोपदेशका मुख्य सम्बन्ध शब्दके साथ होनेसे—शब्दार्थके बिना आप्तोपदेशका ज्ञान, और आप्तोपदेशके विना शब्दार्थका ज्ञान भी नहीं होता, अतः शब्दप्रमाणको बलवान माने विना छुटकारा नहीं। जैसा कि न्यायदर्शनकार लिखते हैं—आप्तोपदेश सामर्थ्याच्छब्दार्थ संप्रत्ययः (न्या० अ० २ आ० १ सू० ५२) आप्तजनोंके उपदेश * सामर्थ्य [शक्ति] सेही शब्द

टिप्पणी.

* " आप्तोपदेश सामर्थ्यात्—शब्दार्थ संप्रत्ययः " इस न्याय सूत्रमें आप्तोंके उपदेश सामर्थ्यसे शब्दार्थका ज्ञान होता है, ऐसा लिखा है। शङ्का—आप्तपुरुषोंके उपदेशमेंही शब्दार्थके बोध करानेका सामर्थ्य हैं,

सूत्रात् । तथैव मनुः "सर्वेषां तु नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे " इति । न च–अदृष्टा-

—: भावार्थ :—

तथा अर्थका यथार्थ ज्ञान होता है । " अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य इतीश्वरेच्छासंकेतः शक्तिः " इस पदका यह अर्थ होता है, इस प्रकारका जो निश्चय है वहीं ईश्वरकी इच्छारूप संकेत शक्ति है । अर्थात् घट पटादि शब्दके साथ अर्थका जो सम्बन्ध है वह ईश्वरकी शक्तिद्वारा ही स्थापित हुआ है । ऐसाही मनुस्मृति (१–२१) में लिखा है यथा—

" सर्वेषान्तुचनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थः—सबके नाम और पृथक् २ कर्म, एवं भिन्न २ संस्थाओंका निर्माण सृष्टिके आदिकालमें वेदके द्वाराही किया गया है । वेदको तो

टिप्पणी.

अन्यके उपदेशमें नहीं; इसका क्या कारण ? । समाधान—आप्तपुरुष कभी मिथ्या नहीं बोलते अतः उनकी वाणीके साथ अर्थ रहता है । दूसरा कारण यह भी है कि रजोगुण, तमोगुणसे रहित और तप तथा ज्ञानबलके युक्त होनेसे उनका ज्ञान त्रिकालाबाध्य और अव्याहतगतिवाला होता है अतएव आप्तजन जो कुछ भी कहते हैं वह संशयरहित यथार्थ होता है । इस बातको चरकके सूत्रस्थान ११ अध्यायमें लिखा है यथा—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता स्तपो ज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकाल–ममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥

अर्थः—रज—कामना, तम—अहङ्कार, ममता आदि गुणोंसे शून्य और तप, ज्ञान आदि बलसे युक्त जो हैं उन्हीका ज्ञान निर्मल, त्रिकालाबाध्य

र्थशब्दे कथं प्रतीतिस्स्यादितिचेत्सत्यं, दृष्टार्थवत् प्रतीतिरदृष्टेऽपि युक्ता, क्रियते च वैदिकशब्देष्वेवं प्रतीतिस्तत्रोक्त मन्त्रौषधीनां साफ-

—: भावार्थ :—

प्रत्यक्ष रूपसे ईश्वरीय ज्ञान मानाही है। शङ्का—घट, पटादि दृष्टार्थ शब्द होनेसे घटादि शब्दसे प्रत्यक्ष पदार्थकी उपस्थिति हो सकती है और घटादि शब्दवाच्य प्रत्यक्ष पदार्थ देखनेमें भी आते हैं। परन्तु अ-दृष्टार्थ-जैसे कि परमात्मा, परमधाम, स्वर्ग नरक आदि एवं प्रेमसे पर-मात्माका साक्षात्कार अथवा कैवल्यकी प्राप्ति आदि जो शब्दद्वारा वर्णन किये गए हैं; परोक्ष होनेसे इन शब्दोंसे दिखाई नहीं पड़ते तो इनके द्वारा परोक्षमें प्रतीति कैसे हो सकती है?। समाधान-देखोजी! जब आप्त पुरुषोंद्वारा उपदिष्ट घट, पट आदि शब्दोंसे पदार्थ प्रत्यक्ष हैं और असत्य नहीं होते तबतो अदृष्टार्थमें भी विश्वास करना योग्य है। वैदिक मन्त्र तथा आयुर्वेद आदिके प्रयोग सफल देखनेमें आते हैं। अमुक मन्त्रके पढ़नेसे सर्प विच्छू आदिका विष दूर हो जाता है। आयुर्वेदके अमुक प्रयोगको पथ्य पूर्वक सेवन करनेसे रोग शान्त होते देखा जाता है। जैसे यहां पर आप्त पुरुषोपदिष्ट मन्त्र प्रयोगमें यथार्थ विश्वास देखा जाता है उसी

टिप्पणी

और अव्याहतगतिवाला होता है। ऐसेही आप्त, श्रेष्ठ ज्ञानीजनोंके वचन संशय रहित होते हैं। राग द्वेष आदि रहित होनेसे ये कभी असत्य नहीं बोलते अतः इनके वचन सत्य होते हैं। यह आप्तका लक्षण सहजप्राप्त-ब्रह्मज्ञान—महात्मा पुरुषोंका है। लौकिक विषयमें तो प्रतिविषयके सम्यग् ज्ञानसेही आप्तवाक्यता मानली जाती है अर्थात् जो जिस विषयका सम्यग् ज्ञाता और निष्पक्ष है वही उस विषयका आप्त हो सकता है। जैसे किसी रोगीके विषयमें सिद्धहस्त वैद्यने कह दिया कि यह अब बच नहीं सकता, तो इस परसे विश्वास कर लिया जाता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्र पुराणोंके वचनोंको भी आप्त वचन मानकर प्रमाणभूत माना गया है।

ण्यात् तथाच न्यायसूत्रं–मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् "। तथा सांख्यसूत्रं निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यमिति पुनः 'अत एव च नित्यत्वमिति मीमांसासूत्रेणापि शब्दो नित्य इत्युक्तः। नित्यत्वादपि शब्दस्य बलवत्त्वं तस्मादक्षरे मोहकथनं युक्तम् ॥१२॥

—: भावार्थ :—

प्रकार स्वर्ग नरक, मुक्तिधाम, परमात्मा आदिके बोधक शब्दोंपर भी यथार्थ विश्वास करना चाहिये । न्यायदर्शनकार गौतम भी इस प्रकार अदृष्टार्थमें विश्वास करनेका उपदेश करते हैं । यथा—मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्–आप्त प्रामाण्यात् (न्या० २–१–६८) अर्थः–मंत्र तथा आयुर्वेदके प्रमाणकी भांति आप्त पुरुषोपदिष्ट होनेसे स्वर्ग, नरक, परमात्मा, परमधाम आदि अदृष्टार्थ शब्दोंकी प्रमाणिकता हो सकती है । सांख्य दर्शनकारने भी " निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् [सांख्य ५–५१] अपने इस सूत्रमें वेदादिको स्वतः प्रमाण माना है । " अत एव च नित्यत्त्वम् (उ० मी० १–३–२९) " इस वेदान्तदर्शन सूत्रमें व्यासजीने भी शब्दको नित्य कहकर उसकी प्रबलता सूचित की है । स्वामी श्री प्राणनाथप्रभुजीने भी सब प्रमाणोंकी एकवाक्यता वेद शास्त्रानुसारही करनेका उपदेश दिया है । यथा—

" जिन जानों शास्त्रोंमें नहीं, शास्त्रोंमें सब कुछ ।
पर जीव सृष्टि क्या जानहीं, जिनकी अकल है तुच्छ ॥
शास्त्र ले चले सद्गुरु सोइ, वाणी सकलको एक अर्थ होइ "

इत्यादि सब लोगोंने शब्द प्रमाणकोही मुख्य माना है अतः शब्दका बलवान् होना सिद्ध है और शब्द प्रमाणानुसार अक्षरको मोह होना सम्भव पाया जाता है ॥ १२ ॥

नैषा तर्केणेति श्रौतैर्मृषा तर्को निषिध्यते ।
मृषातर्ककरो ब्रह्मण्यज्ञो नास्तिक उच्यते ॥ १३

सू०—अथ च-ब्रह्मणि मिथ्या तर्को न युक्त इत्याह, नैषात-र्केति । नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठेति कठशाखान्तर्गतेयं श्रुतिरित्यादि श्रौतैः श्रुतिवाक्यैर्मृषातर्को निषि-ध्यते निवार्यत इत्यर्थः । तर्काऽप्रतिष्ठानादपीति ब्रह्मसूत्रमथात्रैवा-नुकूलं बोध्यं । मृषातर्ककर इति । योऽज्ञो ब्रह्मणि तद्विषये मिथ्या-तर्ककरो वेदविरुद्ध-तर्ककरः स नास्तिक उच्यते " तथैव मनुः-" योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक इति " [मनु० २-११] न च " प्रत्यक्ष-मनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म-

अवतरण—उपरोक्त ८ श्लोकोंद्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका स्वरूप तथा उनकी अप्रमाणिकता बताते हुए त्रिकालाबाध्य शब्द प्रमाणकी प्रबलतासे अक्षरब्रह्मको मोह होना सिद्ध किया गया । अब यह बताया जाता है कि ब्रह्म विषयमें मिथ्या तर्क करनेका शास्त्रमें निषेध है अतः तर्कसे तत्त्वका निर्णय नहीं किया जा सकता ।

भावार्थः—ब्रह्मविषयमें तर्क करनेको श्रुति निषेध करती है । यथा—" नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! [कठोप० १-२-९] " ब्रह्मविद्याका वर्णन करते हुए यम नचिके-ताको उपदेश देते हैं—(प्रेष्ठ) हे प्रिय नचिकेता ! (अन्येन सुज्ञा-नाय एव प्रोक्ता) अन्य किसीके द्वारा अच्छे ज्ञानके लिये कहा हुआ (एषा मतिः) यह उपदेश (तर्केण न आपनेया) तर्कसे खण्डन करने योग्य नहीं है । " वेदान्त दर्शनमें व्यासजीने भी " तर्काऽप्रतिष्ठा-नादप्यन्यथानुमेयमित्यादि (ब्रह्म सू० २-१-११) में तर्कको अप्रति-

शुद्धिमभीप्सिता [मनु० १२—१९५] इत्यादिना मनुरपि प्रत्यक्षमनुमान पूर्वकमेव शास्त्रस्य प्रामाण्यं निर्वक्ति—इति चेन्न" "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना; यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः (मनु० १२—१९६) इति मनुना स्वमुखेनैव वेदशास्त्र—विरुद्धतर्कस्य निन्दितत्वाद् ब्रह्मविषये तर्कस्याप्रतिष्ठैव बोध्या इति भावः ॥ १३ ॥

—: भावार्थ :—

ष्ठित बताया है । मनुजीने भी (मनु० २-११) तर्कको अमान्य बताकर उसका बहिष्कारही किया है यथा—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

जो तर्कसे वेदशास्त्रका खण्डन करे उस वेदनिन्दक नास्तिकको सभासे बाहर निकाल देना चाहिये। देखो ! इस प्रकार किसीने भी तर्कको प्रमाण नहीं माना । जैसे—किसीने तर्कसें अपने पक्षको स्थापित किया; दूसरेने अपने प्रबल तर्कसे उसका खण्डन कर दिया; इस प्रकार तर्कसे निर्णय नहीं हो पाता अतः तर्कको अप्रतिष्ठित माना गया है। प्रश्न—मनुजीने (१२-१९५) तो प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र तीनोंसेही धर्मके निर्णय करनेको कहा है यथा—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धि-मभीप्सिता ॥

अर्थः—धर्मशुद्धिकी इच्छारखनेवाला पुरुष प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगम द्वारा निर्णीत धर्म कार्यको करै " ऐसा लिखा है और आप तर्कको अप्रतिष्ठित बताते हैं तब कौनको सत्य माना जावे ? । उत्तर-देखोजी ! मनुजीने व्यवहार विषयमें शब्द प्रमाणके अनुकूल प्रत्यक्ष

—: भावार्थ :—

और अनुमानको माना है किंतु शास्त्र विरुद्ध तर्कका तो खण्डनही किया है
यथा-- आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

अर्थः—जो वेद शास्त्रके विरुद्ध तर्कसे आर्षवचन तथा धर्मशास्त्र के अर्थका अनुसन्धान करता है वही धर्मको जानता है; इतर—वेदशास्त्रके विरुद्ध तर्क करनेवाला नहीं " इस प्रकार वेदशास्त्रके विरुद्ध तर्क करनेको निषेध किया है; अतः तर्ककी प्रतिष्ठा तर्कमेंही है, ब्रह्म विषयमें नहीं ॥ १३

**निद्रार्णवो महान् जातस्त्वक्षरस्य हृदीच्छया ।
तस्मिन्निद्राम्बुधौ मग्नं मनस्तस्य महात्मनः ॥ १४**

गू०—अक्षरस्य हृदीच्छया महान्निद्रार्णवो—निद्रासागरो जातः । तथाह ऋङ्मन्त्रः "ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः" इति तथैव मन्त्रान्तरम् । तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" अग्रे सृष्ट्यादौ तमसा अज्ञानेन गूढं संवृतं तम आसीत्; निद्रामहा-

भावार्थः—सुमङ्गला शक्तिने जिस मोहरूप निद्राको उत्पन्न किया था वही निद्रा इच्छासे अक्षरके हृदयमें महान सागररूप हो गई । उसी निद्रासागरमें अक्षर भगवान्जीका मन डूबने लगा । इसका उल्लेख ऋग्वेदके अघमर्षण मन्त्रमें इस प्रकार आता है--"ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः (ऋ० मं० १०–१२–१९०) " अर्थः—(ततः) अक्षर ब्रह्म तथा ब्रह्मसृष्टिके संकल्पानन्तर (रात्री अजायत) रात्रिरूप निद्रा उत्पन्न हुई (ततः समुद्रः अर्णवः) तत्पश्चात् अर्णव—निद्रारूप जलसे भरा हुआ मोह—समुद्र उत्पन्न हुआ । प्रश्न—इस मंत्रमें रात्रिके पीछे जलसे भरे हुए समुद्रका वर्णन है, कुछ मोहरूप समुद्रका नहीं; तो आप मोह अथवा निद्रा शब्दकी योजना कहांसे करते हो ? । उत्तर—दे-

मोहः अभूदित्यर्थः। इदमेव सर्वं तयाप्रकेतं वृद्धं सलिलं जलरूप-मासीदिति मन्त्रार्थः। निद्रा एवाम्बुधि स्तस्मिन्नभोरक्षरस्य मनः मग्न मासीदिति शेषः। तथैव ऋङ् मन्त्रः [मं० १०।१०।११४। मं० ४] " एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे " अत्र मनसः पक्षिरूपेण कथनात्यौंस्त्व निर्देशः मन्त्रार्थस्तु स्पष्ट एव ।।१४

—: भावार्थ :—

खोजी ! सृष्टिके उत्पत्तिक्रमानुसार प्रथम मोहरूप जलकाही उत्पन्न होना पाया जाता है; इस जलका नहीं । इस जलका उत्पत्तिक्रम तो आकाश, वायु और अग्निके पश्चात् पाया जाता । जैसे कि–" एतस्माद्वा आत्मन आ-काशस्सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्य पृथिवी [तै० उ० २–१] इस श्रुतिमें आकाशके वाद वायु, वायुके वाद अग्नि और अग्निके वाद जलके उत्पन्न होनेका क्रम है । यदि रात्रिके पीछे इस जलकी उत्पत्ति मानें तब तो उपरोक्त श्रुतिसे विरोध होगा । सांख्य दर्शन में भी प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि " (१–६१) प्रकृतिसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारके पश्चात् तन्मात्रा उत्पन्न होनेका क्रम है । जब पृथिवी तथा जलकी उत्पत्ति आकाश आदिके पश्चात् है तब रात्रिके पीछे कहा गया समुद्र, पार्थिव जलका नहीं हो सकता; इस लिये रात्रि शब्दके पीछे कहा गया समुद्र, पार्थिव जलका नहीं किन्तु रात्रिरूप अज्ञानही निद्रासागरके रूपमें परिणत होनेसे मोहसमुद्र कहा गया है ; ऐसा मानना चाहिये । देखो ! यह बात निम्न लिखित वेद मंत्रसे भी स्पष्ट होती है—

तम आसीत्तमसा गूढ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ।।

[ऋग्वेद मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० ३]

—: भावार्थ :—

अर्थ:—(अग्रे) सृष्टिके पहले (तमसा गूढं) अज्ञानसे—आच्छादित—ढका हुआ (तमः आसीत्) अन्धकार था (इदम्) यह मोहरूप तमही (प्रकेतं * अप्रकेतं वा) बढ़ा हुआ अथवा अप्रज्ञात (सर्वम्) सम्पूर्ण—सब ओर (सलिलम्) जलरूप फैला हुआ (आः) + था (तुच्छयेन) तुच्छ—माया—अज्ञान करके (आभू) अक्षरब्रह्मका मन अथवा हृदयाकाश, (यत्) जो (अपिहितम्—आसीत्) ढक गया था। (तत्) वह (तपसः महिना एकम्) अक्षर ब्रह्मके तपकी एकमात्र महिमासेही (अजायत) हुआ है; अन्यथा सच्चित्स्वरूप अक्षरके मनका अज्ञानसे आच्छादित होना सम्भव नहीं। देखो! इसमन्त्रमें तमको जलरूप वर्णन किया है अतएव अघमर्षण मंत्रमें आए हुए 'अर्णव' शब्दसे मोहरूप निद्रासमुद्रकाही वर्णन मानना चाहिये। इसी निद्रासमुद्रमें अक्षर ब्रह्मके मनके घूमनेका वर्णन नीचे लिखे वेद मन्त्रमें आता है यथा—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥

[ऋ० मं० १० अनु० १० सूक्त ११४ मं० ४]

टिप्पणी

* नोट—इस मन्त्रमें प्रकेतंके स्थानमें 'अप्रकेतं' ऐसा भी पाठ है। अग्रे शब्द पूर्वमें होनेसे दोनोंही पाठ हो सकते हैं। प्रकेतंका अर्थ वढ़ा हुआ होता है; अप्रकेतंका अर्थ अप्रज्ञात अथवा 'थोड़ा वढ़ा हुआ' होता है। किसी २ ने 'प्रकेतं' का अर्थ 'कुछ भी नहीं' ऐसा माना है। अर्थसङ्गति सब अर्थोंसे हो जाती है।

\+ 'सर्वं आ इदम्' इसमें आया हुआ 'आः' (अ—अस) यह अस धातुके भूतकालका रूप है, जिसका 'आसीत' की भाँति अर्थ होता है अर्थात् जिस अर्थमें 'आसीत्' का प्रयोग होता है उसी अर्थमें 'आः' शब्दका प्रयोग हुआ है।

अर्थः—[सः एकः सुपर्णः] उस मनरूप एक पक्षीने, [समुद्रम् आविवेश] समुद्रमें प्रवेश किया [सः] उसने [इदं विश्वं भुवनं] इस सम्पूर्ण भुवनको [विचष्टे] देखा था। सब ओर घूमनेवालाहोनेंसे मनको यहाँ पर पक्षीरूपसे + वर्णन किया है। द्रष्टा अक्षर पुरुषका मनही अज्ञानावृत हो निद्रारूप समुद्रमें प्रवेशकर मोहद्वारा अथवा स्वप्नद्वारा इस ब्रह्माण्डको देखने लगा; ऐसा मन्त्रपरसे स्पष्ट होता है। [तं] उस मनको [पाकेन मनसा] पवित्र मनसे महात्मा लोग (अन्तितः पश्यम्) समीपसे देखते हैं (तं) उस मनरूप पक्षीको (माता) माया (रेल्हि) मिला लेती है (उ) और (सः) वह पक्षीरूप अक्षरका मन (मातरम्) मायाको (रेल्हि) मिला लेता है अर्थात् दोनों परस्पर मिल जाते हैं। इसपरसे सिद्ध होता है कि 'सुपर्ण' शब्दसे कहा गया अक्षर ब्रह्मका मनही है और उसीने मोहरूप समुद्रमें प्रवेश कर विश्वरूप होनेकी कल्पना की है ॥ १४ ॥

टिप्पणी.

+ इस मन्त्रमें आया हुआ ' सुपर्ण ' शब्द बड़े महत्त्वका है। जिस पक्षीके पर मजबूत होते हैं वह अव्याहत गतिसे सब ओर विचरा करता है। मनका भी यही हाल है। इसकी गति पक्षीसे कहीं अधिक विचित्र है; तिसमें भी फिर अक्षर ब्रह्मका मन कि, जिसे अमृतस्वरूप वर्णन किया है उसके लिये तो कहनाही क्या? किन्तु यह सृष्टिकी आदिका विषय होनेसे बहुत कठिन और विवादास्पद है। इसको लोगोंने अनेक प्रकारसे वर्णन किया है। विचार बुद्धिसे देखा जावे तो उपरोक्त कथन बहुतही सारगर्भित है क्योंकि सृष्टिके आदिकालमें मोहतत्त्वका उत्पन्न होना सब लोगोंने माना है। मोह एक ऐसी वस्तु है कि उसके लिये समुद्रकी उपमा भी थोड़ी है। जब अक्षर ब्रह्मका मन विक्षेपा और आवरण नामकी वृत्तियोंसे आच्छादित हो गया तो एक प्रकारके मोहसमुद्रमें गोता लगाना तो स्वाभाविक है। जगतमें भी कोई मनुष्य विक्षेप और आवरणसे युक्त होवे तो उसकी दशाको

मनस्तस्य महाविष्णुर्जगद्धेतुस्तु व्यापकः ।
निद्रावृतं मनस्तत्राप्यण्डभूतं जलेऽतरत् ॥ १५

सू०—महाविष्णो स्स्वरूपं दर्शयन्नाह मन इति । तस्याक्षरस्य मन एव महाविष्णुरिति । महतो महत्तत्त्वस्योत्पादको विष्णुः महाविष्णुरिति मध्यमपदलोपी कर्म्मधारयस्तथोक्तं—महदुत्पादकत्वं विष्णोः नारदीयतन्त्रे–विष्णोस्तु त्रीणिरूपाणीत्युपक्रम्य प्रथमं महतः स्रष्टृद्वितीयं त्वण्डसंस्थितं; तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।

भावार्थः—उस अक्षर ब्रह्मका मनही महाविष्णु है जो जगतका कारण होते हुए सम्पूर्ण चराचर विश्वमें व्यापक हो रहा है " येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीत–ममृतेन सर्वम् [यजुः अ० ३४ मं० ४]" अर्थः—(येन अमृतेन) जिस अमृत स्वरूप मनने (भूतम्) जो कुछ उत्पन्न हो चुका था (भविष्यद् भुवनम्) जो कुछ उत्पन्न होनेवाला जगत है (इदं सर्वम्) इस सबको (परिगृहीतम्) सब ओर से ग्रहणकर रखा था ।" निद्रासे आवृत वही मन अण्डाकार हो मोह जलमें तैरने लगा । [प्रश्न]—महाविष्णुका शब्दार्थ क्या है ? । उत्तर–मह-

टिप्पणी.

देख कर भी लोग कहने लगते हैं कि अरे ! भाई ! किसी मोहसमुद्रमें गरक हो रहे हो, ऐसा लगता है । बोलिये ! यहां पर मोहका समुद्र बिना जलके तैयार हो गया । इसी प्रकार अज्ञानावृत होनेसे जो अक्षर ब्रह्मका मन संकल्प विकल्पकी परम्परासे मोहवश होकर अज्ञात दशामें विश्वको देखने लगा है उसीको इस मन्त्रने 'सुपर्ण और समुद्रका' रूपक बांधकर वर्णन किया है । अन्यथा पक्षी समुद्रमें नहीं प्रवेश करता वह तो आकाशमें भ्रमण करता है । परन्तु मनको अज्ञानावृत देखकर " मोह समुद्रमें प्रवेश किया " ऐसा लिखा गया है । इस बात पर ऊपर लिखे मन्त्रके आगेवाला मन्त्र अधिक प्रकाश डालता है यथा—" सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति-

तथा ब्रह्मवैवर्त्तेऽपि महाविष्णुर्नाम पुरुष उक्तस्तद्यथा " महाविष्णोश्च लोम्नां वै विवरेषु च शौनक ! प्रतिविश्वेषु दिक्पाला ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा " इति । यो जगतो हेतुः मनोविजृंभितं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरमिति वचनात्सिद्धं जगद्वीजत्वं मनसा इति । सर्वस्मिञ्जगति तद्व्यापकत्वमपि युक्तमिति । तत्र जले मोहरूपे निद्रयावृतं वेष्टितं मनोऽप्यण्डभूतं सत् अतरत् ॥ १५ ॥

—: भावार्थ :—

तत्त्वका उत्पन्नकर्ता जो विष्णु है उसे महाविष्णु कहते हैं " महत्तत्वस्य उत्पादको विष्णुः महाविष्णुः—इति मध्यमपदलोपी कर्मधारय समासः" प्रश्न—क्या विष्णु बहुत हैं ? । उत्तर—जी ! हां, विष्णु चार हैं यथा—(१) महाविष्णु, (२) अण्डस्थविष्णु अर्थात् आदिनारायण; [३] सर्वभूतहृदयस्थ विष्णु और [४] रमावैकुण्ठवासी विष्णु । प्रश्न—इस विषयमें कोई प्रमाण भी है ? । उत्तर—जी ! हां, नारदीय तन्त्रमें तीन विष्णु लिखे हैं यथा—

" विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यतो विदुः ।
प्रथमं महतः स्रष्टुर्द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ॥
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते "

टिप्पणी.

(ऋ० मं० १० अ० १० सू० ११४ मं० ५)" यह सुपर्ण एक ही है तथापि विद्वान कवि लोग बहुत प्रकारसे कल्पना किया करते हैं । इस मन्त्रके शब्दोंपर दृष्टिपात करतेही पता लग जाता है कि यह मन्त्र सोलह आने सत्य बोलनेवाला है । मन्त्र कहता है कि " एकं सुपर्णं सन्तं " पक्षी एकही है मगर कवि लोग अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं । अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते व्यर्थमें बहुधा कल्पना किया करते हैं । कवि और कल्पना शब्द तो जगत प्रसिद्ध हैं ।

—: भावार्थ :—

इस प्रकार तीन विष्णु होनेका उल्लेख पाया जाता है और चौथे विष्णुको भागवतमें लिखा है यथा—

वैकुण्ठो निर्मितो येन लोकालोक नमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्यास्तत्प्रियकाम्यया ॥

रमाकी प्रार्थनासे विश्ववन्द्य वैकुण्ठको विष्णुने रचा। अन्य ग्रन्थोंमें भी महाविष्णुका वर्णन आता है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें लिखा है—

" महाविष्णोश्च लोम्नां वै, विवरेषु च शौनक ! ।
प्रतिविश्वेषु दिक्पाला ब्रह्मविष्णु—महेश्वराः ॥ "

इत्यादि प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि विष्णुके चार स्वरूप हैं ॥१५॥

हिरण्यगर्भरूपेण स एवाण्डोऽभिधीयते ।
स एवाग्र्यः स्वर्गभूधृक् भूतानामीश उच्यते ॥१६

सू०—स एवाण्डो हिरण्यगर्भः इत्याह । हिरण्यगर्भ रूपेणेति अर्थस्तु स्पष्टः । स इति—अग्रभवोऽग्र्यः स्वर्गश्चभूतश्चतौ धरतीति

टिप्पणी

ये कभी यथार्थ नहीं होते । बहुधा शब्द तो इनकी और अच्छी तरह पोल खोलनेके लिये आया है । और 'एकं सन्तं' यह शब्द कवियोंकी निरंकुशताका द्योतक है कि एक होते हुए भी जबरदस्ती अनेक रूपसे कल्पना कर डालते हैं । बोलिये ! अब उपरोक्त सुपर्ण या अक्षरके मनके विषयमें लोगोंके मतभेदोंका आधार लेकर इस बातका खण्डन भी करें तो वेद स्वयं कहता है कि मतभेद कल्पित हैं उनमें सार नहीं। हम विस्तार भयसे सृष्टि विषयके भेदोंको यहां पर उपस्थित नहीं करते मगर उनका मूल्य कितना है यह तो उपरोक्त मन्त्रने स्पष्ट बता दिया है अतः अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं ।

तथात्र यजुस्संहितास्थमन्त्रः " हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेमेति " ॥ १६ ॥

भावार्थः—जब निद्रासे वेष्टित अक्षर ब्रह्मका मन अण्डाकार हो मोहरूप जलमें तैरने लगा तब उसका नाम हिरण्य गर्भ हुआ । सृष्टिके आदिमें होनेसे इसे सबका धारण कर्ता कहा गया है यथा—

हिरण्यगर्भ स्समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

अर्थः—[अग्रे] पहले यही अक्षरका मन (हिरण्यगर्भः) ब्रह्म-अण्डेमें गर्भरूपसे अवस्थित प्रच्छन्न अवस्थामें [समवर्तत] वर्तमान था [जातः सन्] प्रगट होतेही [भूतस्य] प्राणीमात्रका (एकः पतिः) एकही पति मुख्य पालनकर्ता [आसीत्] हुआ [सः] उसने [पृथिवीम्, द्याम्, उत इमाम्] पृथिवी, द्युलोक एवं इस त्रिलोकीको निर्माणकर (दधार) धारण किया, (कस्मै देवाय) उसी आदि पुरुषके निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान करते हैं । इस प्रकार ब्रह्म-अण्डके गर्भमें अवस्थित हिरण्य गर्भरूप अक्षरके मनका जगद् वीज तथा व्यापक होना निश्चित पाया जाता है ॥ १६ ॥

वर्षाणां तु सहस्रान्ते शयानं वारिनिद्रया ।
तमण्डं बोधयामास चैतन्याभास ईश्वरः ॥ १७

गू०—वर्षाणामिति । वर्षाणां सहस्रान्ते तु निद्रया वारिजले शयानं तमण्डं चैतन्याभासः सबलिङ्काख्याक्षरस्वभावरूपस्याभास ईश्वरो बोधयामास । तथोक्तं भागवते तृतीयस्कन्धे " वर्षयुग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयं कालकर्म्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् " इति ॥ १७ ॥

भावार्थः—सहस्रों वर्षके बाद निद्रासे आवृत मोहरूप जलमें तैरते हुए अथवा सोते हुए उस अण्डेको चैतन्याभास ईश्वरनें बोधित किया। अक्षर भगवानजीका जो सबलिक नामका स्वभाव है वह चिदंश होनेसें चैतन्य है। उसके आभासरूप ईश्वरने उस अण्डेको चेतन कर जाग्रत किया। जिस प्रकार आतशी शीशीमें सूर्य प्रतिबिम्बित हो उसे प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार चिदंश सबलिकने प्रतिबिम्बित हो कर ईश्वररूपसे उसे चेतन किया। इसका वर्णन भागवतके तृतीय स्कन्धमें विस्तरशः आता है यथा—

वर्षयुग सहस्रान्ते तदण्डमुदके शयम्।
कालकर्म स्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रि बाह्वक्षः ❋ सहस्रानन शीर्षवान्॥

इत्यादि। ऊपरके श्लोकमें 'जीव' शब्दका प्रयोग ईश्वरके लिये आया है। "जीवयति सर्वान्प्राणिनः—इति जीवः" सब प्राणियोंको जीवन प्रदान करता है अतः ईश्वरका नाम जीव है। इस व्युत्पत्ति परसे स्पष्ट होता है कि जीव शब्दसे यहांपर ईश्वरही अभिप्रेत है॥ १७॥

टिप्पणी.

❋ सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सभी वेद संहिताओंमें एकही रूपसे वर्णित है। यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें, अथर्व संहिताके १८ वें काण्डमें और ऋग्वेदके मं० १० अ ७ सूक्त ६० में "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इत्यादि मन्त्रसे प्रारम्भ कर सम्पूर्ण सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिका विषय है। बल्कि इसमें आदि पुरुषका वर्णन होनेसे सूक्तका नामही पुरुषसूक्त पड़गया है। जिन लोगोंको पुराणोंके प्रमाणोंसे अरुचि हो वे इन वेदसंहिताओंमेंसे मन्त्रोंको देखकर विश्वास कर सकते हैं।

उत्थितोऽसौ पुमानण्डान्नारायण इतीर्य्यते ।
नयते प्रापयत्येष विश्वं नाक्षर उच्यते ॥ १८
नुरक्षरात्तु यज्जातं नारं निद्रात्मकं जलम् ।
नारेऽस्ति चायनं यस्य नारायण इतीर्य्यते ॥ १९

गू०—तदण्डान्नारायणनामपुरुषो जात इत्याह उत्थित इति । नयते इति सार्द्धं श्लोकेन नारायणनाम व्याख्या दर्शयते । विश्वं नयते प्रापयति योऽसौनाक्षरस्तस्माज्जातं नारं निद्रारूपं जलमित्यर्थः । तस्मिन्नारे निद्रारूपेजलेऽयनं स्थानं यस्य सो नारायण इति ॥१८॥१९

भावार्थः—सबलिक नाम पुरुषके चिदाभासको प्राप्त कर जब अण्डस्थ पुरुष चेतन होकर उठा तब उसका नाम नारायण हुआ । 'ना' नाम अक्षर पुरुषका है । " विश्वं नयतें प्रापयति योऽसौ ना—अक्षरस्तस्माज्जातं नारं तस्मिन्नारेऽयनं स्थानं यस्य सो नारायणः " विश्वको प्राप्त करनेके कारण ' ना ' नाम अक्षर ब्रह्मका है । नासे उत्पन्न होनेके कारण मोह जलको नार कहा गया है । नार—जलमें अयन—स्थान है जिसका उसे नारायण कहते हैं अर्थात् हिरण्यगर्भ पुरुषका मोहरूप जलमें निवास होनेसे उसका नाम नारायण कहा गया है ॥ १८ ॥ १४

आपो नारा इति प्रोक्ता इत्येवं मनुनोदितम् ।
नारायणस्त्वेक एव विश्वाद्यः प्रणवात्मकः ॥ २०

गू०—आप इति अत्र स्मृतिं प्रमाणयति । तद्यथा "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति । नारायण इति विश्वस्य आद्यः प्रणवः आत्मा यस्य सः । तथोक्तं पुराण संहितायां " तस्मादेव समुत्तस्थौ भूत्वा नारायण स्स्वयं । पञ्चावयवसंयुक्तस्स एव प्रणवाभिधः " ॥ २० ॥

भावार्थः--प्रथम श्लोकमें नारायणका निर्वचन किया गया है अब उसे प्रमाण सिद्ध करनेके लिये मनुस्मृति (मनु १–१०) का वचन उद्धृत करते हैं—

" आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

अर्थः—(नारा इति आपः प्रोक्ता) नार शब्दसे जल कहा गया है (वै आपः नर–सूनवः) नर–अक्षर पुरुषसे उत्पन्न होनेके कारण निश्चय जल नररूप अक्षर ब्रह्मका पुत्र है (यदस्य पूर्वम् ताः अयनम्) आदि पुरुषका प्रथम जलमें अयन–स्थान हुआ (तेन नारायणः स्मृतः) इससे वह पुरुष नारायण कहा गया। वह नारायण पुरुष एकही है जो विश्वका आद्य है और जिसकी आत्मा–अर्थात् बुद्धिमें वेदोंका बीजभूत ॐकारका स्थान है। प्रश्न–नारायणके आत्मामें ॐकारके होनेका प्रमाण क्या है ?। उत्तर–देखो जी! ओङ्कारको वेदोंका बीज बताया है। अकारसे + ऋग्वेद, उकारसे यजुर्वेद और मकारसे सामवेद एवं अर्धमात्रासे अथर्व वेदकी उत्पत्ति लिखी है अतः वेदोंका और ॐकारका साहचर्य्य है। वेदोंका बाह्य प्रगट होना भी नारायण पुरुषके श्वाससे लिखा है यथा—अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्—ऋग्वेदो यजुर्वेदस्साम-वेदोऽथर्वाङ्गिरसः [बृ० २–४–१०] इत्यादि श्रुति नारायणके श्वाससे वेदोंका प्रगट होना वर्णन करतीं है। जब वेद श्वास हैं तब तो

टिप्पणी.

+ ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालं त्रयं तथा ॥

अर्थः—ब्रह्मवादी लोगोंने ओंकार अक्षरको ब्रह्म बताया है अतः उसके स्वरूप, स्थान तथा कालका वर्णन कियाजाता है ॥ १ ॥

—ः भावार्थ :—

प्रणव जो वेदोंका बीज है वह अवश्य नारायणके अन्तर्गत होना चाहिये। क्योंकि बीजके बिना वृक्षका होना सम्भव नहीं हो सकता। पुराण संहितामें भी नारायणको प्रणवात्मक वर्णन किया है यथा—

तस्मादेव समुत्तस्थौ भूत्वा नारायण स्स्वयम्।
पञ्चावयवसंयुक्तः स एव प्रणवाभिधः॥

इत्यादि प्रमाणोंसे नारायणका प्रणवात्मक होना पाया जाता है अतः नारायणके अन्तर्गत ओंकारका स्वीकार करना योग्य है॥ २०॥

सचापश्यन्महाम्भोधावात्मनोऽपरः पुमान्।
अहमेवास्मि नान्योऽस्ति बहुस्यामित्यमन्यत॥ २१

गू०—तस्मादहंकारोजात इत्याह स इति। सः परः पुमान्महाम्भोधावात्मनोऽन्यमपश्यन्सन् मत्तोऽन्योनास्ति अहमेवास्मि चातो बहुस्यामीत्यमन्यतेत्यन्वयः "एकोऽहं बहुस्यामिति श्रुतेः॥ २१॥

भा०—वह नारायण पुरुष महान मोहसागरमें अपनेसे अन्य किसीको न देखकर विचार करने लगा कि 'एक मैं ही हूं; अन्य कोई

टिप्पणी.

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥

अर्थः—ओंकारकी अकारमात्रासे ऋग्वेद, गार्हपत्य-अग्नि, पृथिवी स्थान, और ब्रह्मा देवता, माने जाते हैं॥ ४॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

अर्थः—उकार मात्रासे यजुर्वेद, अन्तरिक्षस्थान, दक्षिणा अग्नि, विष्णु भगवान देवता समझना चाहिये॥ ५॥

—: भावार्थ :—

नहीं अत एव मैं बहुत हो जाऊं अर्थात् बहुत रूपमें हो जाऊं। यही बात 'एकोऽहं बहुस्याम्' इत्यादि श्रुतियोंमेंभी लिखी है, कि उसने बहुत होनेकी इच्छा की ॥ २१ ॥

तस्मादहंकृतिर्जाता साप्यासीत्त्रिविधात्मनः ।
राजसस्तामसश्चापि सात्विकश्चेति भेदतः ॥ २२

भा०—"'एकोऽहं बहुस्याम्' एक मैं बहुत रूप होऊं" इस प्रकारका अहंभाव होतेही उस पुरुषसे अहंकार प्रगट हुआ। वही अहंकार राजस, तामस और सात्विक रूपमें परिणमित होनेसे तीन प्रकारका हुआ ॥

राजसादिन्द्रियाण्यासन् ज्ञान कर्म्म मयानि च ।
श्रोत्रं त्वङ्नेत्र रसना घ्राणमिन्द्रियपञ्चकम् ॥ २३
ज्ञानं वदन्ति मुनयस्त्वितोऽन्यत्कर्म्म संज्ञकम् ।
वाणी पाणी च पादौ च पायूपस्थौ तथैव च ॥२४

गू०—राजसादिति। केचिदिन्द्रियाणि भौतिकान्याहु स्तथाप्यत्र कपिलादि सिद्धाभावसारेणाहंकारिकत्वमेवोक्तं तथोक्तं (सांख्य अ २-२० सूत्रे) आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानीति" एतत्सूत्र-

टिप्पणी

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीय स्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

अर्थः—मकार मात्राका सामवेद, द्युलोकस्थान, आहवनीय नामक अग्नि, ईश्वर देवता है, इस प्रकार ब्रह्म विद्योपनिषदमें लिखा है। और भी अन्य ग्रन्थोंमें इसका वर्णन आता है किन्तु विस्तार भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

व्याख्या विज्ञानभिक्षुकृत भाष्ये स्पष्टा, श्रोत्रं च त्वक् च नेत्रं च रसना च घ्राणश्चेति समाहार द्वन्द्वः ॥ २२ ॥

भा०—राजस अहंकारसे ज्ञान-इन्द्रिय और कर्म-इन्द्रिय उत्पन्न हुई। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ अर्थात् मूत्रेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

अध्यात्मादिप्रभेदेन प्रत्येकं करण त्रिकम् ।
श्रोत्राद्यध्यात्ममित्युक्तं श्रोतव्याद्यधिभूतकम् ॥२५
दिशाद्या देवतास्तत्र सत्त्वोत्पन्नाः प्रकाशकाः ।
देवतानां तु नामानि निर्दिश्यन्ते पृथक् पृथक् ।२६

गू०—अध्यात्मादि भेदेन प्रत्येक मिन्द्रियाणां त्रैविध्यमुपपादयति। अध्यात्मादीति-श्रोत्रादि अध्यात्मं श्रोतव्यादि अधिभूतं दिशाद्या देवता इति ॥ २५ ॥ २६ ॥

टिप्पणी.

+ प्रत्येक इन्द्रियके तीन २ भेद होनेका कारण यह है कि प्रथम जो महत्तत्त्व (मोहतत्त्व) उत्पन्न हुआ हैं उसमें रज, तम, सत्त्व तीनोंही मिश्रित हैं। सत्त्व अंश अधिक होनेसे उससे प्रत्येक वस्तुका अधिष्ठातृ देव हुआ। उसकी अपेक्षा रजोगुण स्वल्प है अतः अध्यात्म उत्पन्न किया। तमोगुण सबसे कम है अतः अधिभूत-स्थूलमेंही पर्यवसित हो गया यथा-

तमसो रजस्तु द्विगुणं रजसः सत्त्वमेव च ।
परिमाणत एवं स्यु स्त्रयः प्रकृतिजा गुणाः ॥

तमोगुणसे रजोगुण दो गुना है और रजोगुणसे सत्त्वगुण दोगुना है इस प्रकार तीनोंगुण मिलकर सृष्टिकी रचना होती है।

भा०—उपरोक्त दश इन्द्रियोंके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव, इस प्रकार तीन भेद माने गए हैं। जो शब्दादि विषयको ग्रहण करे वह अध्यात्म और जो विषय ग्रहण किया जाय वह अधिभूत और जो विषय और इन्द्रिय दोनोंसे भिन्न रहकर दोनोंका अधिष्ठाता देव हो उसे अधिदैव कहते हैं। जैसे—श्रवण अध्यात्म, शब्द अधिभूत और श्रवण इन्द्रियका देवता दिशा अधिदैव है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव, तीन २ भेद होते हैं। सबका पृथक् २ स्वरूप समझनेके लिये दशो इन्द्रियोंका कोष्टक नीचे देते हैं उस परसे सबके भेद और नाम समझलेना चाहिये। यथा—

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैव
श्रोत्र	शब्द	दिशा
त्वचा	स्पर्श	वायु
चक्षु	रूप	सूर्य
रसना	रस	वरुण
घ्राण	गंध	भूमि
वाक्	वक्तव्य	अग्नि
पाणि	उपादेय	इन्द्र
पाद	गन्तव्य	उपेन्द्र
पायु	मलोत्सर्ग	यम
उपस्थ	आनन्द	प्रजापति

जिस प्रकारसे राजस अहंकारसे १० इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार सात्त्विक अहंकारेस इन्द्रियोंके देवता उत्पन्न हुए। उनके नाम पृथक् २ गिनाते हैं ॥ २५-२६

दिग्वातं सूर्य्यवरुण भूमयो ज्ञान देवताः ।
अग्नीन्द्रविष्णवो मृत्युः कर्म्मदेवाः प्रजापतिः ॥ २७

गू०—क इन्द्रियदेवता इत्यपेक्षयामाह दिगिति । ज्ञानेन्द्रिय देवता इत्यर्थः अग्न्यादयः कर्म्मेन्द्रिय देवता इति ॥ २७ ॥

मा०—दिशा, वायु, सूर्य, वरुण और भूमि; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियके प्रकाशक देव हैं । अग्नि, इन्द्र, विष्णु; यम और प्रजापति, ये पाँच कर्मेन्द्रियके प्रकाशक देवता हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १० देवता हुए और दश इन्द्रियाँ हुईं ॥ २७ ॥

तामसाहंकृतेश्चापि सशब्दमभवन्नभः ।
नभसो स्पर्शगुणवान् वायुर्जातो विकुर्वतः ॥ २८
तेजोरूपगुणं वायोस्तेजसो रसवज्जलम् ।
जलाद्भूमिर्गंधवती तत्त्वानीमानि पञ्च वै ॥ २९

गू०—तामसाहंकारादाकाशादीनामुत्पत्तिर्वर्णयति । तामसाहंकृते रिति द्वाभ्यां सशब्दंतन्मात्रया सहितं रूपं गुणो यस्य तत् स्पष्ट-मन्यत् ॥ २८ ॥ २९ ॥

भा०—तामस अहङ्कारसे शब्द सहित आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे स्पर्शतन्मात्रा सहित वायु उत्पन्न हुआ । वायुसे तन्मात्रा सहित अग्नि और अग्निसे रस तन्मात्रा सहित जल उत्पन्न हुआ। जलसे गन्ध गुण सहित पृथिवी उत्पन्न हुई । इस प्रकार तामस अहंकारसे

पञ्च तन्मात्रा और पाँच तत्त्व प्रगट हुए। स्मृतिमें भी "तामसोभूत सूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः" पांच तन्मात्रा सहित पाँचो तत्त्व उस तामस अहंकारसे उत्पन्न हुए, ऐसा लिखा है ॥ २८ ॥ २९ ॥

सत्त्वाज्जातानीन्द्रियाणि चत्वार्यन्तर्गतानि वै ।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति प्रभेदतः ॥ ३०

गू०—सात्विकाहंकारादन्तःकरणानीत्याह सत्त्वादिति ॥३०॥

भा०—सात्विक अहंकारसे चार अन्तःकरण और पूर्वोक्त इन्द्रियोंके देवता प्रगट हुए। चार अन्तःकरण यथा—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। देवोंके नाम २५ वें श्लोकमें कहे जा चुके हैं ॥ ३० ॥

बुद्ध्यादीनां न पार्थक्यं मनसो वृत्तयो यतः ।
तथापि व्यक्तिभेदेन चतुर्दश निरूपिताः ॥ ३१

गू०—नन्वत्र चतुर्दशेन्द्रियाण्युक्तान्यन्यत्रैकादशैव श्रूयन्ते तत्रापिकथं निश्चेतव्य इति चेदत्राह बुद्ध्यादीनामिति। यतोबुद्ध्यादयो मनसो वृत्तयोऽतस्तासां न पार्थक्यं मनसोनपृक्त्वमित्यर्थः तथापि व्यक्ति भेदेन चतुर्दशनिरूपिताः यथैकः प्राणः पंचवृत्तिको व्यक्त्या पञ्चत्वमुच्यते तथैकं मनो बुद्ध्यादि रूपेण चतुर्विधमुक्तं वस्तुतस्त्वेकादशैवेन्द्रियाणि "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशेति" श्रुतेः ३१

भा०—यद्यपि बुद्धि, चित्त और अहंकार; ये तीनों मनकीही वृत्ति हैं; मनसे भिन्न नहीं; तथापि नाम भेदसे चार अन्तःकरण मान लिये गए हैं अतः दश इन्द्रिय और चार अन्तःकरण मिलाकर चतुर्दश कहे जाते हैं। वस्तुतः इन्द्रिय एकादशही हैं किन्तु जैसे—एकही प्राण "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः (बृह० १–५–३)" वृत्तिभेदसे

पाँच (प्राण, अपान, उदान, व्यान समान) प्रकारका कहा गया है; उसी प्रकार मनको वृत्तिभेदसे चार [मन बुद्धि चित्त अहंकार] प्रकारका मान लिया गया है; नहिंतर मुख्यतया तो मन भी एकही है यथा–दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशेति [बृ० ३–९–४]" इस श्रुतिमें दश इन्द्रिय तथा मनको मिलाकर एकादश प्राण–अर्थात् इन्द्रियोंको गिनाया है। यहां पर मनको एकही माना है। मनकी वृत्तियोंको बृहदारण्य उ० में इस प्रकार वर्णन किया है यथा—

"कामः संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्री–
र्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव [बृह० १–५–३]"

अर्थः–कामना, निश्चय, संशय, आस्तिकता, अविश्वास, धैर्य, लज्जा, प्रज्ञा और भय इत्यादि ये सब मनकी वृत्तिही हैं। इसपरसे विदित होता है कि वृत्तिभेदसे मनको अनेक माना है। अतः मनके एक होते हुए भी वृत्ति भेदसे चार कहना असंगत नहीं अर्थात् मन सहित ग्यारहही इन्द्रिय हैं तथापि वृत्तिभेदसे चतुर्दश मान लिया गया है। इसका विशेष वर्णन देखना हो तो " पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्य· पदिश्यते (ब्रह्म सू० २–४–१२) इत्यादि वेदान्त दर्शनके सूत्रोंको देखें॥

सप्तैतानि केऽप्यष्टौ नव चैके दशाऽपरे।
चतुर्दश परे चाहु रेकादश त्रयोदश ॥ ३१

गू०–मतान्तराणि दर्शयति सप्तेति केऽपि सप्तैवेन्द्रियाणीत्याहुस्तत्र ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च वाङ्मनश्चेति सप्त "सप्तप्राणाः प्रभवन्ती तिश्रुतेः ॥ केचित्तु अष्टावित्याहुस्तत्र हस्तमष्टममुक्तानि सप्तेति, अष्टौ ग्रहा इति बृहदारण्योक्तेः। एकेपि नवेन्द्रियाणीत्याहुस्तत्र नेत्रे द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके द्वे मुखंपायूपस्थेति नव। नवद्वारे पुरे देहीति श्वेता-

श्वतरश्रुतेः ॥ अपरे दशेन्द्रियाणीत्याहुस्तत्र ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्म्मेन्द्रियाणि पंचेति दश ॥ परे चतुर्दशेत्याहुस्तत्र ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्म्मेन्द्रियाणि पंच मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुर्दश । केऽप्येकादश ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्म्मेन्द्रियाणि पंच मनश्चैकमित्याहुः केचित्त्रयोदश उभयेन्द्रियाणिमनो बुद्धिरहंकारश्चेत्याहुरिति तथात्र सांख्यसूत्रं "करणं त्रयोदशविधमवान्तर भेदात् ॥ ३२ ॥

भा०—महात्मा लोगोंने इन्द्रियोंको अनेक प्रकारसे वर्णन किया है। कोई पाँच ज्ञान इन्द्रिय, वाक् और मनको मिलाकर सात इन्द्रिय कहते हैं। कोई उपरोक्त सातमें हाथ और मिलाकर आठ इन्द्रिय मानते हैं तो किसीके मतमें दो नेत्रके छिद्र, दो नासिकाके छिद्र, एक मुख, एक गुदा और एक मूत्रेन्द्रिय, इस प्रकार नव छिद्रही नव इंद्रिय हैं। कोई पाँच ज्ञान और पाँच कर्मेन्द्रियोंको मिलाकर दश कहते हैं। कोई पाँच ज्ञान और पाँच कर्म इन्द्रिय एवं मनको मिलाकर एकादश कहते हैं तो कोई दश इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार सहित तेरह इन्द्रिय कहते हैं॥ ३२ ॥

कर्तुर्विषय भोगार्थं करणानीन्द्रियाणि हि ।
जातानि भोक्तान्यः कश्चित्तेभ्य एव निगद्यते ॥ ३३

गू०—इन्द्रियाणां करणत्वमेव न कर्तुत्वमितीन्द्रियात्मवादिमतं निराकुर्वन्नाह कर्तुरिति । तथोक्तं सांख्यसूत्रे दृष्टत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणामिति ॥ ३३ ॥

भा०—भोक्ता-प्राणीके विषय-भोगार्थ इन्द्रिय साधनरूप हैं। भोक्ता जीवात्मा अन्य + है अर्थात् इन्द्रियोंसे भिन्न है । इसका स्पष्टी-

टिप्पणी

+ प्रश्न- "आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहु र्मनीषिणः" इत्यादि श्रुति इन्द्रिय और मन सहित आत्माको भोक्ता कहती है और आप

—: भावार्थ :—

करण कपिलदेवजीनें सांख्य दर्शनमें स्पष्टरूपसे किया है यथा—द्दष्टत्वादिरात्मनः करणत्व मिन्द्रियाणाम् [सांख्य २–२०]" अर्थः—द्रष्टा, श्रोता, गन्धलेनेवाला, गमनकरनेवाला, निश्चय करनेवाला इत्यादि सब जीवात्माके धर्म होनेसे भोगनेवाला आत्मा है; इन्द्रिय तो आत्माके भोगनेंका साधन मात्र हैं। इसपरसे विदित होता है कि इन्द्रियोंको आत्मा कहनेवाले बौद्धोंका मत असंगत है ॥ ३३ ॥

संकल्पकं मनोरूपं बुद्धेरूपं तु निश्चयम् ।
चित्तस्याप्यनुसंधान मभिमानोऽस्त्यहंकृतेः ॥ ३४

भा०—अब चारों अन्तःकरणका स्वरूप वर्णन करते हैं। संकल्प विकल्प करना मनका स्वरूप है, निश्चय करना बुद्धिका काम है। चिन्तवन करना किम्वा नाना प्रकारके विचार करना चित्तका कार्य है। अभिमान करना, अहंबुद्धि रखना अहङ्कारका स्वरूप है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी.

इन्द्रियोंसे भिन्न आत्माको भोक्ता बताकर इन्द्रियोंको मात्र साधन मानते हो तो श्रुति, स्मृतिसे विरुद्ध आपका मत कैसे मान्य होगा? उत्तर—देखोजी! इन्द्रिय तथा मनको जीवके साथ भोक्ता मानना उचित नहीं। क्योंकि मन जड़ होनेसे किसी पदार्थका भोक्ता नहीं हो सकता और इन्द्रिय तो मात्र मनकी वृत्ति हैं कुछ स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं यथा—उभयात्मकं मनः (सांख्य २—२६) गुणपरिणाम भेदान्नानात्वमवस्थावत् [सां० २—२७) ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध मनही है। जैसे एकही मनुष्य नाना काम करनेसे अनेक संज्ञाको प्राप्त होता है अर्थात् कामिनीके संगसे कामुक, विरक्तके संगसे विरक्त-साधु कहा जाता है। उसी प्रकार एकही मन नाना वृत्तिभेदसे नाना इन्द्रियके नामसे प्रसिद्ध होता है। इस परसे विदित होता है कि

मनसश्चन्द्रमा देवो बुद्धेर्देवो बृहस्पतिः ।
चित्तस्य वासुदेवोऽस्ति रुद्रो ज्ञेयस्त्वहंकृतेः ॥३५

भा०—मनका देवता चन्द्रमा है। बुद्धिका देवता बृहस्पति है। चित्तका देवता वासुदेव है और अहंकारका देवता रुद्र है, इस प्रकार चार अन्तःकरणके चार देव कहे हैं ॥ ३५ ॥

श्रोत्रादीनां च मनसां देवास्ते सत्त्वसम्भवाः ।
इन्द्रियाणां तु सर्वेषा मणुत्वं तन्त्रसंमतम् ॥ ३६

गू०—श्रोत्रादीनामिति, श्रोत्रादीना मुभयेषां ज्ञान कर्मेन्द्रियाणां च पुनः मनसां मनोबुद्धि चित्ताहंकाराणां ये देवास्ते सत्त्वात् सात्त्विकाहंकारात्संभवो जन्म येषां तथा भूताः सन्तीत्यध्याहारः। चतुर्दशेन्द्रिय प्रकाशक देवानां सात्विकाहंकारादुत्पत्ति रित्याशयः ॥ इत्युक्त व्यावृत्त्यर्थः ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां न व्याप-

---

टिप्पणी.

इन्द्रियोंका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं। और मनको भोक्ता कहें तो यह भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि सुख दुःखादिका अनुभव करनेवाला आत्माही है। यही बात वैशेषिक दर्शनके " प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चाऽऽत्मनों लिङ्गानि (वैशे० ३-२-४) इस सूत्रमें इच्छा, द्वेष, सुख दुःखादि जीवात्माके धर्म माने हैं अतः भोक्ता मन नहीं हो सकता; मनतो मात्र दुःख सुखादिके साधनका हेतु है। मनकेद्वारा विषयोंकी प्रतीति होती है। मनके संयोगसे प्रत्येक विषयकी उपलब्धि होनेसे मनको साधन-करण माना है, कर्ता नहीं। उपरोक्त श्रुतिमें इन्द्रिय, मन युक्त आत्माको भोक्ता बतानेका आशय भी यही है कि जीवात्मा अशरीरी होनेसे मन तथा इन्द्रियोंके द्वाराही विषयोंका भोक्ता है एकला नहीं।

कत्वं किंत्वणुत्वं तंत्रसंमतं शास्त्र संमतमित्यर्थः ॥ तथा च वेदान्त सूत्रमिन्द्रियाणामणुत्त्वं वक्ति तद्यथा “ अणवश्चेति (वे० २।४।७) तथा च श्रुतिः ” प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीतिदिक् ॥ ३६ ॥

भा०--श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्दिय, वाग् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय, और मन आदि चार अन्तःकरण इन चौदहके चौदह देवता सात्विक अहंकारसे प्रगट हुए। इन्द्रियोंका स्वरूप व्यापक नहीं किन्तु अणु प्रमाण माना गया है। वेदान्तदर्शनके “अणवश्च [ब्रह्म सू० २-४-७] इस सूत्रमें इन्द्रियोंको अणुरूप वर्णन किया है। गौतमाचार्यने भी मनका निरूपण करते हुए यथोक्त “ हेतुत्वाच्चाणु (न्या० ३-२-६१) इसमें मनका एकत्व-एक होना और अणुत्व-अणुस्वरूप-होना बताया है। वैशेषिक दर्शनकार भी (वै० ३-२-१) मनको अणुस्वरूपही मानते हैं। बृहदारण्य श्रुति भी इंद्रियोंको अणुस्वरूप वर्णन करती है यथा—तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति (बृ ४-४-२) अर्थः—उस जीवात्माके निकलतेही प्राणवायु निकल जाता है और प्राणवायुके निकलतेही सब इंद्रियाँ निकल जाती हैं ” इत्यादि श्रुति मन आदि इंद्रियोंका निकलना वर्णन करती है। व्यापकमें आना जाना नहीं घट सकता। आना जाना तो अणुरूपकाही हो सकता है अतः इंद्रियोंको अणुरूप माननाही शास्त्रसम्मत है ॥ ३६ ॥

पञ्चीकृतानि भूतानि स्थूलं रूपं सृजन्ति हि।
देवतेन्द्रिय संयुक्तं द्रष्टुर्जाग्रत्स्वरूपकम् ॥ ३७

गू०—पंचीकृतानि इति। पंचीकृतानि पृथिव्यादीनि तत्त्वानि स्थूलं रूपं सृजन्ति उत्पादयन्ति किं भूतं रूपं देवताश्चेन्द्रियाणि च तैः संयुक्तं पुनः किं भूतं द्रष्टुरक्षरस्य जाग्रत्स्वरूपकमिति ३७

भा०—इस प्रकार सब विराट उत्पत्तिकी सामग्री नारायणसे उत्पन्न हुई। और अक्षरकी इच्छानुसार पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत हुए अर्थात् जो पाँचो तत्त्व भिन्न २ थे वे एकमें मिलकर पंचीकरणद्वारा विश्व-रचनाके उपयोगी हुए। वेदान्तमें पंचीकरणका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। यथा—प्रत्येक तत्त्वके समान दो दो भागकर एक २ भागको छोड़कर दूसरे भागोंके चार चार भाग करे। चारो भागोंमेंसे एक २ भाग निकाल कर पाँचो तत्वोंके छोड़े हुए आधे २ भागोंमें मिलावे और जिसको आधे भागमें मिलाना है उसमें उसका चतुर्थांश न मिलावे, इस प्रकार पंचीकरण होता है। जैसे—पांच तत्वके समान दो दो भाग करनेसे दश भाग हुए। उनमेंसे ५ भाग रख छोड़े और ५ के चार २ भाग किये तब २० भाग हुए। अब जिस तत्त्वका पंचीकरण करना होवे उसका आधा भाग लो और २० भागोंमेंसे एक २ भाग चार अन्य तत्त्वोंके लेकर आधे भागमे मिला दो, बस पंचीकरण हो गया। जैसे पृथिवीका पंचीकरण समझना है तो आधा भाग पृथिवीका लो और २० भागोंमेंसे १ भाग आकाशका, १ वायुका १ अग्निका और १ भाग जलका लो पाँचोको मिलानेसे पंचीकरण हो जाता है। जिस तत्त्वका पंचीकरण करना हो उसका आधा भाग लिया जाता है और अन्य चार तत्त्वोंका आधे भागका चतुर्थांश लेना पड़ता है। पंचीकरणका ऐसा क्रम वेदान्ती लोग मानते हैं।" इस प्रकार पंचीकृत महाभूतोंसे स्थूलरूप प्रगट हुआ तब देवता तथा इन्द्रिय सब संयुक्त हो अपने २ स्थानमें स्थित हुए। द्रष्टा पुरुषका यही जाग्रत्स्वरूप कहा जाता है ॥ ३७ ॥

इत्थं समष्टि ब्रह्माण्डं जातं नारायणाभिधात्।
अक्षरेच्छानुसारेण विराडित्यभिधीयते ॥ ३८

गू०—इत्थमिति। इत्थमनेन प्रकारेण-अक्षरस्येच्छानुसारेण नारायण नाम्नः पुरुषात्समष्टि ब्रह्माण्डं जातमिति यत्स एव विराडित्यभिधीयते "कथ्यते तस्माद्विराडजायतेति मंत्रात् ॥ ३८ ॥

भा०—इस भाँति अक्षर भगवानकी इच्छानुसार नारायणद्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जायमान हुआ। उसीको विराट वा सहस्रशीर्षा पुरुष कहते हैं। भागवतमें लिखा है " जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः" भगवानने महदादिद्वारा पुरुषरूप धारण किया। वेदमें भी " सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " (यजुः ३१-१) इस प्रकार 'सहस्रशीर्षा पुरुष' नामसे वर्णन किया है। और भी शास्त्रोंमें इसके अनन्त नाम हैं ॥ ३८ ॥

तं सृष्ट्वादौ स्वयं चापि ज्ञानाधिक्येन प्राविशत् ।
शुद्धमाया प्रसंगित्वा दसावीश्वर उच्यते ॥ ३९
स एव पुरुषस्त्वाद्योऽविद्याऽवाच्छिन्नचेतनः ।
अल्पज्ञो जीवरूपेण व्यष्टि पिण्डेषु प्राविशत् ॥ ४०

गू०—नारायणांशरूपयोरीश्वरानीश्वरयोस्स्वरूपं दर्शयति तमिति द्वाभ्यां। आदौ नारायणस्तं विराजं पुरुषं सृष्ट्वा महदादिभिः स्वयमेव पौरुषंरूपं धृत्वेत्यर्थः "जगृहे पौरुषंरूपं भगवान्महदादिभिरिति भागवतोक्तेः" ज्ञानाधिक्येन स्वयमपि तं विराजं प्राविशत् तथेयं "श्रुतिः तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् सच्च त्यच्चाभवत्। विज्ञानं-

भा०—नारायणजीने विराटको प्रगट कर स्वयं उसमें प्रवेश किया अर्थात् अपनी इच्छासे सात्त्विक, राजस; तामस त्रिविधात्मक अहंकारको प्रगट कर उसके द्वारा अन्तःकरण सहित दश इन्द्रिय तथा चतुर्दश

चाविज्ञानं च सत्यं चानृतंचेत्यादि असौ नारायणः शुद्धसत्त्वमायायां प्रसंगित्वादीश्वर उच्यते। शुद्धमायाप्रसंगित्वादीश्वरत्वमुक्तं तदेवोक्तं पंचदश्यां "सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये द्विधे मते मायाबिम्बो वशीकृत्यतांस्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः" इति। स इति स एवाद्यः पुरुषो विद्ययावच्छिन्नश्चेतनो यस्य सः अतो हेतोरल्पज्ञो जीवरूपेण जीवो

—: भावार्थ :—

इन्द्रियोंके देवता एवं शब्द आदि पञ्च तन्मात्रा सहित पञ्चमहाभूत संयुक्त पंचीकृत स्थूल रूपको बनाया, जिसे विराट पुरुष कहते हैं। यह स्थूल विराट बहुत कालपर्यन्त अचेतन अवस्थामें रहा अर्थात् इन्द्रिय तथा देवों सहित सब अवयव उपस्थित होनेपर भी विराट चेतन न हो सका तब सर्वलिक ब्रह्मकी चेतनशक्ति जो नारायणजीमें थी; वही नारायण द्वारा माया तथा अविद्यामें प्रतिबिम्बित होकर जीव तथा ईश्वररूपसे स्थूलरूपमें प्रविष्ट हुई तब वह विराट खड़ा हुआ। स्थूलमें प्रविष्ट यही नारायणांश ईश्वर तथा जीव नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। आदिमें स्थूलरूपको बनाकर नारायण भगवान्‌ने ज्ञानांशके आधिक्यसे उसमें प्रवेश किया। शुद्ध सत्त्व प्रधान मायाके प्रसंगसे ईश्वर नाम कहा जाता है। उपरोक्त बातको निम्न लिखित श्रुति वर्णन करती है। यथा—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् [तै० उ० २—६] " उसको रचकर उसीने उसमें प्रवेश किया " तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च (तै० उ० २—६) अर्थः—(तत् अनुप्रविश्य) उसमें प्रवेश कर (सत् च त्यत् च) सत्—व्यापक होनेंसे ईश्वर और त्यत्—जीवरूप (अभवत्) हुआ। निरुक्तं च अनिरुक्तं च) निरुक्त—अर्थात् निर्वचन करने योग्य आकृति युक्त जीवरूप और अनिरुक्त—अर्थात् निर्वचन किंवा आकृति रहित ईश्वररूप (अभवत्) हुआ।

भूत्वेत्यर्थः व्यष्टि पिण्डेषु नानादेहेषु प्राविशत् ईशानीशावुभाव-
पि प्रविष्टावित्यर्थः ॥ तथेयं श्रुतिः कठशाखीया वक्ति " ऋतं पि-

—: भावार्थ :—

(विज्ञानं च अविज्ञानं च) विज्ञानरूप ईश्वर और अविज्ञान–विशेष ज्ञान-रहित—अल्पज्ञ जीवरूप (अभवत्) होता भया । इत्यादि श्रुतियों परसे निश्चय होता है कि स्थूलरूपमें प्रवेशकर वही ईश्वररूप तथा जीवरूप हुआ । प्रश्न—एकही चेतन शक्ति सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दो भिन्न रूपमें किस प्रकार प्रतिविम्बित हुई ?। उत्तर—शुद्ध सत्त्व प्रधान मायाके संगसे चेतन शक्तिकी सर्वज्ञता वनी रही अतः ईश्वर सर्वज्ञ हुआ और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्याके संसर्गसे जीव अल्पज्ञ हुआ । इसका विवेचन पञ्चदशी वेदान्तके तत्त्व विवेक प्रकरणमें स्पष्ट रूपसे किया है यथा—

" सत्त्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्ये द्विधे मते ।
माया विम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १६
अविद्या—वशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्या–दनेकधा ॥ "

अर्थः—सत्त्वशुद्धि–रजोगुण, तमोगुण सम्बन्धी मलिनताका अ-भाव और अविशुद्धि–रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी मलिनता युक्त, इस प्रकार प्रकृतिके सत्त्वप्रधान माया और अविद्यारूप दो भेद माने गए हैं। मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभास मायाको वशमें रखकर सर्वज्ञादि गुणयुक्त वर्तता है अतः उसे सर्वज्ञ ईश्वर कहते हैं। अविद्यामें प्रति-बिम्बित अविद्याके वशमें प्राप्त हुआ चिदाभास अल्पज्ञहोनेसे जीव नामसे प्रसिद्ध होता है । अविद्याकी विचित्रताके कारण न्यून+अधिक भावको प्राप्त हो अनेक रूप धारण करता है । " श्रुति (कठोप० १–३) में भी छाया तथा आतप नामसे उपरोक्त अविद्यायुक्त जीव तथा शुद्ध सत्त्व ईश्वरका वर्णन आता है यथा—

बन्तौ स्वकृतस्यल्लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्द्धे। छायातपौ ब्रह्म-विदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः"॥ अत्र आतपमी-

—: भावार्थ :—

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।

छाया ऽऽतपौ ब्रह्मविदोवदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

अर्थः—(स्वकृतस्य) अपनै कर्मके (ऋतं) सत्य फलको (पिबन्तौ) भोगते + हुए (लोके) पिण्ड वा ब्रह्माण्डरूप (परमे परार्द्धे *) परम श्रेष्ठ हृदयरूप (गुहां) गुप्तस्थानमें (प्रविष्टौ) प्रविष्ट [छायाऽऽ-तपौ] छाया—अन्धकाररूप अल्पज्ञ जीव और आतप—घाम सदृश प्रकाशमान ईश्वरको [ब्रह्मविदः] ब्रह्मवेत्ता पुरुष [वदन्ति] कहते हैं [ये च] और जो [त्रिणाचिकेताः] तीनबार अग्निको चयनकरनेवाले हैं तथा [पंचाग्नयः] पंचाग्निवाले अर्थात् माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमात्मा, इन पाँचो अग्निको सेवन करनेवाले महात्मा गृहस्थ

टिप्पणी.

+ कर्मके फलको जीवही भोग करता है ईश्वर नहीं; परन्तु जीवके साहचर्यसे ईश्वरको भी कर्मफलभोक्ता कहा गया है अर्थात् जैसे दो मनुष्य छाता लगाए हुए जा रहे हों, एकके पास छाता होवे और एकके पास न होवे तो भी दूसरे लोग कहने लग जाते हैं कि देखो! छाता लगाये हुए दो आदमी जा रहे हैं। इसी प्रकार छत्रन्यायसे यहां पर ईश्वरको भी कर्मफलका भोक्ता कहा गया है।

* "परार्धे अथवा परार्ध्ये" पाठान्तर है । इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—"परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धं (परार्ध्यम् वा) तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते अतस्तस्मिन्परार्धे (र्ध्ये) हार्दाकाशे प्रविष्टा-वित्यर्थः" शांकरभाष्यम् । परब्रह्मके स्थानको परार्ध कहते हैं हृदयमें परमात्माकी प्राप्ति मानी गई है अतः यहांपर 'परार्ध' शब्दसे हृदया-काशको ग्रहण किया गया है ।

श्वररूपं छायारूपं जीवं च श्रुतिः वदति । छायातपाभ्यामन्यो नारायणः सूर्यवत् भिन्नं प्रकाशते तथाच वेदान्त सूत्रं " गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादिति " ॥ ३९ ॥ ४० ॥

—: भावार्थ :—

लोग हैं वे जानते हैं । इस श्रुतिने जीवको छाया तथा ईश्वरको आतपरूप वर्णन किया है । इसका आशय यह है कि जिस तेजस्वी पुरुषके छाया वा घामरूप जीव और ईश्वर हैं वह (नारायण) पुरुष सूर्य समान प्रकाश करनेवाला इन दोनोंसे भिन्न है । इसका विशेष विवेचन " गुहां प्रविष्टावात्मानौ हितद्दर्शनात् (ब्रह्मसूत्र १-२-११)" इस व्यास सूत्रमें देखना चाहिये । गीतामें भी " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः " इस लोकमें सनातन जीव मेरेही अंश हैं अर्थात् मैं जो नारायण अंश हूं तिसके अंशभूत हैं । अन्य श्रुतियोंमें जो ब्रह्मका अंश ईश्वर और ईश्वरांश जीवको वर्णन किया है वहां पर भी ब्रह्म शब्दसे नारायणको ग्रहण करना चाहिये यथा—" ब्रह्मणोंऽश ईश्वर ईश्वरांशो जीवः " इत्यादि श्रुतिमें लिखा है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

कारणोपाधिरीशोयं त्वन्तर्य्यामी प्रवर्त्तकः ।
महावायु-रिवाकाशे सर्वगः समदर्शनः ॥ ४१
कार्य्योपाधिस्तु यो जीव ईश्वराज्ञावशः स्वयम् ।
पिण्डवायुर्घटाकाशे भ्रमन्निव स्वकर्मणा ॥ ४२

गू०—कारणोपाधिरिति । य ईश्वरः सः कारणोपाधिः तथेयं श्रुतिः " कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः । कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते " इति पुनश्चराचरजीवानामन्तर्यन्तुं शीलमस्येत्यन्तर्य्यामी अतएव प्रकर्षेण वर्त्तयति स्वे स्वे कर्मणि जीवा-

न्योऽसौ प्रवर्त्तकः। पुनराकाशे महावायुरिव सर्वत्र ब्रह्माण्डे पिण्डे वा गच्छतीति सर्वगः ॥ अतएव समं दर्शनं यस्य तथाभूतः। कार्य्योपाधिरिति कार्य्योपाधिर्यो जीवः सः ईश्वरस्याज्ञया वशः अतः स्वयमेव स्वकर्मणा घटाकाशे पिण्डवायुरिवभ्रमन् नाना योनिषु परिभ्रमन् वर्तते इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

भा०—कारण-उपाधि ईश्वर सर्वान्तर्यामी होनेसे सब जीवोंको अपने २ कर्ममें यथार्थ व्यवस्थित रखता है। जैसे-आकाशमें महावायु सर्वत्र विचरने वाला है। इसी प्रकार वह ईश्वर सब स्थावर जङ्गम जीवोंमें रहता है सबका नियन्ता होनेसे ईश्वर सदाकाल समदर्शी है और कार्योपाधि जीव अल्पज्ञ होनेसे ईश्वरकी आज्ञावश परतन्त्र है। अपने कर्मोंके आधीन नाना लोक और नाना योनिमें भ्रमण करते हुए कर्मफलका भोग करता है। जैसे-इस शरीरमें भिन्न प्राण वायु घूमता है अतः उसे प्राण कहते हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो महावायु एकही है और वह सर्वत्र समान शील और बन्धन रहित है। उसी प्रकार कार्योपाधिके कारण जीव नानारूप धारण कर नाना कर्मोंके फलका भोग करनेवाला और बद्ध है और ईश्वर महावायुके समान बन्धनरहित और महान कहा जाता है। वास्तवेंम जीव और ईश्वर दोनों एक हैं अर्थात् एक जाति हैं। केवल उपाधि भेदके कारण नानात्वको प्राप्त हुए हैं। इसका वर्णन निम्न लिखित श्रुति स्पष्ट रूपसे करती है यथा—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य कारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

कार्योपाधि और कारणोपाधिका त्याग करने पर जीव और ईश्वर दोनोंही पूर्णबोधवाले अवशेष रह जाते हैं अर्थात् दोनोंही चित्स्वरूप हो उपाधि भेदसे रहित हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

द्वौ सखायावेकतरौ तिष्ठन्तौ सहजावमू।
तयोरेकः कर्मफलं भुंक्ते भात्यपरोऽनदन् ॥ ४३

गू०—जीवेश्वरयोरेकजातितां दर्शयति द्वाविति अमूद्वौ जीवेश्वरौ सखायौ एकस्मिन्तरौ वृक्षसदृशे ब्रह्माण्डेपिण्डे तिष्ठन्तौ सहैव नारायणाज्जातौ तयोर्मध्ये एको जीवः कर्मफलं भुंक्तेऽपरः तत् अनदन् अनश्नन् भाति प्रकाशते ॥ तथेयं मुंडक ३ खं० १ मं० १

भा०—जीव तथा ईश्वर दोनों एक जाति हैं। जल और तरङ्गके समान नाममात्र भेद है। शङ्का—प्रथम आपनें छायारूप जीव तथा घामरूप ईश्वरको बताया और अब दोनोंको एक बताते हो तो छाया और घाम दोनों तो परस्पर एक दूसरेके विरोधी हैं तब एकरूप अथवा एकजाति कैसे मानी जावे ?। समाधान—देखो जी ! छाया तथा घाम (धूप) दोनों परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सूर्यके अंश वा प्रकाश मात्र हैं। केवल वृक्ष आदि आवरण उपाधिसे छाया तथा घाम दो नाम हुए हैं; घामके बिना छाया नहीं प्रतीत होती अतः घामही आवृत हो कर छाया नामसे कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ चेतन कार्योपाधिसे आवृत अल्पज्ञ जीव नामसे कहा जाता है। वास्तवमें दोनों समान मित्र और सहज हैं अर्थात् नारायणजीसे एकही साथ प्रगट हुए हैं। नारायणका चेतनाभास शुद्धसत्त्व प्रधान मायामें प्रतिबिम्बित होनेसे ईश्वर और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्यामें प्रतिबिम्बित होनेसे जीव कहा जाता है; वस्तुतः चेतनाभास एकही है। जैसे—सूर्यका प्रतिबिम्ब निर्मल दर्पण आदिमें प्रकाश युक्त रहता है और वृक्षादि मलिन पदार्थसे आवृत हो छायारूप हो जाता है उसी प्रकार एकही चेतन शक्तिके दो प्रकारके प्रतिबिम्ब जीव तथा ईश्वर नामसे प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रुतिः । द्वासुपर्णासयुजा सखाया समानंवृक्षं परिषस्वजाते ॥ तयो-रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति इति निर्दिशति ।

—: भावार्थ :—

इसी कारण शास्त्रकारोंने जीव तथा ईश्वर दोनोंको समान सखारूप वर्णन किया है यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अर्थः—(द्वा सुपर्णा) दो पक्षी–जीव तथा ईश्वर (सयुजा सखाया) एकसाथ रहनेवाले समान मित्र (समानं वृक्षम्) समान रचनावाले पिण्ड + ब्रह्माण्डरूप वृक्षको (परिषस्वजाते) आलिङ्गन करते हैं अर्थात् उसपर स्थित हैं। (तयोः अन्यः उन दोनोंमेंसे एक–जीवरूप (पिप्पलं) जगतरूप वृक्षके कर्मनिष्पन्न सुख दुःखरूप फलको (स्वादु–अत्ति) अनेक प्रकारसे भोग करता है (अन्यः अनश्नन्) अन्य ईश्वररूप कर्म-फलको न भोगते हुए (अभिचाकशीति) प्रकाशमान है अर्थात् केवल

टिप्पणी.

+ इस मुण्डक श्रुतिमें 'सुपर्ण' शब्द बड़े मर्मका है। यहां पर जीव तथा ईश्वरको भिन्न २ न कह कर सुपर्ण शब्दद्वारा पक्षीके रूपकसे दोनोंकी सुन्दर गतिको सूचित किया है। "सुष्ठु शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ" जिस पक्षीकी पांख सुन्दर होती हैं वह अपनी गतिमें कभी खिन्न नहीं होता। जीव तथा ईश्वरके भी प्राणरूप सुन्दर पक्ष हैं। यहांपर 'सुपर्ण' कहनेका मतलब यह है कि ये दोनों कभी अपनी गतिको खराब नहीं समझते। सार्वभौम सत्ताके कारण ईश्वर अपनेको सर्व श्रेष्ठ मानता है और मिथ्याभिमानके कारण जीव भी अपनेको सबसे अच्छाही समझता है अतः दोनोंको सुपर्ण कहा है।

(क) 'समानं वृक्षं' यह शब्द भी महत्व सूचक है। जीवके लिये

नचात्रजीवानां प्रतिबिम्बत्वमंशत्वं वेति शंक्यमुभयेषां पक्षानामत्र शाद्दश्यस्वीकारात् तथैव वेदान्तसूत्र कारेणोभौ पक्षौ समानतयोक्तौ

—: भावार्थः —

देखता है। इस मुण्डक [मु० ३—१—१] श्रुतिमें जीव तथा ईश्वरको सखारूपसे वर्णन किया है। दोनोंका मूल तथा वास्तविक स्वरूप एक होनेंसे एक साथ रहनेवाले मित्र बताए गए हैं। ईश्वर सर्वज्ञ तथा अविद्यारहित होनेसे कर्मफलको नहीं भोगता। जीव अविद्यायुक्त अल्पज्ञ होनेसे नाना कर्मफलका भोग करता है। प्रश्न—आप लोग जीवको आभास मानते हो अथवा अंश ? । उत्तर—देखो जी ! शास्त्रमें जीवको आभास और अंश दोनों माना है तदनुसार हम लोगभी मानते हैं। प्रतिबिम्बवादमें आभास और अंश दोनोंही घटित हो सकते हैं। जैसे सूर्यका प्रकाश—अंश

टिप्पणी

यह पिण्ड और ईश्वरके लिये ब्रह्माण्ड दोनों समान वृक्ष हैं अर्थात् इस शरीरकी तथा विश्वकी रचना समान होनेसे इसे समान वृक्ष कहा है। विश्वको वृक्ष शब्दसे अनेक स्थलोंपर व्यवहृत किया है। गीतामें तो इस जगतको पीपलका वृक्ष कहकर विस्तरशः वर्णन किया है। १५ वें अध्यायमें इसीका वर्णन है। यथा—" ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् " इत्यादिमें ब्रह्माण्डको वृक्ष बताया है। अन्य ग्रन्थोंमें भी इसका वर्णन आता है। विश्वकी और इस शरीरकी समानता होनेसे समान वृक्षपर बैठे हुए जीव तथा ईश्वरको उत्तम पक्षीरूपसे वर्णन किया है।

(ख) मन्त्रमें आए हुए " द्वा, सुपर्णा, सयुजा, सखाया " शब्द द्विवचनान्त हैं। " सुपां सुलुक [७-१-३९] इत्यादि पाणिनीय सूत्रसे ' औ ' के स्थानमें ' आ ' आदेश हो जानेसे आकारान्त देखनेमें आते हैं। परन्तु अर्थ करते समय इनको प्रथमा विभक्तिका द्विवचनान्तही समझा जाता है।

तद्यथा—अंशोनानाव्यपदेशादित्यादिना—अंशत्वमुक्तं पुनः प्रकाशादि वन्नैवं परः। आभास एव च इत्यादिना प्रतिबिम्बत्वमितिदिक् ॥ ४३ ॥

—: भावार्थ :—

और आभास दोनों रूपमें पाया जाता है उसी प्रकार चिदात्मा चेतन शक्तिका जीवात्मा आभास और अंश दोनोंही हो सकता है। प्रायः लोग अंश वा प्रतिबिम्ब कहकर विवाद किया करते हैं परन्तु निजानन्द स्वामीने दोनोंमें ऐक्य समझकर दोनोंही स्वीकार किया है। वेदान्तदर्शनमें व्यासजीने भी अंश और प्रतिबिम्ब दोनोंही माना है। यथा—अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दास कितवाऽऽदित्वमधीयत एके [ब्रह्म सू० २—३—४३] शास्त्रमें जीवको नाना—अनेक वर्णन किया है अतः जीव अंशरूप है। नाना कथन अंशमेंही सम्भव हो सकता है। और दास कितव आदि सब नारायणही हैं इत्यादि श्रुति सम्पूर्ण विश्वको नारायणस्वरूप वर्णन करती है अतः जीवको अंशरूप माना गया है। यथा—"ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः" दास—केवट आदि, कितव—धूर्त आदि सब नारायण हैं" इस प्रकार आथर्वणिक लोग ब्रह्मसूक्तमें वर्णन करते हैं। सब जीवसृष्टि नारायणांश होनेसे सबको नारायण स्वरूप वर्णन किया है। आभास एव च (ब्रह्म सू० २—३—४८) इस व्यास सूत्रमें जीवको आभास—प्रकाशप्रतिबिम्ब वर्णन किया है। जैसे—सूर्यादिका प्रतिबिम्ब तत्तत्सम्बन्धसे अनेकरूप धारण करता है और प्रतिबिम्बस्थ गुण किंवा विकार बिम्बसे सम्बन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार चिदाभास अथवा चिदंश यह जीवात्मा अनेक प्रकारके दुःखादि कर्मफल भोगता है और उसके मूल चेतनको किसी प्रकार हानि लाभ नहीं होता। अतः हमारे मन्तव्यमें दोनोंही हो सकते हैं। निराकार किंवा निरवयवमें अंश अथवा प्रतिबिम्ब दोनोंही असम्भव

—: भावार्थ :—

हैं किन्तु जब नारायण सावयव साकार है तब तो प्रकाश वा अंश कुछ भी कहा जाय घट सकता है अतः हमारे पक्षमें किसी प्रकारका दोष नहीं आता। यदि हम लोग पूर्णब्रह्म परमात्माके अंशको जीव वा ईश्वर कहें तब तो नाना दोषारोपण करना सम्भव था किन्तु जब जीव तथा ईश्वरको नारायणांश किम्वा प्रतिबिम्ब मानते हैं और नारायण सावयव साकार है तब तो कोई दोष नहीं। कदाच कहो कि "पादो ऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि [यजु ३१–३] इत्यादि श्रुतिमें "परमात्माके एक पादसे सम्पूर्ण विश्वकी विभूति हुई और तीन पाद अमृतस्वरूप दिवमें स्थित हैं, ऐसा लिखा है अतः इस विश्वके जीवोंको ब्रह्मका अंश मानना ठीक है" तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस वेद मन्त्रमें प्रणवात्मक नारायण पुरुषका वर्णन है, ब्रह्मका नहीं अतः नारायणके एक अंशसे विश्वके सम्पूर्ण जीव हैं यही मानना चाहिये ॥ ४३ ॥

तत्र वैरोचना केचिच्चार्वाकाद्या प्रकीर्तिताः ।
ते त्वन्नमयदेहोऽसावात्मेत्याहु रसद्ग्रहात् ॥ ४४
अहं स्थूलः कृशोऽहं वा श्यामो गौरोऽहमेवच ।
देहेऽहं प्रत्यया दित्थमात्मा देहः प्रकीर्तितः ॥४५

गू०—तत्र चार्वाका देह एवात्मा नतु तद्भिन्न इत्याहुस्तदेव दर्शयति द्वाभ्यां तत्रेति स्पष्टमन्यत् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

भा०—अब जीवात्माके स्वरूपविषयमें मतभेदोंको उपस्थित करते हुए उसके स्वरूपको बताते हैं। विरोचनके मतको माननेवाले चार्वाक आदि नास्तिक लोग दुराग्रहसे इस देहकोही आत्मा मानते हैं और उसकी पुष्टिमें लौकिक व्यवहारके वाक्योंको उपस्थित करते हैं। इनका

—: भावार्थ :—

कहना है कि 'मैं गौर वर्ण हूं,' मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, इत्यादि व्यवहारसे पता लगता है कि यह देहही आत्मा है। यदि देह आत्मा न होता तो अहं प्रतीति देहमें न होती अतः देहको आत्मा मानना चाहिये ॥

आत्मनश्चेतनो धर्मः सच देहे न लभ्यते ।
अतो नात्मा देह इति मृतेषु व्यभिचारतः ॥ ४६
अहं देहोऽस्मीति वाक्यं युज्यते न कदाचन ।
देहो ममेति कथनाद्देहदाहे त्वपातकात् ॥ ४७

गू०—देहस्य चेतनाभावान्नात्मत्वं मृतदेहे चेतनाभावदर्शनादिति चार्वाकमतं निराकुर्वन्नाह आत्मन इति । पुनरहं देहोऽस्मीति प्रयोगाभावाद्देहो ममेति व्यपदेशाद्देहदाहेऽपि पातकाभावाच्च देहो नात्मा भवितुमर्हतीत्याह अहमिति द्वितीयेन ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

भा०—चार्वाक मतका खण्डन करते हुए आत्माका धर्म—लक्षण वर्णन करते हैं। देखो जी ! देह आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्माका चेतन—धर्म नित्य और सर्वमान्य है । यदि आत्माको जड़ मानें तब तो रेल, मशीन, घड़ी, आदि यावत् जड़ पदार्थ हैं सबको आत्मा मानना पड़ेगा अतः आत्माको चेतन माने बिना निर्वाह नहीं हो सकता और जब आत्मा चेतन है तो देहको आत्मा नहीं कह सकते; कारण मरनेके वाद देहमें चेतन—धर्म नहीं पाया जाता और 'मैं देह हूं' ऐसा व्यवहार भी नहीं होता; किन्तु मेरी देह है, मेरे शरीरमें दुःख है, मेरा शरीर दुर्वल हो गया है इत्यादि व्यवहार होता है अतः विदित होता है कि आत्मा देहसे भिन्न वस्तु है। मृतक देहके दाह करनेमें आत्मघातका

—: भावार्थ :—

अपराधभी नहीं देखा जाता। इत्यादि उपरोक्त प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भी देहको आत्मा कहना सिद्ध नहीं होता अतः मानना चाहिये कि यह देह आत्मा नहीं है ॥ ४६--४७ ॥

स्थूलोऽहमिति यद्वाक्यं गौणमेतन्न मुख्यतः।
अहं धनी भद्रसेनो ममात्मा चेति वाक्यवत् ॥ ४८

गू०—स्थूलोऽहं कृशोऽहं श्यामोऽहं गौरोऽहमिति यदुच्यते चार्वाकैर्देहात्मवाद दृढीकरणार्थन्तन्निराकुर्वन्नाह स्थूल इति। स्थूलोऽहमित्यादि यद्वाक्यं तद्गौणमेव न मुख्यतः अहंधनी ममात्मा-भद्रसेन इतिवद् गौणमेव ॥ ४८ ॥

भा०—देहात्मवादके पक्षमें जो यह पुष्टि उपस्थि की जाती है कि 'मैं श्याम हूं, मैं स्थूल हूं, मैं दुर्बल हूं, इत्यादि वाक्य मुख्य नहीं किन्तु गौण हैं। जैसे किसीने कहा कि "मैं धनवान् हूं, देवदत्त मेरा आत्मा है" इत्यादि वाक्योंमें ममभाव औपचारिक है वास्तविक नहीं। कारण कोई किसीका आत्मा नहीं हो सकता किन्तु घनिष्ट सम्बन्ध देखकर लोग कहने लगते हैं 'अरे! वह तो उनकी आत्मा है, यहां आत्माका अर्थ प्रिय परक है अर्थात् आत्माके समान प्रिय है। इसी प्रकार धनवान हूं यहां पर धनका सम्बंध सत्तासे है नाकि स्वरूपसे; अतः ये वाक्य गौण माने गए हैं। इसी प्रकार 'मैं श्याम हूं स्थूल हूं' ये वाक्य गौण हैं अतः देहको आत्मा नहीं कह सकते ॥ ४८ ॥

अथबौद्धाः प्रभाषन्ते आत्मेन्द्रियगणो मतः।
अहं शृणोमि पश्यामि गच्छामीति प्रतीतितः ॥४९

गू०—तदेन्द्रियात्मवादिनो बौद्धा आहुरिति दर्शयति अथेति। अथेत्यनन्तरार्थे चार्वाकमतनिराकरणानन्तरं बौद्धाः प्रभाषन्ते ब्रुवन्तीत्यर्थः। कथमित्यपेक्षायामाह इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां गणः संघात आत्मा मतः। कुत इत्यपेक्षायामाह अहं शृणोमीत्यादि प्रतीतितः प्रतीतेः पञ्चम्यास्तसिल् अहंशब्दस्यश्रोत्रादौप्रत्ययादित्यर्थः॥ ४९॥

भा०—इन्द्रियोंकोही आत्मा माननेवाले इन्द्रियात्मवादी बौद्ध लोग कहते हैं कि "मैं सुनता हूं, देखता हूं, खाता हूं, गन्ध लेता हूं, इत्यादि व्यवहार परसे क्रियात्मक व्यवहारका फल इन्द्रियोंमें देखा जाता है अतः निश्चय होता है कि इन्द्रियही आत्मा हैं यदि इन्द्रियाँ आत्मा न होतीं तो क्रियाका फल इन्द्रियोंमें न रहता अतः इन्द्रियोंको आत्मा मानना चाहिये॥ ४६॥

नात्मत्वमिन्द्रियाणां स्यादुपघाते स्मृतिर्यतः।
अहं चक्षुरहं श्रोत्र मेवमाद्य- प्रतीतितः॥ ५०

गू०—बौद्धमतं युक्तिभिर्निरस्यति नेति यत इन्द्रियाणामुपघाते स्मृतिर्जायते किंतु चक्षुष्यसति अहमेतदद्राक्षं श्रोत्रेऽसत्यहमेतदश्रौष- श्चेतिस्मृतिरुपपद्यतेऽतस्तस्मादात्मात्वन्यएवेन्द्रियेभ्य इति पुनरहं चक्षु- रहं श्रोत्रमित्येवमादि प्रतीतिर्न भवति किंतु ममचक्षुर्मम श्रोत्रमित्ये- वमादिव्यपदेशोभवतीत्यत इन्द्रियाणां नात्मत्वं स्यादिति॥ ५०॥

भा०—इन्द्रियात्मवादी बौद्ध मतका निराकरण करते हैं। इन्द्रि- योंके नाश होने पर भी इन्द्रियज्ञानका स्मरण देखा जाता है अतः इन्द्रिय आत्मा नहीं हो सकतीं। जैसे—किसी मनुष्यके दोनों नेत्र बिगड़ जावें या दृष्टिरहित हो जावें तो भी वह यह स्मरण कर सकता है कि मैंने अमुक वस्तुको देखा था। दूसरा कारण यह है कि ऐसा

—ः भावार्थः —

कोई नहीं कहता कि मैं आँख हूं, मैं कान हूं, जीभ हूं, हाथ हूं, किन्तु मेरी आँख, मेरे कान, मेरी नाक, मेरा हाथ, इस प्रकार व्यवहार होता है अतः इस परसे भी विदित होता है कि आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है। मरनेंके बाद इन्द्रियाँ बनी रहती हैं और व्यवहार बन्द हो जाता है इस परसे भी निश्चय होता है कि इन्द्रियों द्वारा व्यवहार चलानेंवाला आत्मा भिन्न है; अतः इन्द्रियाँ—आत्मा नहीं हो सकतीं ॥ ५० ॥

हिरण्यगर्भोपास्तिपराः प्राण आत्मेतिवादिनः ।
प्राणं विना न तिष्ठन्ति चक्षुरादीनि निश्चयः ॥५१
मूकोऽपि बधिरः पंगुरन्धस्तिष्ठति प्राणभृत् ।
क्षुधितस्तृषितोऽहं तु प्रतीतेरिति ते जगुः ॥ ५२

गू०—प्राणात्मवादिनः प्राणएवात्मेति मन्यन्ते तन्मतं दर्शयति द्वाभ्यांहिरण्येति। प्राणंविनाचक्षुरादीनीन्द्रियाणि न तिष्ठन्ति इति निश्चयः 'यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिवदृश्यत इति श्रुतेः यदि प्राणभृज्जनस्स्यात्तदा मूको वागिन्द्रियरहितोऽपिबधिरः पंगुरपि जनस्तिष्ठति अतः प्राणस्य श्रैष्ठ्यमिन्द्रियेभ्य इति ज्ञायते॥ पुनः क्षुधितोऽहं तृषितोऽहमिति प्रतीतेरपि प्राणस्यैवात्मत्वमिति ते हिरण्यगर्भोपासका जगुरूचुः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

भा०—हिरण्यगर्भोपासक प्राणकोही आत्मा कहते हैं। इनका कहना है कि प्राणके बिना नेत्र, कान, नाक आदि इन्द्रियां व्यापार शून्य हो जाती हैं और प्राणके शरीरमें रहनेपर नेत्र, कानादिके बिना भी मनुष्य जीवित रह सकता है अतः शरीरको स्थिर रखनेवाला प्राणही आत्मा है। मैं भूखा हूं, मैं प्यासा हूं इत्यादि परसे भी प्राणका आत्मा

—: भावार्थ :—

होना निश्चित पाया जाता है क्योंकि क्षुधा तृषा आदि प्राणकेही लक्षण हैं। प्राणके न रहने पर शरीर मृतक तो जाता है । श्रुतिमें भी " यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते " इस प्रकार प्राण रहित मृतक शरीरको अशुद्ध बताया है अतः सिद्ध होता है कि प्राणही आत्मा है, इस प्रकार: प्राणात्मवादी लोग कहते हैं ॥ ५१-५२ ॥

प्राणस्य जडता शश्वद्दृश्यते नात्मता क्वचित् ।
घटवत्स विनाशी स्यादतो नात्मेति मन्यताम् ॥५३

गू०—प्राणस्यनात्मत्वंजडत्वाद्घटवदित्याह प्राणस्येति ननु-कथंप्राणस्य विनाशित्वमुच्यते इतिचेच्छृणु " एतस्माज्जाय ते प्राणः मनस्सर्वेन्द्रियाणिचेति श्रुत्योत्पत्ति श्रवणात् "तथा प्राणा इति वेदान्त सूत्रेणाप्युत्पत्तिश्रवणाच्च प्राणस्य विनाशित्वं गृहाण । अतो जडत्वाद्-घटवद्विनाशित्वाच्च प्राणो नात्मेति मन्यताम् ॥ ५३ ॥

भा०—प्राणात्मवादी लोगोंके मतका खण्डन करते हैं । प्राण जड़ होनेसे आत्मा नहीं हो सकता । देखो ! स्वप्न वा सुषुप्तिमें प्राणवायु रहता है परन्तु चेतनता नहीं रहती । प्राणके होते हुए भी चेतनता नहीं रहती अतः प्राण जड़ है । जड़ होनेसे घटादि पदार्थोंकी भाँति नाशवान् है इस लिये भी प्राणको आत्मा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न—प्राण नश्वर है इसका प्रमाण क्या है ? । उत्तर—श्रुति स्मृति तथा सूत्र आदि अनेक प्रमाण हैं। देखो मुण्डक (२-खं० ७-मं०३) श्रुति प्राणको अनित्य वर्णन करती है । यथा—" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ "

अर्थ:—उस पुरुषसे प्राण, मन तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एवं आकाश, वायु,

—: भावार्थ :—

अग्नि, जल, पृथिवी आदि सब उत्पन्न हुए। वेदान्तदर्शनमें व्यासजी लिखते हैं—" तथा प्राणाः (ब्रह्म सू० २-४-१) जिस प्रकारसे आकाशादिकी उत्पत्ति सुनी जाती है उसी प्रकार प्राणोंकी उत्पत्ति भी देखनेमें आती है। बृहदारण्यमेंभी लिखा है " अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृ० २-१-२०) इस पुरुषसे सब प्राण, सब लोक, सम्पूर्ण देव गण एवं समस्त प्राणीमात्र उत्पन्न होते हैं। इत्यादि बहुशः प्रमाण प्राणकी उत्पत्ति वर्णन करते हैं और उत्पन्न होनेवाले पदार्थ नाशवान् हुआ करते हैं। इस लिये प्राणको अनित्य-नाशवान कहना उचित है और नाशवान होनेसे प्राण आत्मा नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

मन आत्मेति केऽप्याहुस्तन्नयुक्तं प्रमाणतः ।
मनोममेति भेदोक्तेः मनोऽहमिति नोच्यते ॥ ५४

गू०—मनआत्मवादिनां मतं निरस्यति मनः इति। केचिन्मनएवात्मेत्याहुस्तन्नयुक्तं तत्राह प्रमाणतः। प्रमाणेभ्योमनस आत्मत्वमयुक्तमित्यर्थः। प्रमाणानि श्रुतयः " एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इति " अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राण इति " छांदोग्यश्रुत्यान्नमयात्वकथनात् पुनरेतस्माज्जायते प्राणः मनः ' इति मुण्डकश्रुत्या " तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्चेति" सांख्यसूत्रेण च मनसो उत्पत्ति प्रलय दर्शनाच्च नात्मत्वकथनं युक्तमिति पुनः मम मन इति भेदोक्तेः भेदविवक्षायामेव षष्ठी भवति अन्यत्र प्रथमा सा च नात्र प्रयुज्यते यस्यां प्रयुज्यमानायां मनोऽहमित्येवं प्रयोगः स्यात् इत्यभिप्रायेण मूले मनोऽहमिति नोच्यत इत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

भा०—कोई २ लोग मनकोही आत्मा कहते हैं परन्तु मन अन्नमय तथा अनित्य होनेसे आत्मा नहीं हो सकता। आत्मासे भिन्न भी मनका वर्णन देखा जाता है। जैसेकि—" एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः (तै० आ० व० ४) इस मनोमय आत्मासे अन्य अन्तरात्मा विज्ञानमय है। इस श्रुतिने मनसे भिन्न विज्ञानमय आत्माका वर्णन किया है। छान्दोग्य श्रुतिमें "अन्नमयं हि सौम्य मन आपो मयः प्राणः (छा० ६–५–४) इस श्रुतिमें मनका अन्नमयस्वरूप बताया है। अन्नमय होनेसे भी मन नित्य नहीं हो सकता और जब नित्य नहीं तब आत्मा कैसे हो सकता है?। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च (मु० २–१–३) इत्यादि मुण्डक श्रुति प्राण तथा मनकी उत्पत्ति वर्णन करती है। तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च [सां० २—२२] मनकी उत्पत्ति सुनी जाती है अतः उत्पन्न पदार्थ होनेसे मन नाशवान है। इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे मनकी अनित्यता सिद्ध होती है। ' मेरा मन, देवदत्तका मन ' इत्यादि व्यवहार परसेभी मनका भिन्न होना पाया जाता है। मैं मन हूं ऐसा प्रयोग नहीं होता इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे मनकी अनित्यता ज्ञात होती है और अनित्य होनेसे मनको आत्मा कहना असंगत है ॥५४

विज्ञानवादि बौद्धेन बुद्धिरात्मेति भाष्यते।
क्षणं क्षणं बुद्धिवृत्ति र्नानाभावं प्रपद्यते ॥ ५५

गू०—तत्र विज्ञानात्मवादिमतं दर्शयति। तेनबुद्धि रेवात्मेति भाष्यते साचबुद्धिवृत्तिः क्षणंक्षणं नानाभावं प्रपद्यते इत्याहुः ॥५५॥

भा०—क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध लोग बुद्धिकोही आत्मा मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्धि स्वतः प्रकाशरूप होनेसे बुद्धिही चेतन आत्मा है। ज्ञान सुखादि सब बुद्धिकेही अवान्तर भेद हैं। प्रतिक्षण

—: भावार्थ :—

परिवर्तनशील होनेसे सब भाव बुद्धिकेही हैं। एवं पूर्व पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञानका हेतु होनेसे सुषुप्ति अवस्थामें भी बुद्धिमें किसी प्रकार विकार-बाधा उत्पन्न नहीं होती, अतः प्रतिक्षण परिवर्तनशील बुद्धिही चेतन आत्मा है ॥ ५५ ॥

बाल्ये विलोकितस्यैव स्थविरे स्मरणोदयात्।
मम बुद्धिरिति ख्यातेर्बुद्धि र्नात्मेति ज्ञायते ॥ ५६

गू०—क्षणिकात्मवादिमतं निराकरोति बाल्ये इति। बाल्ये विलोकितस्यस्थविरेऽपिस्मरणोदयात् नात्मा क्षणिको भवितुमर्हति पुनर्ममबुद्धिरिति ख्यातेर्बुद्धिरहमिति–अख्यातेश्च नात्मा बुद्धि रिति-ज्ञायते ॥ ४६ ॥

भा०—क्षणिक विज्ञानवादीके मतका खण्डन करते हैं। यदि आत्मा प्रतिक्षणमें परिवर्तन पानेवाला और पूर्व पूर्व नष्ट होनेवाला होता तो बाल्यावस्थामें देखे हुए पदार्थोंका वृद्धावस्थामें स्मरण न होता क्योंकि अन्य क्षणके आत्माको अन्यक्षणवाले आत्माद्वारा देखा सुना स्मरण नहीं होना चाहिये किन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता अतः क्षणिक बुद्धिको आत्मा नहीं कह सकते। मेरी बुद्धि अच्छी है; उसकी बुद्धि खराब हो गई है इत्यादि भेद प्रतीतिके कारण भी बुद्धिको आत्मा मानना असंगत लगता है अतः बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

अत्रान्ये नास्तिका आहुश्शून्यं सर्वमिति स्थितम्।
तन्न युक्तं प्रमाणस्य शून्यत्वं स्वीकृतं यदि ॥५७

गू०—तत्रान्ये माध्यमिका नास्तिकास्सर्वंशून्यंस्थितमित्याहुः

यदि प्रमाणस्य शून्यत्वं स्वीकृतं तर्हि प्रमाणशून्येऽप्रमाणत्वात् सर्वं शून्यमिति यदुक्तं तन्नयुक्तं प्रमाणशून्यांगीकारे सर्वं शून्यमिति कथनं न युक्तमितिभावः ॥ ५७ ॥

भा०—कोई शून्यवादी लोग कहते हैं कि सब शून्य है अर्थात् आत्मा, देह, इन्द्रिय, जगत आदि यावत् पदार्थ सब शून्य हैं। उत्तर-यदि शून्यवादीके मतमें सब शून्य है तो प्रमाणभी शून्य हो गया। जब प्रमाण शून्य हुआ तो जगतको शून्य कहना यहभी प्रमाण शून्य हुआ। जब तुमारा कहना प्रमाण शून्य है तो मान्य न रहा अतः सब जगतको शून्य कहना उचित नहीं ॥ ५७ ॥

प्रमाणे सति शून्यत्वं सर्वस्य न भवेत्क्वचित्।
अप्रमाणं सर्वशून्यं कथमङ्गीकृतं भवेत् ॥ ५८

शू०—तदेव पुनर्विशदयति प्रमाण इति। प्रमाणे मन्तव्ये सति सर्वस्य शून्यत्वं क्वचिन्नभवेत्। अप्रमाणं सर्वशून्यं कथमङ्गीकृतं भवेत् ॥ ५८ ॥

भा०--कदाच कहो कि हमारा कहना प्रमाण शून्य नहीं है, प्रमाणको तो मानते हैं तो सबको शून्य कहना, यह घट नहीं सकता क्योंकि सर्व शून्यके अन्तर्गत तो प्रमाण भी आ गया; यदि कहो कि शून्यवादमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं तो विना प्रमाण आपका सर्वशून्य कहना स्वीकृत कैसे होगा? अतः आत्मा जगत आदि यावत् पदार्थ हैं; उन्हें शून्य कहना ठीक नहीं, यही मानना चाहिये ॥ ५८ ॥

अत आत्मा पंचकोशातीतो नारायणांशकः।
अविद्यामलिनीभूतोऽल्पज्ञोऽनीशः प्रकाशते ॥ ५९

गू०—उक्तनानामतान्निराकृत्य पूर्वोक्तं स्वसिद्धान्तं पुनस्संक्षेपेणोक्त्वोपसंहरति ॥ अत इति । अतो नास्तिकादि मतस्यासामंजस्यात् आत्मा नारायणांशकः प्रकाशते भाति । कीदृशः पञ्चकोशानतीत्य वर्तमानः । के पंचकोशा—अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः विज्ञानमयः, आनन्दमयः तानतीत इत्यर्थः ॥ पुनः कीदृशः अविद्यया अज्ञानेनावृतः पुनरल्पज्ञः पुनरनीशः ॥ ५९ ॥

भा०—उपरोक्त नाना मतोंका खण्डन कर अब संक्षेपसे निजसिद्धान्तकी स्थापना करते हैं । प्रस्तुत मतोंके कथनानुसार देह, इन्द्रिय तथा प्राण एवं बुद्धि आदिको आत्मा कहना असंगत होनेसे आत्मा इनसे भिन्न है । वह आत्मा पञ्चकोश [अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय] से पर नारायणका अंशरूप है । किन्तु अविद्यायुक्त होनेसे अज्ञान, अल्पज्ञ और अनीश—परतन्त्र है ॥ ५९ ॥

रूपं तु त्रिविधं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं तु कारणम् ।
महाकारण-मित्येके मुनयः संप्रचक्षते ॥ ६०

गू०—स्थूलं रूपं सृजन्तिहीति सप्तत्रिंशतिश्लोकेयदुक्तं तत्र रूपाणां चातुर्विध्यं दर्शयति रूपमिति ॥ ६० ॥

भा०—प्रथम जो नारायणके स्थूलरूप—जाग्रदवस्थाभिमानीका जो वर्णन किया गया है उसमें ईश्वर और जीवके समष्टि व्यष्टि भेदसे चार २ रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण, ऐसा महात्मा लोग कहते हैं ॥ ६० ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्च तुर्य्या चेति चतुर्विधाः ।
अवस्थाः कविभिः प्रोक्ताः शुद्धतत्त्वविचक्षणैः ॥ ६१

भा०—उपरोक्त चार स्वरूपकी चारही अवस्था-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं, इस प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं। अर्थात् स्थूलकी जाग्रत्, सूक्ष्मकी स्वप्न, कारणकी सुषुप्ति और महाकारणकी तुर्या अवस्था मानी जाती है ॥ ६१ ॥

यदेन्द्रियाणि सर्वाणि गृह्णन्ति विषयान् स्वकान्।
तदा जागरिताऽवस्था प्रोच्यते मुनिपुङ्गवैः ॥६२

भा०—जिस समय श्रोत्र, नेत्र रसना आदि सब इन्द्रियाँ शब्द, रूप, रस आदि अपने २ विषयोंको ग्रहण करती हों उसे मुनीश्वर लोग जाग्रदवस्था कहते हैं ॥ ६२ ॥

जाग्रद्दशायां यद्दृष्टं श्रुतं तद्वासनान्वितः।
इन्द्रियेषु प्रसुप्तेषु मनोभ्रान्तिश्च स्वप्नकः ॥ ६३

भा०—जाग्रदवस्थामें जिस प्रकार आत्म इन्द्रिय तथा मनके संयोगसे पदार्थोंके स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसी प्रकार इन्द्रियोंके सुप्त हो जानें पर मनद्वारा विषयोंके ग्रहण करनेको अथवा तो सोजानेके पश्चात् मनके भ्रमणद्वारा जो अनुभव प्रतीत होता है उसे स्वप्न अर्थात् स्वप्नावस्था कहते हैं ॥ ६३ ॥

अहं किञ्चिन्न जानामि मया निद्रानुभूयते।
इत्येवं या घोरनिद्रा सा सुषुप्तिर्निरूप्यते ॥ ६४

भा०—स्वप्नमें घोर निद्राके बढ़ जानेसे जब कुछभी अनुभव नहीं होता अर्थात् मन विशेष निद्राके कारण अपनी कल्पनाका स्मरण नहीं रख सकता तब उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। जैसे लोग कहा

—: भावार्थ :—

करते हैं कि आज तो हम खूब सोए, बड़े आनन्दके साथ सोए इत्यादि का नाम सुषुप्ति अवस्था है ॥ ६४ ॥

अवस्था त्रितयाभिन्ना तुर्यावस्था प्रगीयते ।
विश्वतैजस प्राज्ञाश्च ब्रह्म चेत्यभिमानिनः ॥ ६५

गू०—तुर्यावस्थां विशदयति अवस्थेति । विश्वंतैजसम्प्राज्ञा ब्रह्म चेत्यभिमानिनः । विश्वाभिमानी जाग्रत्, तैजसाभिमानी स्वप्नः प्राज्ञाभिमानिनी सुषुप्तिः, ब्रह्माभिमानिनी तुर्य्या चेति बोध्यम् ॥६५

भा०—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थासे भिन्न जो चौथी अवस्था है उसे तुर्य्या कहते हैं । चारो अवस्थाके चारही अभिमानी देव हैं । अर्थात् जाग्रत्का विश्वाभिमानी, स्वप्नका तैजस-अभिमानी सुषुप्तिका प्राज्ञ और तुर्याका ब्रह्म अभिमानी है ॥ ६५ ॥

तत्र जाग्रदवस्थास्थो विराड् विश्वाभिमानकः ।
तत्रैव भुवनं सर्वं विभाति सचराचरम् ॥ ६६

गू०—स्थूलादिकं यद्रूपं चतुष्टयमुपदिष्टं तदेवात्र स्पष्टयति तत्रेति तत्रजाग्रदवस्थायां तिष्ठतीति तथा विश्वाभिमानं करोतीति तथा विराडस्तीति शेषः । तत्रतस्मिन्विराजिचराऽचराभ्यां सहितं सर्वं भुवनं विभाति प्रकाशते ॥ ६६ ॥

भा०—जाग्रदवस्थामें स्थित विश्वाभिमान करनेवाला विराट् पुरुष स्थूलरूप है । उसी विराटमें स्थावर जङ्गम सहित सम्पूर्ण विश्व चतुर्दश लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६६ ॥

स्वप्नावस्थः सूक्ष्मरूपो जगद्धेतुस्तु तैजसः ।
नारायणे नरूपेण द्रष्टा ह्यक्षर एव सः ॥ ६७

गू०—जगतो हेतुस्तैजसाऽभिमानी स्वप्नइत्यवस्था यस्य सः सूक्ष्मरूपो नारायणे नरूपेण द्रष्टा साक्षी सोऽक्षर एव ॥ ६७ ॥

भा०—स्वप्नावस्था है जिसकी ऐसा तैजसाभिमानी स्थूल जगतका कारण सूक्ष्मरूप नारायणस्वरूपसे स्थित साक्षी अक्षरही है ॥ ६७ ॥

अनिर्वाच्या तु या विद्या शरीरद्वयकारणम् ।
सुषुप्तिः सा प्रगीयेत तन्मानी प्राज्ञ उच्यते ॥ ६८

गू०—अनिर्वाच्येति शरीरद्वयकारणं स्थूलसूक्ष्मशरीर बीजरूपा या अनिर्वाच्या विद्या सैव सुषुप्तिः प्रगीयेत तन्मानी प्राज्ञ-उच्यते ॥ ६८ ॥

भा०—स्थूल तथा सूक्ष्मरूपका कारण अनिर्वचनीय जो अविद्या है वही सुषुप्ति अवस्था कही जाती है । इसका अभिमानी प्राज्ञ कहा जाता है ॥ ६८ ॥

अविद्या च महामोह अज्ञानं प्रकृतिः परा ।
निद्रा निराकृतिर्भ्रान्तिरेकार्थास्तत्त्वतो मताः ॥६९

गू०—अविद्याप्रसंगात्तन्नामोपपादयति अविद्येति अविद्यामहामोहोऽज्ञानं प्रकृतिः भ्रान्तिस्तत्त्वत एकार्था मता इति ॥ ६९ ॥

भा०—उपरोक्त श्लोकमें जो अविद्या नाम आया है । इस अनिर्वाच्या अविद्याके अनेक नाम हैं । महामोह, पराप्रकृति, अज्ञान, निद्रा निराकृति, भ्रान्ति आदि सब नाम इसीके हैं । श्रीमुखवाणीमें श्री प्राणनाथजी प्रभुने भी इसी प्रकार वर्णन किया है । यथा—

—: भावार्थ :—

मोह, अज्ञान, भरमना, कर्म, काल और शुंन
ये नाम सारे नीदके, निराकार निरगुन

कहनेका मतलब यह कि मोह कहो, अज्ञान कहो, माया या निद्रा कहो, ये सब अविद्यारूप निद्राके पर्याय वाचक नाम हैं। इस अनिर्वचनीय अविद्याको महात्मा पुरुषोंने अनेक प्रकारसे कहा है ॥ ६९ ॥

तुर्यावस्थं ब्रह्ममानि महाकारण-मुच्यते।
सा चाक्षरसमुद्भूता मता शक्तिः सुमङ्गला ॥ ७०

गू०—तुर्य्यावस्थमिति तुर्य्यावस्थायस्यतत् ब्रह्ममानि महाकारणमुच्यते किंतत्र महाकारणमित्याह सा चेति अक्षरसमुद्भूताया सुमंगलाशक्तिर्मता तदेव महाकारणमिति ॥ ७० ॥

भा०—अब स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनोंको नाममात्रसे कहकर महाकारण रूप जो तुर्या अवस्था है उसे बताते हैं। जिसे ब्रह्माभिमानी महाकारण कहते हैं वह अक्षरब्रह्मसे प्रादुर्भूत सुमङ्गला नामकी शक्ति है। यही समस्तप्रपंचरूप विश्वका महाकारण है ॥ ७० ॥

अक्षरस्य हृदाकाशे जातं ब्रह्माण्डमीदृशम्।
यत्रलोकाः सपाला वै कल्पिताः स्वेच्छया प्रभोः ॥७१

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति पण्डित कृष्ण-मणिशर्म्मसूरि विरचितस्यानन्दसागरस्य द्वितीयस्तरङ्गः ॥ २ ॥

गू०-अक्षरस्येति ईदृशं स्थूलं सूक्ष्मं कारणं महाकारणमित्यर्थः ब्रह्माण्डं सर्वं समष्टि व्यष्टिरूपमक्षरस्यहृदाकाशे जातंप्रादुर्भूतमित्यर्थः यत्र ब्रह्माण्डे सपालाइन्द्रादिदिग्पाल सहिता लोकाः भूरादयश्चतुर्दश संख्याकाः प्रभोस्स्वेच्छया कल्पिता रचिता इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

इतिश्री निजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायां द्वितीय स्तरङ्गः ॥२॥

भा०—इस प्रकार महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूलरूप यह समष्टि व्यष्टि ब्रह्माण्ड अक्षर ब्रह्मके हृदयाकाशमें स्थित है अर्थात् इस स्वप्नरूप ब्रह्माण्डका आधार अक्षरभगवानजीका हृदय है। उसीमें चतुर्दश लोक तथा लोकोंके पालन करनेवाले ब्रह्मादि देव एवं यावत् विश्व अक्षरकी इच्छानुसार कल्पित हुए हैं ॥ ७१ ॥

इतिश्री-आनन्दसागरस्थद्वितीयतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्त शास्त्रिकृता आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ २ ॥

तृतीयतरंगः

स्वप्नं पश्यन्नक्षरस्तु ददर्श स्वाप्निकं जगत् ।
यत्र चाद्यास्सप्तलोकाः पातालास्सप्त एव हि ॥ १

गू०—स्वप्नंपश्यन्नक्षरः किं दृष्टवानित्याकांक्षायामाह स्वप्नमिति स्वप्नाज्जातं स्वाप्निकं जगददर्श । ननु स्वाप्निकमिदंजगदित्यत्र किं प्रमाणं श्रूयतां बृहदारण्योपनिषद्वाक्यतोऽस्यजगतस्स्वप्नोद्भवत्वं निश्चीयते तद्यथा "नतत्ररथानरथयोगा न पन्थानोभवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथःसृजते इति (बृ० ४।३।१०) तथावेदान्तसूत्रं " संध्ये सृष्टिराहहीति" जाग्रत्सुषुप्त्योः संधौभवः संध्यः स्वप्नः तस्मिन्सृष्टि हिं निश्चयेन श्रुतिराह वदतीति सूत्राशयः ॥ यत्र जगतिभूराद्यायेषां-

भा०—स्वप्नको देखते हुए अक्षर पुरुषने इस विश्वको देखा अर्थात् लीलामात्रसे जो अनेक ब्रह्माण्डोंकी रचना जाग्रदवस्थामें करते थे वही स्वप्नद्वारा दृष्टिगोचर होने लगी। कहनेका आशय—जो जाग्रतमें देखते थे वही स्वप्नमें देखने लगे । प्रश्न—जगतरचनाको आप स्वप्नमय वर्णन करते हो तो जगतके स्वप्नमय होनेका प्रमाण क्या है ? । उत्तर—श्रुति स्मृति तथा वेदान्तसूत्र आदि अनेक प्रमाण हैं । श्रुति यथा—" न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते (बृ० ४–३–१०) अर्थः—(तत्र रथाः न) उस स्वप्नमें रथ नहीं है (रथयोगाः न) और न रथयोगा अर्थात् रथके घोड़ा हैं " रथेषु युज्यन्ते इति रथ योगा अश्वादयः " जो रथमें जोड़े जावें उन्हें

ते सप्तलोकाः सप्तपाताला अधोलोकाश्चसन्ति ननु स्वाप्निकं वस्तु पूर्वदृष्टश्रुतानुसारेण भवति जाग्रद्दशायां यद्दृष्टं श्रुतं तद्वासनान्वितः स्वप्नइत्यत्रैवोक्तत्वात् कथमिदं स्वाप्निकमविपरीतं जगदुत्पन्नमितिचेत्-श्रूयताम् एस्मात्स्वाप्निकाज्जगतोऽन्यदपि जगत् ब्रह्मणः बालक्रीडावत्कृतं बोध्यं तस्मादपि पूर्वमन्यदिति प्रवाहरूपेण सर्वदैव जगदुत्पत्तिप्रलयौ बोध्यौ तथा च श्रुतिः 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्

—: भावार्थ :—

रथयोग कहते हैं जैसे अश्व आदि रथके योग होते हैं" (पन्थानः नः भवन्ति) और न उस स्वप्नमें रथादि चलनेके लिये मार्ग है। (अथो) परन्तु द्रष्टा अक्षर पुरुष (रथान् रथयोगान् पथः) रथ, घोड़ा और मार्ग आदि सबको (सृजतें) स्वयं निर्माण कर लेता है। देखिये! इस बृहदारण्य श्रुतिने जगतको स्वप्नरूप वर्णन किया है। अतएव स्वप्नमय+ मानना चाहिये। वेदान्त दर्शनमें व्यासजीने भी जगतको स्वप्नमयही बताया है। यथा—" सन्ध्ये सृष्टिराह हि [ब्रह्मसू० ३-२-१] सन्ध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे वेदे प्रयोगदर्शनात्। सन्ध्यं तृतीयं स्वप्न-

---

टिप्पणी.

+ स्मृति भी इस विश्वरचनाको स्वप्नमय वर्णन करती हैं। यथा-

क्षरः सर्वं प्रपञ्चोऽयमक्षरे प्रतिविम्बितः।
अक्षरस्य दिदृक्षाभूत् ब्रह्मलीला विलोकने॥
तत्प्रियाणां कामोऽभूदक्षरलीला—निरीक्षणे।
तस्य चेच्छा समुद्भूता ब्रह्मण्यज्ञानमसृजत्॥
ब्रह्माण्डं प्रविशन्साक्षी ददर्श स्वप्नगं जगत्।

अर्थः—यह सम्पूर्ण नश्वर प्रपञ्च अक्षर ब्रह्ममें प्रतिविम्बित हो रहा है। अक्षरको ब्रह्मलीला देखनेकी इच्छा हुई और ब्रह्मसृष्टिको

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वरिति च यथापूर्वं कोऽर्थः पूर्वं मनतिक्रम्य सूर्य्यादीनकल्पयत् कृतवानित्यर्थः । यद्यपि स्वप्नादिदं नवीनमेव जातं तथापिपूर्वास्वाप्निकब्रह्माण्डासानुरेणेदं कृतमित्यलम् ॥ ननुस्वप्नोद्भवत्वाद्विपरीतं कुतो न जातं, दृश्यतेहिलोके स्वप्नदृष्टस्य वैपरीत्यं शृणु

—: भावार्थ :—

स्थानमिति । प्रबोध संप्रसादस्थानयोः सन्धौ भवतीति सन्ध्यं, तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति—इति शाङ्करभाष्यम् " अर्थः--व्यासजी कहते हैं कि निश्चय सृष्टि स्वप्नरूप है । शङ्कराचार्यजी कहते हैं कि—सन्ध्य शब्दसे स्वप्नको ग्रहण किया है अर्थात् अक्षर ब्रह्मकी स्वप्नावस्थामें सृष्टि कहना चाहिये । वेदमें ऐसा प्रयोग देखा जाता है । सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम् (बृ० ४–३–९) सन्धि तीसरे स्वप्नस्थानका नाम है । जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाके मध्यमें स्वप्नकी तीसरी अवस्था है इस लिये श्रुतिमें स्वप्नको तृतीय सन्ध्य स्थान कहा है । अर्थात् जाग्रत और सुषुप्ति दोनोंकी सन्धिमें स्वप्न होता है अतः स्वप्नसृष्टिके लिये सन्ध्य शब्दका प्रयोग किया हैं । स्वप्न शब्दसे कदाच किसीको मनुष्यके स्वप्नकी सृष्टिका भ्रम न होने लगे इस लिये शङ्कराचार्यजी उसका अर्थ करते हैं "उस सन्ध्य–स्वप्नस्थानकी सृष्टिसे तथ्यरूप सृष्टिकाही ग्रहण

टिप्पणी.

अक्षरकी बाललीला देखनेकी कामना उत्पन्न हुई । यह देखकर अक्षरातीतने दोनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये अक्षर ब्रह्मके हृदयमें इच्छा होतेही सुमङ्गला शक्तिद्वारा अक्षर ब्रह्मके हृदयसे आवरणवृत्ति उत्पन्न कर उससे अक्षरको अज्ञानावृत कर दिया तब अक्षर भगवान साक्षीरूपसे इस स्वप्नमय जगतको देखने लगे, इस प्रकार 'माहेश्वरतन्त्रमें' लिखा है । पुराण संहितामें भी इस जगतको स्वप्नावस्थामेंही बताया है । यथा—

ब्रह्मवासनानामविपरीतस्यैव जगतो दर्शने स्पृहा जाताऽतोऽक्षरातीता-न्तराज्ञानुसारेण स्वप्रियाभ्यःकारितमिदं याथातथ्यतोजातं कौतुक-मिव तथा यजुर्वेदस्यचत्वारिंशत्तमाध्यायस्थोमन्त्रः "कविर्मनीषीपरिभूः

—: भावार्थ :—

हो सकता है; मनुष्यके स्वप्नका नहीं। इत्यादि प्रमाणोंसे सृष्टि-का स्वप्नमय होना पाया जाता है और स्मृतिमें तो शतशः प्रमाण वि-श्वको स्वप्नमय बताते हैं अतएव विश्वको स्वप्नमय समझना चाहिये। इस स्वाप्निक ब्रह्माण्डमें भू भुव स्वर्ग महर्लोक, जन, तप और सत्यलोक इस प्रकार सात ऊर्ध्व लोक और अतल, वितल, सुतल तलातल, महातल, रसातल, पाताल, ये सात अधोलोक हैं। इस प्रकार चतुर्दशभुवनात्मक स्थावर जङ्गम यह विश्व स्वाप्निक कहा जाता है। प्रश्न—आप इस ब्रह्माण्डको स्वप्नमय बताते हो और स्वप्न हमेशा जाग्रदवस्थामें देखे सुने हुए पदार्थोंकाही होता है क्योंकि जाग्रदवस्थाकी वासनाही स्वप्नमें अनन्त प्रकाररूप धा-रण करती है; तो क्या स्वप्नमय जगतके पहले इसी प्रकारका कोई अन्य ब्रह्माण्ड था? कि जिसे अक्षर भगवान स्वप्नमें देखने लगे हैं। उत्तर—जी! हां, इसके प्रथम असंख्य ब्रह्माण्डहो चुके हैं और भविष्यमें

टिप्पणी.

अपंचीकृतभूतानां विनाशे लिङ्गसंक्षये।
स्वप्नावस्था विनाशः स्यात्कुतो नारायणस्तदा॥
[पु० संहिता अ० २१-६६]

अपंचीकृत पाँच भूतोंके नाश होनेपर लिङ्ग—सूक्ष्म जो शब्द स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि हैं उनका भी नाश होगा तदनन्तर स्वप्नावस्थाका नाश हो जावेगा और स्वप्नावस्थाके नाश होतेही नारायण कैसे रह सकते हैं अर्थात् उनका भी नाश हो जावेगा। इस प्रकार अनेक आगम शास्त्रोंने इस विश्वको नश्वर स्वप्नमय बताया है।

स्वयंभूर्य्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्य इति कवित्वादिलक्षणविशिष्टोऽक्षरः शाश्वतीभ्यः नैरंतर्य्येणाक्षरातीतसंनिधौ वर्तमानाभ्यः समाभ्यः प्रजारूपैर्वर्तमानाभ्यो ब्रह्मप्रियाभ्यो याथात-

—: भावार्थ :—

भी होंगे। क्योंकि अक्षर भगवानकी लीलामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति तथा विनाशरूप प्रवाह अनादिकालसे चला आता है। तदनुसार विश्वकी रचना हुआ करती है। इस बातका स्पष्टीकरण निम्न लिखित वेद मन्त्रने पूर्ण रूपसे किया है। यथा—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः [ऋ० मं १० अ० १२ सू० १९०]

अर्थः—(धाता) धारण करनेवाले अक्षर ब्रह्मने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य चन्द्रमा (स्वः दिवं च) और सुखदायक दिव अर्थात् स्वर्गको [च] और (पृथिवीम्) पृथिवीको [अथो] और [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष आदि सबको (यथापूर्वम्) जैसे पूर्व ब्रह्माण्डमें थे उसी प्रकार (अकल्पयत्) कल्पित किये अर्थात् जैसे पूर्व विश्वमें थे वैसेही इसमें उत्पन्न किये। प्रश्न—स्वप्नसे उत्पन्न होनेके कारण इस विश्वको पूर्व विश्वसे विपरीत होना चाहिये था क्योंकि जाग्रत दशासे स्वप्नमें कुछ न कुछ विपरीतता

टिप्पणी

माण्डूक्य कारिकामें भी इस विश्वकी रचनाको स्वप्नमयही वर्णन किया है यथा—

"स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता"

यह सृष्टि स्वप्नमाया स्वरूप है। इस प्रकार शास्त्रपुराणोंके देखनेसे सृष्टिका स्वप्नमय होना पाया जाता है।

त्थ्यतोऽर्थान् शब्दादीन् वेदार्थान् वा व्यदधात् विविधप्रकारेण अधात धृतवानित्यर्थः। शाश्वतीभ्यस्समाभ्य इत्युक्तत्वाद्ब्रह्मप्रियाभ्य-एव दर्शनार्थं मिदं जातमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

—: भावार्थ :—

अवश्य होती है; तो यह जगत् यथापूर्व कैसे हुआ?। उत्तर—देखोजी! स्वप्नमय होनेसे विपरीत होना चाहिये था किंतु ब्रह्मवासनाओंने यथापूर्व जगतके देखनेकी इच्छा प्रगट की थी अतः तदनुसार जैसा पहले था उसी प्रकारका जगत हुआ; विपरीत नहीं। इसका वर्णन यजुर्वेदमें भी इस प्रकारसे किया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातत्थ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः ॥ यजु० अ० ४० मं० ८

अर्थः—(कविः) क्रान्तदर्शी सबका देखनेवाला " नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा इति बृहदारण्य [५—६] श्रुति " उसके सिवा अन्य कोई सर्वद्रष्टा नहीं है, ऐसा श्रुतिमें लिखा है, (मनीषी) मनका जाननेवाला सर्वज्ञ (परिभूः) अपनी सत्तासे सब ओर होनेवाला (स्वयम्भूः) अपनी इच्छासे स्वयं होनेवाला जो ब्रह्म है उसनें (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) निरन्तर परमात्माके पास रहनेवालीं शाश्वतीसमा—अनादिकालीन प्रजाजन जो ब्रह्मवासना हैं, उनके लिये [याथातत्थ्यतः] जैसा चाहिये उसी प्रकार [अर्थान्] शब्द आदि तन्मात्रा सहित जगतको [व्यदधात्] विधिपूर्वक धारण किया। "शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" शाश्वती प्रजा जो ब्रह्मसृष्टि हैं उनकेलिये अक्षरातीत परमात्माकी प्रेरणानुसार अक्षरब्रह्मने इस जगतको स्वयं धारण किया अतः किसी प्रकारकी विपरीतता नहीं हो सकी, अन्यथा विपरीत होना सम्भव था ॥ १ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवा इन्द्रादयस्तथा ।
गन्धर्वाः किन्नराश्चैव कुमारा ऋषयोऽमलाः ॥ २

गू०—यत्रस्वाप्निकेजगतीति सर्वत्रयोज्यः। विष्णूरमापतिः कुमाराः सनकादयोऽमला निर्मला ऋषयो मरीच्यादयः ॥ २ ॥

भा०—जिस स्वप्नस्वरूप जगतमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देव हैं । यक्ष, किन्नर अप्सरा आदि गन्धर्व हैं । सनत्कुमार, भृगु, मरीचि, वसिष्ठ, मनु आदि निर्मलात्मा ऋषिलोग हैं ॥ २ ॥

सूर्य्याचन्द्रमसौ नागा लोकपालाश्च दिग्गजाः ।
विद्युतः शनयो मेघास्तथैव मरुतां गणाः ॥ ३

गू०—सूर्य्येति । सूर्यश्चचन्द्रमाश्चतौ, देवता द्वन्द्वेचेति पाणिनीय सूत्रेणोत्तरपदे–आनङि। लोकपाला इन्द्रादय इत्यादि ॥ ३ ॥

भा०—सूर्य चन्द्र आदि तारागण, वासुकी आदि सर्प, आठो दिशाके रक्षक दिक्पाल, विद्युत, मेघ, पवन आदि सब स्वप्नमय देखे गए ॥

सिन्धवो गिरयो दीपा नदानद्यः सहस्रशः ।
मर्य्यादापर्वताश्चान्ये लोकालोकास्तथाचलाः ॥ ४

भा०—क्षीर समुद्र आदि सात सागर, सुमेरु आदि आठ प्रकारके पहाड़, जम्बू आदि नव द्वीप, शोणभद्रादि नद, गंगा आदि नदी, नव खण्डोंकी सीमा बांधनेवाले लोकालोक पर्वत आदि देखनेमें आए ॥ ४ ॥

ब्रह्मक्षत्रिय विद् शूद्रास्तथैव चतुराश्रमाः ।
अण्डजाः पिण्डजाश्चेति श्वेदजास्तरुजातयः ॥५

गू०—ब्रह्मेति । ब्रह्मादयश्चत्वारोवर्णाः चतुराश्रमाः ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थवानप्रस्थ भिक्षवइत्यर्थः । अण्डजाः पक्षिप्रभृतयः । पिण्डजामनुष्यादयः । स्वेदजा मत्कुणादयः । तरुजातयः उद्भिज्जा इति ॥ ५ ॥

भा०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रम; अण्डज, पक्षी आदि, पिण्डज, मनुष्यादि, स्वेदज + खटमल, जुवाँ, लीख आदि; उद्भिज्ज,—पृथिवी आदिको फोड़कर अंकुरसे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, लता आदि सबको देखा ॥ ५ ॥

एवं विधा विचित्रा हि चतुराशीति लक्षकाः ।
योनयः प्रभुणाक्लिप्ता ब्रह्माण्डे स्वप्नसंभवे ॥ ६

भा०—इस प्रकार स्वप्नमय ब्रह्माण्डमें चौरासीलाख नाना योनि के प्राणियोंकी रचना अक्षर भगवान द्वारा हुई ॥ ६ ॥

भूर्लोके सप्तद्वीपास्स्युः जम्बूप्रभृतिभेदतः ।
जम्बाख्ये नव वर्षास्स्युः भारतादिप्रभेदतः ॥ ७

भा०—चतुर्दश भुवनोंके मध्यमें जो भूलोक है, इसमें जम्बू आदि सात द्वीप हैं । उनके नाम जम्बूद्वीप, १ प्लक्षद्वीप, २ शाल्मलि, ३ कुश, ४ क्रौंच, ५ शाक, ६ पुष्कर, ७ इस प्रकार सात माने गए हैं । सातो द्वीपोंमें जो प्रथम जम्बूद्वीप है उसमें नव खण्ड हैं । उनके नाम

टिप्पणी.

+ स्वेद शब्दसे उष्मा-गरमीका ग्रहण होता है, केवल पसीनाका नहीं; इस लिये गेंहूँ चना आदि अन्नमें तथा काष्ठ-लकड़ी एवं वस्त्र, कूड़ा कचरा आदिमें गरमीके सहकारसे उत्पन्न जितने कीड़ा आदि जन्तु हैं वे सब स्वेदजही कहे जाते हैं ।

—: भावार्थ :—

भरतखण्ड, इलावृत, किंपुरुष, भद्राक्ष, केतुमाल, हरिवर्ष, हिरण्य, रम्यवर्ष, और कुश इस प्रकार नव खण्डके नव नाम हैं। खण्डको वर्ष भी कहते हैं अत एव कोई २ खण्डके स्थानमें वर्ष शब्द लिखते हैं जैसे भारतवर्ष, किंपुरुष वर्ष इत्यादि ॥ ७ ॥

तत्रापि भारतेखण्डे देशाँश्च मथुरामुखान् ।
ददर्श ह्यक्षरं ब्रह्म स्वप्नोद्भूतान्पृथक्पृथक् ॥ ८

गू०—तत्रेति तत्रापि जम्बूद्वीपे यो भारतखण्डस्तस्मिन्मथुरामुखान्मथुरानगरादीन्ददर्श दृष्टवानित्यर्थः ॥ ८ ॥

भा०—इस स्वप्नरूपी, भरतखण्डके मध्यमें मथुरा आदि नगरोंको अक्षर भगवानने विविध वन उपवन सम्पन्न देखा अर्थात् बनाया ॥ ८ ॥

यथा कश्चिद्धि काशीस्थो मथुरां स्वप्नतो गतः ।
तथाक्षरो स्वधामस्थो दृष्टवान् जगदीदृशम् ॥ ९

गू०—अक्षरस्य ब्रह्मणः स्वप्नदृष्टान्तं दर्शयति यथेति नचात्र स्वप्नसंभवे ब्रह्माण्डे किं प्रमाणमित्याशंक्यम् "नतत्र रथा न रथयोगा

भा०—स्वाप्निक जगतको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं। जैसे काशीपुरीमें स्थित कोई मनुष्य स्वप्नमें अपनेको मथुरामें देखने लगे कि अरे! मैं तो मथुरामें हूं। इसी प्रकार अक्षरभगवान अपने धाममें स्थित इस ब्रह्माण्डको देखरहे हैं। वास्तवमें न तो स्वप्नही किसी दूसरे स्थानमें होता है और न स्वप्नद्रष्टा कहीं जाता है; किन्तु अज्ञाननिद्रासे आवृत हो प्रथम अनुभूत पदार्थोंकोही स्वप्नमें देखने लगता है। यही बात स्वामी श्री प्राणनाथजी निजमुखसे श्रीमुखवाणीमें कहते हैं यथा—

न पंथानो भवन्त्यथो' इतिश्रुतेः 'संध्येसृष्टिराहहीति ब्रह्मसूत्राच 'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसोविलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रमिति भागवताच्च जगतः स्वप्नत्वमभ्युपगम्यते ॥ ९ ॥

—: भावार्थ :—

स्वप्न होत दिल भीतर रूह कहूं ना निकसत ।
ये चौदे तबक ज़रा नहीं, एतो दिलमें बड़ा देखत [शृं० १०–८०]

वेसक, स्वप्न दिलके भीतरही होता है। स्वप्नमें दृश्यमान जगत वास्तवमें जरामात्र भी होता नहीं है किन्तु देखनेमें बड़े २ वन नदी पहाड़ आदि प्रतीत होते हैं। इसी भाँति इस नश्वर जगतका वास्तविक मूल कुछ भी नहीं; केवल कल्पना मात्र है परन्तु जहांतक स्वप्न + स्थित है तहां तक महान जगतरूप देखनेमें आता है ॥ ९ ॥

टिप्पणी.

+ भागवत (स्कन्ध ११, अ०१३–३४) में शुकदेवजीने भी इस विश्वको स्वप्नरूप वर्णन करते हुए इसे ब्रह्मकी मानसिक कल्पनामात्र ही वताया है । यथा—

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥

अर्थः—(मनसो विलासम) अक्षरके मनका विलास–कल्पनारूप (इदं) यह सम्पूर्ण जगत् (विभ्रमम्) भ्रममात्र (ईक्षेत) दृष्टिगोचर हो रहा है। (अतिलोलम) अत्यन्त चञ्चल–प्रतिक्षण विध्वन्सी होनेसे अस्थिर (अलातचक्रम्) लकड़ीमें बांधकर घुमाई जानेवाली आतशबाजी [फुलझड़ी] की भाँति यह (दृष्टं विनष्टम्) देखते २ नाश होनेवाला है। अर्थात् जैसे बनेठीमें बांधकर घुमाईजानेवाली आतशबाजीके विस्फुलिङ्ग [चिनगारी] देखते २ ही नाश हो जाते हैं। उसी प्रकार अक्षरके

अथ कृष्णप्रियाः शश्वच्छ्रीकृष्णचरण-प्रियाः।
श्रीकृष्णप्रेरितात्मानो ह्यन्यत्किञ्चिन्न सस्मरुः॥ १०

गू०—अक्षरातीतस्यकिशोर शृंगारमयलीलावलोकने जातस्पृहस्याक्षरस्य स्वेष्टसिध्यर्थं कृततपसः काले मोहाच्छन्नबुद्धेर्हृदाकाशे स्वप्नोद्भवमिव विचित्रंब्रह्माण्डं जातं स्थूलसूक्ष्मकारण महाकारणरूपमिति दर्शितं तस्मिनक्षरस्वप्नोद्भूते जगति स्वप्नाकृष्टचित्ता इवाक्षरातीतप्रियाः जाता इतिदर्शयन्नाह-अथेति, अथाक्षरस्वप्नोद्भवजगद्

अवतरण—अक्षर भगवानने अक्षरातीतकी शृंगारमयी किशोर लीला देखनेकी इच्छासे जो तप किया और उसतपके कारण मोहरूप आवरणसे युक्त हो अक्षरने स्वप्नरूप-स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण युक्त विचित्र ब्रह्माण्डको उत्पन्न किया, यह सब तो बताया गया। अब यह बताते हैं कि उसी स्वप्नरूप जगतमें ब्रह्मप्रिया भी स्वप्नद्वारा वासना रूपसे प्राप्त हुईं।

भा०—अक्षरके स्वप्नमय जगत उत्पन्न होनेके अनन्तर श्रीकृष्णचरण प्रिया-" श्रीकृष्णके चरण हैं प्रिय जिनको तथा ब्रह्माण्डको देखने

टिप्पणी

मनकी स्वप्नरूप कल्पना यह विश्व देखते २ नाश होनेवाला मिथ्या है। (एकं विज्ञानम्) विज्ञानस्वरूम एक अक्षरका मनही (उरुधा इव) देव मनुष्यादिरूपसे बहुत जैसा (विभाति) प्रतीत होता है। यहां पर अक्षर ब्रह्मके मनको विज्ञान कहनेका आशय यह है कि, निद्रावृत्तिसे आच्छादित होनेसे अक्षरके मनका स्वरूप विशेषज्ञानसे रहित हो रहा है " विगतं ज्ञानं विज्ञानं " अर्थात् विगत ज्ञान होनेसे मनको यहां 'विज्ञानं' कहा है। "विज्ञानं यज्ञं तनुते; ' यो विज्ञाने तिष्ठन् " इत्यादि श्रुतियोंमें भी मायायुक्त चेतनकोही विज्ञान कहा है [विकल्पः]

र्णनानन्तरं-शश्वच्छ्रीकृष्णस्य चरणौ प्रियौ यासां ताः श्रीकृष्णेण प्रेरिता आत्मानो यासां ताः कृष्णस्यप्रियाः। अन्यत्कोऽर्थः अक्षरबाल्यलीलावलोकनादन्यत्किञ्चन म सस्मरुः न सस्मार॥ १० ॥

—: भावार्थ :—

के लिये श्री कृष्णद्वारा प्रेरित हो रही हैं आत्मा जिनकी" एवं भूता सखीं-अक्षर ब्रह्मकी बाललीला देखनेके अतिरिक्त और कुछ भी ध्यानमें न ला सकीं अर्थात् सबकीं सब हृदयपटपर चित्ररेखाकी भाँति अक्षरकी बाललीला कब देखनेको मिले इसप्रकार एकाग्रचित्तसे उसीका चिन्तवन करने लगीं; और धाम, लीलादिका आनन्द सब विस्मृत जैसा हो गया ॥

टिप्पणी.

यह विकल्प-देव, मनुष्य, पशु वृक्षादि जड़ चेतन भेद [त्रिधागुणविसर्गकृतः] सत्त्व, रज, तम-गुणोंके परिणामसे बना हुआ (मायास्वप्नः) मायानिमित्तक स्वप्न है । अर्थात् जैसे स्वप्नमें संकल्प विकल्प युक्त मन अनन्तरूपसे प्रतीत होता है और जाग्रत होतेही स्वाप्निक अनन्त कल्पनाका नाश हो जाता है इसीप्रकार मोहनिद्रायुक्त अक्षरका मन अनन्त प्रकारसे भासित होता है । किन्तु मोहरूप निद्राकी निवृत्ति होतेही यह स्वप्नरूप जगत मिट जायगा " और भी स्मृतियोंमें लिखा है कि—

आब्रह्मतृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्

नारायणसे लेकर तृणपर्यन्त यावत् जगत है मायाकी कल्पना मात्र स्वप्नरूप है । पुराणसंहितामें भी इस विश्वको स्वप्नोत्पन्न लिखा है यथा—" स्वाप्निकं सर्वमेतच्च ह्यज्ञानेन विकल्पितम् " अज्ञानद्वारा कल्पित यह सम्पूर्ण विश्व स्वप्नमय है । " सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम् [बृ० ४-३-९] इत्यादि श्रुति और " सन्ध्ये सृष्टिराह हि [ब्रह्मसू० ३-२-१] इत्यादि वेदान्तदर्शनके सूत्रमें जगतके स्वप्न होनेका विस्तरशः वर्णन किया है। जिसका वर्णन १४८ से १५३ पृष्ट तक किया जा चुका है अतः विस्तार भयसे पुनः नहीं लिखा गया ॥ ९

प्रियस्तासां हठं ज्ञात्वा विश्वालोकनचेतसाम् ।
मायाजवनिकां स्वीयां छादयामास शक्तिमान् ॥११

गू०—प्रिय इति । शक्तयः सख्यः सन्त्यस्येति शक्तिमान् प्रीणाति तर्पयति तत्तन्मनोरथवरणेनेति प्रियोऽक्षरातीतो विश्वस्याक्षरबाल्यलीलाजन्यस्यावलोकने चेतांसि यासां तासां हठं ज्ञात्वामायैवजवनिकाछादनवस्त्रं तां छादयामासोर्णुनावेत्यर्थः ॥ ११ ॥

भा०—श्रीराजजीनेमी जब देखा कि मिथ्या जगतको देखनेकेलिये उत्कट इच्छारूप हठको सखियाँ छोड़ना नहीं चाहतीं तो मायारूप अपनी शक्तिका—आवरण परदा डाल दिया ॥ ११ ॥

भूर्लोके भारते खण्डे अक्षरस्वप्नसंभवे ।
स्वामिन्याद्यास्तु ताः सख्यः ब्रजेगोप्यः समागमन् १२

गू०—यदासख्यस्तन्मायाऽऽवृतास्तदाकिमकुर्वनिति चेत्तत्राह भूर्लोकेति भूर्लोके यो भारतनामावर्षस्तत्र मथुरानिकटवर्त्ती व्रजस्तत्रस्वामिनीप्रभृतयस्सख्यो गोप्यो भूत्वेतिशेषः । गोपीरूपेणेत्यर्थः समागमन् समागताः ॥ १२ ॥

भा०—माया आवरणसे आच्छादित होतेही सखीगण अक्षर ब्रह्म के स्वप्नमय जगतको देखनें लगीं अर्थात् भरतखण्डके मध्य व्रज मण्डलमें स्वप्नद्वारा गोपीरूपसे प्राप्त हुईं ॥ १२ ॥

शाखिस्ववृन्तनिष्ठानां पुष्पाणां तु यतस्ततः ।
वाय्वानीताः परिमला यन्त्येवं ब्रह्मणः प्रियाः ॥१३

गू०—स्वधाम्नः सखीनामागमनं नास्मद्ग्रामान्तरवद्गमनं

चित्तवृत्तीनामेवागमनं स्वप्नं पश्यतः पुरुषस्येवेति व्यक्तीकरणार्थं पुष्पदृष्टान्तमाह शाखीति यथाशाखिनो वृक्षास्तेषां स्ववृन्तेषु निष्ठानि तेषां परिमला वायुनानीतास्सन्तो यतस्ततो यन्ति गच्छंन्ति एवं ब्रह्मप्रिया अत्र व्रजे समागताः ॥ १३ ॥

भा०—जिस प्रकार पुष्प अपने वृक्षमेंही लगे रहते हैं और सुगन्धको वायुवेग अन्य प्रदेशमें पहुँचादेता है तथा वृक्ष और पुष्पके संयोगमें भी किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ने पाता। इसी प्रकार ब्रह्मप्रियाजन अपनें परम धाममें स्थित हैं, केवल उनके चित्तकी वृत्तिही मायावेगद्वारा व्रजमें आकर गोपी नामसे प्रसिद्ध हुई है ॥ १३ ॥

अक्षरब्रह्मणो बाल्य चारित्र्यदर्शनोत्सुका ।
सखीनां चित्तवृत्तिर्या गोपीरूपा तु साऽभवत् ॥१४

गू०—सखीनां या चित्तवृत्तिः। गोपीरूपाभूदित्याह। अक्षरब्रह्मण इति बाल्यं चारित्र्यं तस्यदर्शनं तस्मिन्नुत्सुकासखीनां या चित्तस्य वृत्तिस्सागोपीरूपाऽभवत् जातेत्यभिप्रायेणैकवचनमत्र बोध्यम् ॥

भा०—सखियोंकी जिस चितवृत्तिने अक्षर भगवानकी बाललीला देखनेको उत्कट इच्छा प्रगट की थी वही चित्तकी वृत्ति व्रजकी गोपियोंपर आ कर विराजमान हुई है ॥ १४ ॥

अक्षरस्य मनोवृत्तिर्या लीलायां प्रभोः पुरा ।
कदा प्रभुर्दर्शयिष्यत्येवं जात विचारणा ॥ १५

यया वृत्त्या तपश्चक्रे सा वै तद्दर्शनोत्सुका ।
श्रीकृष्णावेशसहिता नंदसूनुर्बभूव ह ॥ १६

गू०—अक्षरस्यापि या मनोवृत्तिरक्षरातीतप्रभुलीलादर्शनोत्सुका साक्षरातीतावेशसहिता कृष्णरूपेणावततारेत्याह द्वाभ्यामक्षरस्येति ॥

भा०—अक्षर भगवानके मनकी जिस * वृत्तिने पूर्णब्रह्मकी किशोर-लीला देखनेकी इच्छासे तप किया था और अभिलाष प्रगट किया था कि "कब अक्षरातीत प्रभु अपनी किशोर लीलाका दर्शन करावेंगे" वही वृत्ति श्री राजजीके चिदावेश युक्त हो आनन्दकन्द यशोदानन्दके नामसे व्रजमें प्रगट हुई है ॥ १५-१६ ॥

तत्रापि कश्चिद्-भेदोऽस्ति सोऽधुना प्रतिपाद्यते ।
रजोगुणात्मको ब्रह्मा जगत्सर्जनतत्परः ॥१७

गू०—अथ चोपरितनश्लोके श्रीकृष्णावेशसहिता नन्दसूनु-

टिप्पणी.

* माहेश्वरतन्त्रके २६ वें पटलमें अक्षरब्रह्मकी दो वृत्ति होनेका उल्लेख पाया जाता है जैसे कि—

" दिदृक्षितान्तःकरणवृत्तिः स्यादक्षरस्य या ।
पुरुषोत्तमविशावती जाता नन्दगृहे तु सा ॥ "

अक्षर ब्रह्मकी जो अन्तःकरणवृत्ति परमात्माकी किशोरलीला देखनेके लिये व्याकुल हो रही थी वही पुरुषोत्तम-अक्षरातीतके आवेश सहित नन्दजीके गृहमें प्रगट हुई । अक्षर ब्रह्मकी चित्तवृत्ति दो प्रकारकी है । एकको विलासकी वृत्ति और दूसरीको खेलकी वृत्ति कहते हैं यथा-

शुद्धा संवलिता चेति चित्तवृत्तिर्द्विधेशितुः ।
लीलावलोकने युक्ता शुद्धाऽन्या विश्वसर्जिनी ॥

अक्षरकी शुद्धावृत्ति किशोरलीला देखनेमें लगी और संवलिताने विश्वको उत्पन्न किया इस प्रकार दो वृत्ति होनेका उलेख पाया जाता है ।

र्बभूव ह'इत्युक्तं। तत्र नन्दस्य पुत्र उक्तो न वसुदेवस्येत्यत्र किमस्ति-कारणमिति चेत्तत्राह। तत्रापीति। अयमत्र भेदो बोध्यः विष्णुरूपो-भगवांश्च चतुर्भुजो वैकुण्ठनिवासी वसुदेवेन तपसातोषितो धरया रक्षो-

भा०—अब यहांपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऊपरके श्लोकमें चिदावेश युक्त अक्षरका नन्द पुत्र होना क्यों कहा? वसुदेव पुत्र होना क्यों न कहा? क्योंकि कृष्ण नामसे तो वसुदेवपुत्रही प्रगट हुए हैं और वसुदेवके यहाँ प्रगट होनेसेही कृष्णका नाम वासुदेव कहा जाता है। इसलिये वसुदेव पुत्र कहना चाहिये। समाधान—कृष्णली-लामें स्वरूपभेद होनेके कारण यहांपर. अक्षरातीतके चिदावेश युक्त अक्षरको नन्दका पुत्र होना कहा है अर्थात् 'वसुदेवपुत्र' नामसे प्र-सिद्ध कृष्ण अन्य हैं और 'नन्दपुत्र' के नामसे प्रसिद्ध कृष्ण अन्य। जो कृष्ण वसुदेवके यहाँ प्रगट हुए हैं वे विष्णुस्वरूप हैं और 'नन्दपुत्र' के नामसे कहे गए कृष्ण विष्णुस्वरूप नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप हैं। इसलिये शास्त्रोंमें नन्दपुत्र और वसुदेवपुत्र, इस प्रकार भिन्न २ नामसे लिखे गये हैं।

वसुदेवजीके यहां पुत्र होनेका कारण तो भागवत, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिखा है कि—"वसुदेव देवकीने पूर्वजन्ममें तपसे विष्णुको प्रसन्नकर 'आप हमारे यहां पुत्र हो' ऐसा वर माँगा था अतः उनके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये, और द्वापरमें असुररूप राजाओंके भारसे पीड़ित पृथिवीका भार उतारनेंके लिये, एवं सनकादिकों द्वारा शापित-जय विजय विष्णुके द्वारपाल जो तृतीय जन्ममें शिशुपाल तथा दन्तवक्र हुए हैं, उनको मोक्ष देनेकेलिये; वैकुण्ठवासी विष्णु वसुदेवजीके यहां पुत्र रूपसे प्रगट हो वासुदेव आदि नामसे प्रसिद्ध हुए हैं और जिन्होंने गोकुल वृन्दावन आदि स्थानोंमें रहकर ११ वर्ष पर्यन्त लीला की है वह

गणभारखिन्नया प्रार्थितश्चाथ सनकादिभिर्वैकुण्ठे राक्षसौ भविष्यथ इति शप्तौ जय विजयौ पुरा तावेव शिशुपालदन्तवक्रौ बभूवतु स्तयोः

—: भावार्थ :—

गोलोकवासी कृष्णके * कलेवरमें विराजमान पूर्णब्रह्म स्वरूप हैं। अर्थात् गोलोकवासी कृष्णके कलेवरमें पुरुषोत्तम परमात्माके आवेश विशिष्ट अक्षरने प्रवेश किया है और गोलोक वासिनी राधिकाजीमें अक्षरकी अङ्गजा अखण्ड लक्ष्मीजीने स्वामिनीजीके आवेश सहित प्रवेश किया है। इस लिये गोलोककी लीला पृथक नहीं देखनेमें आती। यह बात पुराणसंहितामें स्पष्ट लिखी हैं यथा--

---

टिप्पणी

* ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा गर्गसंहिता आदि ग्रन्थोंमें गोलोककी लीला ब्रजमें जिस प्रकारसे प्रगट हुई है; यह सब तो विस्तारपूर्वक लिखा है अतः लिखनेकी आवश्यकता नहीं, रहा अक्षरातीत ब्रह्मके ब्रजमें प्रगट होनेका प्रश्न वह बताया जाता है। यथा—

अवतीर्णा ब्रजभुवि वासनाः कृष्णयोषिताम्।
प्रादुर्भूतस्तत्र नन्दगृहेपि पुरुषोत्तमः॥
कूटस्थ चित्तवृत्तौ तु निजावेशं निधारयत्॥

[पुराण सं० अ० ३१ श्लो० १२-१३]

अर्थः—जिस समय ब्रह्मवासनाओंने परमधामसे आकर ब्रजमण्डलमें गोपीतन धारण किये उसी समय पुरुषोत्तम अक्षरातीतने भी अक्षर ब्रह्मकी चित्तवृत्ति पर अपने आवेशको स्थापितकर नन्दजीके गृहमें मनुष्य तन धारण किया। पूर्णब्रह्म परमात्माने जो तन धारण किया है उसमें अनेक तेज राशियोंका समावेश होनेसे साधारण मनुष्योंको उसकाभेद समझमें नहीं आता। ब्रह्मवैवर्त पुराणके कृष्णखण्ड के अ० १३ वें में लिखा है कि—

मुक्तिदानार्थं च प्रादुर्भुतो वासुदेव इति प्रसिद्धः। अथ च गोकुले या लीला सा गोलोकवर्त्तिनोऽपि कृष्णस्य गर्गसंहितादिषु प्रसिद्धेति

—: भावार्थ :—

स्वामिनी वासना त्वस्यामेव प्रादुर्भविष्यति।
तदंशभूतं मद्रूपं कृष्णः संपूरयिष्यति॥

" गोलोकमें श्रीकृष्णजी अपने सखीगणसे कहते हैं कि दिव्यब्रह्मपुरकी लीला भूलोकमें प्रगट होगी अतः हे गोलोकवासी! तुम सब व्रज मण्डलमें जाकर गोप रूप धारण करो। मैं भी वहांपर मनुष्य कलेवर धारण करूंगा। स्वामिनीजीकी वासना तो इस राधिकामें प्रगट होगी और पुरुषोत्तम अक्षरातीत मेरे स्वरूपको पूरित करेंगे अर्थात् मेरे कलेवर पर आकर विराजमान होंगे। इस प्रकार गोलोकमें गोलोकवासी जनोंके प्रति श्रीकृष्णने कहा है; अतः गोलोकी कृष्णके कलेवरमें पूर्णब्रह्मका होना पाया जाता है।

टिप्पणी

पूर्णब्रह्मस्वरूपोऽयं शिशुस्ते मायया महीम्।
आगत्य भारहरणं कर्ता धात्रा च सेवितः॥

गोलोकनाथो भगवान् श्रीकृष्णो राधिकापतिः।
नारायणो यो वैकुण्ठे कमलाकान्त एव च॥

श्वेतद्वीपनिवासी यः पिता विष्णुश्च सोऽप्यजः।
कपिलोऽन्ये तदंशाश्च नरनारायणावृषी॥
सर्वेषां तेजसां राशिः मूर्तिमानागतः किमु।

अर्थः—हे यशोदे! यह तेरा पुत्र साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मादिसे सेवित पृथिवीके भार हरनेवाले इसे तुम मनुष्य न समझना किन्तु ब्रह्मस्वरूप है। इसके कलेवरके साथ रहकर अपनेको कृतार्थ करनेके लिये अनेक तेज राशियोंने आकर इसमें प्रवेश किया है। गोलोकी-

तत्राप्ययं विशेषः। गोलोकनिवासिनि भगवति अक्षरमनोवृत्ति-रक्षरावेश सहिता संमिलिता अतोनहिरूपपार्थक्यमिति तथोक्तं पुराणसंहितायां गोलोकवासिनेति "स्वामिनीवासना त्वस्यामेव प्रादुर्भविष्यति तदंशभूतं मद्रूपं कृष्णः संपूरयिस्यतीति" एवं द्वारिकायां कृष्णलीला वैकुण्ठवासिनो विष्णोरित्यवसेयं। अथ गोकुले कृत-

—: भावार्थ :—

सनत्कुमार संहितामें भी लिखा है कि गोकुलवासी कृष्ण साक्षात् ब्रह्मके अंश हैं और मथुरामें लीला करनेवाले कृष्ण भिन्न हैं एवं द्वारकामें लीला करनेवाले उनसे भी भिन्न हैं जो केवल विष्णुस्वरूप हैं यथा—

साक्षात्कृष्णो व्रजे नित्यं स्वांशेनै विहारिणः।
तस्यांशो हि मथुरायां वासुदेवो जगद्गुरुः॥
द्वारकायां तदंशोऽस्ति विष्णुवीर्यो यतः प्रभुः।

अर्थः—अपने अंशद्वारा विहार करनेवाले गोकुलवासी कृष्ण साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं। मथुरामें लीला करनेवाले जगद्गुरु वासुदेव

टिप्पणी.

भगवान् राधिकापति श्रीकृष्ण, नारायण, वैकुण्ठवासी कमलापति, श्वेतद्वीपनिवासी क्षीरशायी भगवान, विष्णु, ब्रह्मा, कपिल भगवान, और भी जो अंश अवतार कहे जानेवाले वामन राम, परशुराम, नृसिंह राम आदि एवं नरनारायण ऋषि अवतार इत्यादि सबकी तेजराशियोंको लेकर साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा तेरे गृहमें प्रगट हुआ है। इस लिये हे नन्दयशोदे! आप बड़ी भाग्यशालिनी हैं। भागवत [स्कन्ध १०-१४-३२] में भी शुकदेवजी कहते हैं कि—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

बाल लीलाक्षराक्षरातीतयोरंशावेश सहितस्य नित्यगोलोकवासिनः श्रीकृष्णस्येति अपि च वृन्दावनाश्रया लीलाऽक्षरात्मसहितस्याक्षरातीतस्येति बोध्यम् । एतल्लीलानिर्णयस्त्वग्रे स्फुटीभविष्यतीत्यलं

—: भावार्थ :—

भगवान गोकुलवासी कृष्णके अंशमात्र हैं। "मथुरामें लीला करनेवाले प्रतिबिम्बके कृष्णमें नारायणकी आत्मा और अक्षरका आवेश होनेसे उसे पूर्णब्रह्म कृष्णका अंश कहा है" द्वारका आदि स्थानोंमें लीला करनेवाले कृष्ण मथुरावासी कृष्णके अंशभूत विष्णुस्वरूप हैं क्योंकि विष्णु नारायणके अंश हैं। इत्यादि प्रमाणोंसे कृष्णके स्वरूपमें भेद पाया जाता है अतएव नन्दजीके यहां प्रगट पूर्णब्रह्मस्वरूप कृष्णको वसुदेव पुत्र न

टिप्पणी.

अर्थः—धन्यभाग्य हैं उन नन्द गोप ब्रजवासियोंके कि जिनके पूर्णब्रह्म परमात्मा आनन्दमूर्ति सनातन परम मित्र हैं। वस्तुतः देखा जाय तो नन्द यशोदाजीके भाग्यकी सीमा नहीं हो सकती; क्योंकि जिसके घरमें पूर्णब्रह्मस्वरूप परमात्मा साक्षात् स्वरूपसे विराजते हों उसके भागकी इयत्ता कौन कह सकता है" देखो! ब्रह्माजीने नन्दजीके यहां पुत्ररूपसे प्रगट हुए श्रीकृष्णको साक्षात् पूर्णब्रह्मस्वरूप बताया है और स्वयं प्रार्थना की है कि आपके ब्रज मण्डलमें मनुष्यतन धारण करके आपके दर्शन पर्शनसे अपनेको कृतार्थ करूं, इतना बड़ा तो मेरा भाग्य नहीं है किन्तु किसी पक्षी किंवा वृक्ष लतादिके स्वरूपमें भी अगर मेरा जन्म ब्रज मण्डलमें हो जावे तो मैं अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझूं क्योंकि आपके चरणकी रज तो मेरेको दुर्लभ है किन्तु आपके किसी जन-गोपी ग्वाल या तो किसी ब्रजवासीकी चरण रजको प्राप्त हो जाऊं तो भी अपनेको कृतार्थ समझूंगा। देखो ! भागवत [१०-१४-३०] का प्रमाण कि ब्रह्माजी किस प्रकार स्तुति कर रहे हैं यथा—.

इदानीं लीलाभेदाऽऽविष्करणार्थं तावत्कृष्णावतार प्रयोजनं दर्शयन्नाह रजइति रजोगुण आत्मा स्वरूपं यस्य सो रजोमूर्त्तिरित्यर्थः जगतः सर्ज्जने तत्परः कार्यसंलग्नो ब्रह्माविधातेति ॥ १७ ॥

—: भावार्थ :—

कह कर नन्दपुत्र कहा है । मथुरा द्वारका आदि स्थानोंमें लीलाकरनेवाले कृष्ण वसुदेवपुत्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं । इसका विस्तार आगे दिखाया जायगा । अब लीला भेदके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये वैकुण्ठ वासी विष्णुके अवतारका प्रयोजन बताते हैं । यह जगत त्रिगुणात्मक है और रजोगुण प्रधान ब्रह्माजीद्वारा इसकी रचना हुआ करती है ॥ १७ ॥

टिप्पणी.

तदस्तु मे नाथ ! स भूरिभागो भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पाद पल्लवम् ॥

हे नाथ ! मेरा बड़ा भाग्य हो कि आपकी कृपासे मैं भी इस ब्रजमण्डलके पक्षी वृक्ष आदि किसी तुच्छ जड़ चेतन जन्तु में जन्म धारण करूं या और किसी अधम योनिमें जन्म क्यों न हो किन्तु हो ब्रजमें । जिससे आपके ग्वाल वाल आदि किसीकी चरणरज—धूल मेरे पर पड़ जावे तो मैं कृतार्थ हो जाऊं । क्योंकि आपके चरणकी धूल मिलना तो कठिन है परन्तु आपके किसी जनकी धूल मेरे ऊपर उड़. कर भी पड़ जावेगी तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूंगा । इस लिये हे नाथ ! मेरा जन्म ब्रजके जीव जन्तुओंमें हो जावे, इतना अनुग्रह तो अवश्य करो । देखिये ! यहां पर ब्रह्माजी किस प्रकार ब्रजवासियोंकी चरणरजके लिये तरस रहे हैं, बार २ झखमार रहे हैं कि किसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप कृष्णके साथी ग्वाल बालोंकीही चरणरज मिल जावे । इसका मुख्य अभिप्राय यही था कि अन्य अवतारोंमें पूर्णब्रह्मके स्वरूपका दर्शन कहां ? वहां ब्रह्मानन्दका आस्वाद कहां ? और ब्रजमें तो जन्म लेतेही परमानन्द स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति होती थी । यदि नन्दजीके यहां

तमोमूर्त्तीं रुद्रदेवो विश्वसंहार-कारकः ।
सत्त्वोपाधियुतो विष्णुर्विश्वं पाति चराचरम् ॥ १८

गू०--शिवस्यविष्णोश्च कार्य्यं दर्शयति तमोमूर्त्तिरिति । तमोमूर्तीरुद्रदेवो विश्वस्य संहारं करोतीति तथा सत्त्वोपाधिना युतो विष्णुश्चराचरं पातिरक्षतीति रामाद्यवतारेणेति यावत् ॥ १८ ॥

भा०—तमोगुण प्रधान शिवजी द्वारा इस विश्वका संहार होता है और सत्त्वप्रधान विष्णुजीद्वारा चराचर विश्वकी रक्षा होती है, इस प्रकार भागवत आदि ग्रन्थोंमें लिखा है ॥ १८ ॥

यदा यदा भवेद्ग्लानिर्धर्मस्य धर्मचारिणाम् ।
तदैव विष्णुस्स्वांशेन त्ववतीर्णो भवेदिह ॥ १६

गू०—परमेश्वराज्ञया लब्धपालनाधिकारो विष्णुरिदमेवकार्य्यं साधयतीत्याह यदेति यदायदा यस्मिन्नेवावसरे वेदविहित धर्म्मस्य धर्मंचरन्ति ते धर्मचारिणः तेषां यदा ग्लानिर्भवेत्तदैव विष्णुर्भगवान् स्वान्शेन मत्स्याद्यवतारेणेह मर्त्यलोके वैकुण्ठादवतीर्णो भवेदिति ॥

टिप्पणी.

प्रगट होने वाले कृष्णजी ब्रह्मस्वरूप न होते तो ब्रह्माजी इस प्रकार कभी धूल न चाटते । जो विष्णुस्वरूप कृष्ण वसुदेवजीके यहां प्रगट हुए हैं और जिन्होंने बादमें फिर श्रीकृष्णके कलेवरमें प्रवेशकर द्वारका आदि स्थानोंमें लीला की है उनके समस्त ब्रह्मादि इस प्रकारकी दीनता कभी प्रगट नहीं कर सकते थे । क्योंकि ब्रह्मादिका वैकुण्ठमें, साक्षात् प्रवेश हो सकता है फिर इस प्रकार ब्रजवासी शूद्रजातिके ग्वालोंके पैरोंकी धूल काहेको चाटते ? । धूल चाटनेका मुख्य कारण तो नन्दके घरमें पूर्णब्रह्मस्वरूपके प्रगट होनेसे उनकी चरणरजद्वारा अपनेको कृतार्थ करना

भा०—जब जब मनुष्य धर्माचरण करना भूल जाते हैं अर्थात् धर्मकेप्रति ग्लानि प्रगट करनें लग जाते हैं और अधर्माचरण बढ़ जाता है एवं सन्त महात्मा लोगोंको दुःख पहुँचने लगता है तब विष्णु भगवान जो जगतके रक्षाधिकारी हैं अपने अंश तथा कलाद्वारा मत्स्य; कूर्म, नृसिंह, रामादि अवतार धारण कर पृथिवीका भार उतारते हैं । गीतामें भी "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !" इत्यादि वचन इसी बातकी पुष्टि करते हैं ॥ १९ ॥

द्वापरान्ते यदा भूमिः खिन्ना जाता सुरादिभिः ।
तदा भारवती भूत्वा विधिमूच इदं वचः ॥ २०

भा०—अवतारका निरूपण करनेंके लिये कथाको उद्धृत करतें हैं । जब द्वापरके अन्तमें पृथिवी असुरोंसे पीड़ित होनें लगी और अधर्मका भार न सहन कर सकी तब ब्रह्माजीके पास जाकर प्रार्थना कर कहने लगी ॥ २० ॥

हे विधातः कृपासिंधो पाहि मां शरणागताम् ।
दुःखव्यालेन संग्रस्ता त्वदन्यं कं व्रजाम्यहम् ॥ २१

टिप्पणी.

है । इत्यादिसे स्पष्ट हो जाता है कि नन्दके यहां प्रगट होनेवाले कृष्ण अन्य हैं और वसुदेवजीके यहां प्रगट होनेवाले कृष्ण अन्य । देखो सनत्कुमार संहिताके निम्न लिखित श्लोकमें स्पष्ट लिखा है कि नन्दपुत्र कृष्ण अन्य हैं और वसुदेवके पुत्र अन्य । यथा—

कंसं जघान वासुदेवः श्रीकृष्णो नन्दसूर्न तु ।
द्वारकायां ययौ विष्णुः कृष्णांशाद्यो जगत्प्रभुः ॥

भा०—पृथिवी ब्रह्माके पास जाकर प्रार्थना करती हुई स्तुति करने लगी कि हे दयाके सागर ! हे जगतके धारण करनेंवाले विधाता ! मैं अत्यन्त दुःखी होकर आपके शरणमें आई हूं अतः शरणमें प्राप्त मेरी रक्षा कीजिये । दुःखरूप व्यालसे ग्रसित मैं आपके अतिरिक्त किसके पास जाऊं कि मेरा संकट दूर होवे ॥ २१ ॥

भारोपनीयतां ब्रह्मन्दीनायां मयि संस्थितः ।
एवं संप्रार्थितो ब्रह्मा धरया प्राह याहि त्वम् ॥ २२
अचिरेणैव कालेन विज्वरा त्वं भविष्यसि ।
इत्थं वाक्यं समाकर्ण्य धरा नम्यागमत्पदम् ॥ २३

भा—हे ब्रह्माजी ! मैं बड़ी दीन हूं । अधर्मरूपी भारसे पीड़ित हो रही हूं । अब इस बढ़े हुए अधर्मरूप भारको उतारनेका उपाय कीजिये । इस प्रकार पृथिवीके बार बार प्रार्थना करने पर ब्रह्माजीनें पृथिवीसे कहा कि " हे जगद्धात्री धरे ! तुम अपने स्थानको जाओ । थोड़ेही समयमें तेरा सब संकट दूर हो जावेगा । तुमारे सब दुःख दूर करनेका उपाय किया जायगा " इस प्रकार विधाताके वचन सुनकर पृथिवीनें प्रणाम किया और अपने स्थानके प्रति लौट आई ॥ २२-२३ ॥

टिप्पणी

अर्थः—कंसको मारनेवाले वसुदेवपुत्र कृष्ण हैं, नन्दके पुत्र श्रीकृष्ण नहीं और द्वारकामें जाकर लीला करनेवाले कृष्ण विष्णुरूप हैं । देखिये ! इसमें नन्दके पुत्र और वसुदेव पुत्रको स्पष्ट रूपसे पृथक् २ बताया है और द्वारकावासीको केवल विष्णुस्वरूप वर्णन किया है । अतः मानना चाहिये कि नन्दपुत्र कृष्णही ब्रह्मस्वरूप हैं वसुदेव पुत्र आदि नहीं ।

ततो ब्रह्मा सुरैस्साकं सशिवोऽगात्पयोनिधेः ।
तटं तत्र स्तुतिं चक्रे सुगिरा जलशायिनः ॥ २४

गू०—तत इति भूम्याविज्ञापितो ब्रह्मा तां निवर्त्य शिवादिभिस्सहितः क्षीराब्धिशायिनो नारायणापरनाम्नो विष्णोस्स्तुतिं चक्रे चकारेत्याह तत्र तटं सन्निधिं प्राप्ता इति ॥ २४ ॥

भा०—तत्पश्चात् अर्थात् पृथिवीके लौट जानेके बाद ब्रह्माजी शिवजी तथा देवोंको साथमें लेकर शेष भगवानके पास गए । क्षीर-समुद्रके तटपर जाकर मनोहर वाणीसे शेषशायी नारायणकी अनेक प्रकारसे स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥

ततः खं वाचमाकर्ण्य देवानाह प्रजापतिः ।
भवतां दुःखसंहर्त्ता वासुदेवो भविष्यति ॥ २५

गू०—ब्रह्माऽऽकाशवाणीं कथंचिद्योगवलेनाकर्ण्य देवान्बोधयतीत्याह तत इति खं वाचमाकाशवाणीमित्यर्थः ॥ २५ ॥

भा०—ब्रह्मादिकी स्तुति सुनकर आकाशवाणीद्वारा ब्रह्माजीको उत्तर दिया कि 'आपका मनोरथ पूर्ण होगा' आप लोग अपने स्थानके प्रति जाओ । तब ब्रह्माजीने अपने योगबल द्वारा इसका रहस्य समझकर देवता लोगोंको कहने लगे कि " हे देवताओ ! तुमारे दुःखको नाश करनेके लिये वासुदेव प्रगट होंगे अर्थात् वसुदेवजीके यहां विष्णु भगवान् पुत्ररूपसे अवतार धारणकर पृथिवी तथा आपका सब दुःख दूर करेंगे ॥

भवद्भिर्जन्यतां स्वांशैर्यदुराजकुलेषु वै ।
विलम्बस्तु न कर्तव्यः सेवार्थं संव्रजान्वितः ॥ २६

गू०—पुनर्ब्रह्मादेवानाज्ञापयतीत्याह भवद्भिरिति इतस्स्वर्गा-ज्जायतां यदुकुले प्रादुर्भूयताम् ॥ २६ ॥

भा०—हे देवता लोगो ! आप सब अपने २ अंशसे यदुकुलमें प्रगट होउ इसमें विलम्ब न होने पावे । वासुदेव भगवानकी सेवाकेलिये आप सबको पहलेसेही वहांपर प्रगट हो जाना चाहिये ॥ २६ ॥

धात्राज्ञप्ताः सुरास्सर्वे निवृत्ताः स्वस्वसद्मगाः ।
विधिवाचं समाधाय तथाऽऽसन्यदुवंशिनः ॥ २७

गू०—ब्रह्मणाज्ञप्ता गृहीतविधिवचना स्वर्गलोकगतास्सर्वे देवाः यदुकुलेऽवतीर्णाः स्वान्शैरित्याह धात्रेति स्वस्वसद्मगाः स्वेस्वेसद्म गच्छन्तीति तथा यदुवंशिन आसन् इति ॥ २७ ॥

भा०—इस प्रकार ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर देव लोग अपने २ स्थानको लौटे और ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार सबने यदुकुलमें स्त्री पुरुष रूपसे जन्म धारण किये ॥ २७ ॥

विष्णुस्सर्वगतो वेत्ता ज्ञातहार्दः जगत्पतिः ।
देवक्यां वसुदेवाद्धि जातस्स्वायुधसंयुतः ॥ २८

गू०—तदनुविष्णुः प्रादुर्भूत इत्याहविष्णुरिति वेवेष्टि शक्तिरूपेण सर्वत्र व्याप्नोतीति विष्णुः " सर्वंव्याप्यावतिष्ठति " " सर्वं विष्णु-मयं जगत् " इत्यादिभिः व्यापकत्त्वोक्तेः अतः सर्वगत इति । वेत्ता ज्ञाताऽतो ज्ञातं हार्दं मानसिकदुःखादिकं येन सः । जगत्पतिर्जगत्पालन समर्थः । नन्वेवं समर्थो विष्णुः मातुर्गर्भे विटमूत्रादि संकुले कथमा-याति वैकुण्ठतो समागत्य निजरूपेणैव पालनादिकार्य्यं साधयितुं

इतिचेन्नैवं वाच्यं स्वभक्तानां वसुदेवानां 'मम पुत्रो भवेदिति' प्रार्थितो मनसीप्सितपूर्त्यर्थं गर्भादाविर्भूत इति बोध्यं ननुकथमेवं स्वदुःखदोवरोऽवदत्तः तवपुत्रोभविष्यामीति, बोध्यं दधीचिमहर्षेर्देवकार्य्यार्थं

भा०—सब चराचर–स्थावर जङ्गममें व्यापक रूपसे वर्तमान सबके ज्ञाता प्राणीमात्रके हार्दिक अभिप्रायको जाननेवाले लक्ष्मीपति विष्णु-भगवान वसुदेवजीके यहाँ उनकी पत्नी देवकीके उदरसे शंख, चक्र, गदा पद्म धारण किये हुए प्रगट हुए । प्रश्न–विष्णु शब्दका अर्थ क्या होता है ? उत्तर–विष्णुका अर्थ व्यापक होता है । वह अपनी सत्तासे सब स्थावर जङ्गम आदिमें व्यापक होकर सबकी व्यवस्था करता है अतः उसे विष्णु कहते हैं :" सर्वं व्याप्यावतिष्ठति " " सर्वं विष्णुमयं जगत् " विष्णुके आधारसे स्थित अथवा विष्णुद्वारा धारण किये जानेके कारण यह सब जगत विष्णु मय कहा गया है । धात्वर्थके देखनेसे भी विष्णुका व्यापक होना पाया जाता है क्योंकि " विष्लृ व्याप्तौ " इस धातुसे 'नु' प्रत्यय करनेसे विष्णु शब्द बनता है । शंका–विष्णुका स्वरूप तो साकार माना गया है, व्यापक होना साकारमें कैसे घटेगा ? । समाधान–अपनी धारकशक्ति, किम्वा जीवन–शक्तिसे व्यापक हो सकता है । प्रश्न—जब विष्णुमें विश्वधारण करनेकी शक्ति है और समर्थ हैं । तब विष्ठा मूत्रादिसे युक्त नरक समान दुःखरूप माताके गर्भमें काहेको आते हैं ? वैकुण्ठमें बैठे हुए वहींसे पालन आदि कार्य क्यों नहीं कर लेते ? । उत्तर–गर्भमें आनेका कारण यह है कि वसुदेव देवकीने तपसे जब विष्णुको प्रसन्न किया तो तपसे सन्तुष्ट विष्णुने वसुदेव देवकीसे वर माँगनेको कहा; तब वसुदेव देवकीने यह वर मांगा कि " आप हमारे यहां पुत्र हो " अपने भक्तके इस मनोरथको पूर्ण करनेकेलिये गर्भमें आना पड़ा । प्रश्न–ऐसा वरदानही विष्णुने क्यों दिया कि जिससे

स्वात्मप्रदानवदिति । ननु स्वरूपसदृशान्पार्षदान्तरान्प्रेष्य पुत्रत्वादिदर्शयत्विति चेन्नाहं जनिष्यामीति प्रतिज्ञाय पार्षदान्तर प्रेषणेन सत्यसंधत्वहानिर्जायेतातो सत्यधर्मंपालयतीति दिक् ॥ २८ ॥

—: भावार्थ :—

अपनेकोही दुःख मिले ? । उत्तर–देखोजी ! जो दयालु पुरुष होते हैं वे अपनी स्वाभाविक दयाको नहीं छोड़ते; चाहे उन्हें कितनेही दुःख क्यों न उठाने पड़ें । जैसे दधीचऋषिने देवोंके कार्यकेलिये अपनी हड्डीतक दे डालीं, शिबिराजाने कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये अपना मांस काट कर दे दिया था परन्तु उसके प्राण बचाए । इसी प्रकार दयालु परम पुरुष विष्णुजी अपने भक्तका मनोरथ पूर्ण करनेकेलिये गर्भसे प्रगट हुए । प्रश्न—अपनें किसी पार्षदको भेजकर वसुदेवका मनोरथ पूर्ण कर देते स्वयं क्यों गर्भमें आए ? । “ मैं आपके यहां पुत्ररूपसे प्रगट होऊँगा ” इस प्रकार प्रतिज्ञाकर अन्यके भेजनेसे सत्यताकी हानि होती अतएव किसीको न भेजकर स्वयंही पुत्ररूपसे प्रगट होकर अपनें वचनका पालन किया ॥ २८ ॥

भाद्रमासे कृष्णपक्षे ब्रह्मर्क्षे बुध वासरे ।
अष्टम्यां सुतिथौ काले सर्वसंपत्समन्विते ॥ २९

निशीथे कठिने प्राप्ते जातः तुर्य्यभुजः प्रभुः ।
देवकी वसुदेवश्च विलोक्याद्भुत दर्शनम् ॥ ३०

भा०—अब कृष्णावतारके जन्मका समय दिखाते हैं । भादों कृष्णाष्टमीके दिन बुधवार और रोहिणी नक्षत्र युक्त उत्तम दिवस जानकर अर्धरात्रिके समय चतुर्भुज स्वरूप विष्णु भगवान प्रगट हुए ।

—: भावार्थ :—

चारो भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये पीताम्बर तथा श्री-वत्सचिह्नसे युक्त कौस्तुभमणिको धारण किये हुए अद्भुत स्वरूपको देखकर वसुदेव देवकी प्रथम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥ २९–३० ॥

शशंकतुस्ततस्तुत्या ह्रीहाते तमधीश्वरम् ।
संस्तुतो भगवान् पित्रा मात्रा चाह चतुर्भुजः ॥ ३१

भा०—तदनन्तर अद्भुतरूपको अपना अधीश्वर जानकर वसुदेव देवकीने नाना स्तोत्रोंसे उसकी स्तुति की । माता पितारूप देवकी वसु-देवकी स्तुतिसे प्रसन्न हो चतुर्भुज भगवान बोले ॥ ३१ ॥

मा कंसमशकाद्भीतिस्त्वया धार्य्या परंतप ।
एतस्मादपरं रूपं यद्भविष्यति तेऽन्तिके ॥ ३२
तद्गोकुलं समानीय स्थाप्यतां नन्दसद्मनि ।
कन्या चानीयतामत्र वर्त्तितव्यं तु पूर्ववत् ॥ ३३

गू००–पितृभ्यां संस्तुतोभगवानाह मेति । एतस्माच्चतुर्भुजरू-पादपरं अन्यद्वा नास्तिपरः श्रेष्ठोऽन्यः कश्चिन्नस्मात्तत् पुरुषान्नपरं किंचित्साकाष्ठा सा परागतिरिति श्रुतेः । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चि-दस्ति धनंजयेति स्मृतेश्च ॥ ३२ ॥

भा०—हे परमतपस्वी माता पिता ! मशक—मच्छरके समान तुच्छ जो कंसराजा है उसके भयसे आप भयभीत न हों । वह आपका अब कुछभी नहीं करसकता अतः निश्चिन्त रहो और मेरे इस चतुर्भुज स्वरूपसे अन्य प्राकृत दोभुज स्वरूप आपके पास प्रगट होगा उसको

—: भावार्थ :—

गोकुलमें लेजाकर नन्दजीके गृहमें पहुँचा आना और यशोदाजीके उदरसे उत्पन्न हुई कन्याको वापिस लाकर इस प्रसूति गृहमें प्रवेश करना। जिस प्रकार पहले हथकड़ी बेड़ी आदि बन्धन थे उसी प्रकार धारण करलेना और पूर्ववत् अवस्थाको प्राप्त हो जाना ॥ ३२-३३ ॥

एतद्रूपं दर्शितं यत्प्राग्जन्म स्मरणाय ते।
नान्यथा मत्स्वरूपस्य विज्ञानं जायते क्वचित् ॥३४

भा०-मैंने अपना यह चतुर्भुजस्वरूप पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण करानेकेलिये आपको दिखाया है। यदि मैं इस स्वरूपका दर्शन आपको न कराता तो मेरे यथार्थ स्वरूपका स्मरण आपको न होता. क्योंकि अन्य प्रकारसे मेरे स्वरूपका यथार्थज्ञान मनुष्योंको कभी नहीं हो पाता।

पुरा त्वं सुतपानाम पृश्निनाम्नी त्वियं प्रसूः।
मत्तुल्य-पुत्रलाभाय तेपाथे परमं तपः ॥ ३५

गू०-तत्र पुरातनीं गाथामवतार्य्य दर्शयति भगवान् पुरेति। पुरा इयं प्रसूर्माता पृश्निः त्वं तु सुतपाख्यः पिता ॥ ३५ ॥

भा०-पूर्व जन्मका वृत्तान्त वर्णन करते हैं। हे पिताजी! पूर्व-जन्ममें आपका नाम सुतपा और इस माताका नाम पृश्नि था। मेरे तुल्य पुत्र होनेके लिये आप दोनोंने मिलकर परम तप किया था ॥ ३५ ॥

तदाहं वरदानार्थं प्रादुरासं समीपतः।
ब्रूयातां वर इत्युक्ते मादृशो याचितस्सुतः ॥ ३६

भा०—आपके निरन्तर तपके प्रभावसे मैंने प्रसन्न हो कर कहा कि आपकी जो इच्छा हो वर माँगो, मैं इसीलिये आपके समीप प्रगट हुआ हूं। तब आपने कहा था कि " हे प्रभो! आप हमारे यहां पुत्ररूपसे प्रगट होव " यही वर हम लोग माँगते हैं ॥ ३६ ॥

ओमित्युक्त्वा गतो धाम्नि द्विःकृत्वा पुत्रतांगतः ।
पृश्निगर्भ इतिख्यातो द्वितीये वामनोऽभवम् ॥३७

गु०—त्रिवारं त्वत्पुत्रतां गतोऽहमित्याह सार्द्धेन ओमिति। ओमेवमस्तु इत्युक्त्वा धाम्नि वैकुण्ठे गतः। त्रिवारमिति त्रिकृत्वा । ३७

भा०—तब मैं तो तीन बार 'तथास्तु' कहकर अन्तर्ध्यान हो गया अर्थात् अपने धामको चला गया और आप लोग अपने घरको आए। तदनन्तर मैंने दो बार आपके यहाँ जन्म धारण किया और यह तीसरी बार आया हूं। पहले जन्ममें मेरा नाम पृश्नि गर्भ हुआ और आप दोनों सुतपा और पृश्निरूप थे। द्वितीय जन्ममें आप दोनों कश्यप और अदिति नामसे प्रसिद्ध हुए और मैं वामनरूपसे आपके यहां प्रगट हुआ ॥

तृतीये रूपमेतत्ते दर्शितं चेष्टसिद्धये ।
इत्युक्त्वा विरते विष्णौ दंपत्योः पश्यतोस्तयोः ॥३८
तेजःकूटं समुद्भूतं तद्दृष्ट्वा मूर्छितावुभौ ।
क्षणेनगतमूर्च्छाभ्यां दृष्टोऽसौ प्राकृतः शिशुः ॥३९

गू०—भाविब्रह्मस्वरूपस्य गोकुलस्थ नंदपत्नी शय्यानयनं प्रति वसुदेवो नोदितः भगवता विष्णुना संभ्राडागमननिवेदने राज-

पुरुषेणेत्र। इदानीं विष्णौ विश्रान्ते यद्दर्श तदाह तेजोकूटमिति। समुद्भूतं उत्पन्नं तेजोकूटं तेजस्समूहमित्यर्थः। कस्यतेजोमण्डलमि-

भा०—तीसरी बार तुमारा मनोरथ पूर्ण करनेकेलिये यह चतुर्भुजरूप धारणकर आपके यहां पुत्र रूपसे प्रगट हो आपकी मनोकामना पूर्ण की अर्थात् आपने अपने यहां पुत्ररूपसे प्रगट होनेको वर मांगा था और मैंने वचन दिया था वह दोनों पूर्ण हुए, इस प्रकार पूर्व जन्मका वृत्तान्त सुनाकर चतुर्भुजस्वरूप तूष्णींभावको प्राप्त हुआ और इधर युगल दम्पतिके देखतेही देखते एक प्रकारका तेजपुंज + प्रगट हुआ कि जिसे देखकर वसुदेव देवकी मूर्छित हो गये। एक क्षणमात्रकें बाद मूर्छारहित हुए कि दोनोंने अपने समक्ष दोभुजस्वरूप एक प्राकृत शिशुको देखा॥

टिप्पणी.

+ प्रायः संप्रदायिक लोग वाद विवाद किया करते हैं कि जिस स्वरूपने वसुदेव देवकीको चतुर्भुज दर्शन दिया है वही स्वरूप दोभुज बालक हो गया है; उसकें बाद अन्य कोई स्वरूप नहीं आया और कुछ ग्रन्थोंमें लिखा भी है कि जिस चतुर्भुज स्वरूपने दर्शन दिया है, वसुदेव देवकीके प्रार्थना करनेपर वही दोभुजस्वरूप बालक हो गया है-

यथा—उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शंख चक्र गदा पद्म श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् (भा० १०-३-३०)

अर्थः—हे विश्वात्मन! आप शंख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित चार भुजावाले अपने अद्भुत स्वरूपको छिपा लीजिये। इसप्रकार देवकीके प्रार्थना करनेपर भगवानने चतुर्भुज स्वरूपको छिपाकर द्विभुज बालकरूप धारणकर लिया है; ऐसा लोग कहते हैं। परन्तु इस पर विचार करनेकी आवश्यकता है कि यह बात कहां तक ठीक है अर्थात् उपरोक्त सिद्धान्त किसी अंशतक यथार्थमें मानने योग्य है या नहीं।

त्याकाक्षायां परब्रह्मणः इत्याध्याहाराद्ग्राह्यः। अथ च विद्युदादि-स्वल्पतेजोदर्शनेन जना मूर्छिता इव भवन्ति किमुत ब्रह्मणस्तेज-

—: भावार्थ :—

विशेषविवरण—कृष्णजीका जन्म चरित्र बड़ाही रहस्यपूर्ण है। इसके विषयमें प्रमाणोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रथम चतुर्भुज स्वरूपने वसुदेवके प्रति कहा था कि "इससे अन्य दो भुजस्वरूप जो आपके समक्ष प्रगट होगा" उसे गोकुलमें नन्दजीके यहां पहुँचा देना। बस, उसी दोभुजस्वरूपके विषयमें मत भेद है। दो भुजस्वरूप विष्णुका अवतार नहीं है, किन्तु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। वसुदेव देवकीके सामने अचानक तेजराशिके आजानेसे उन्हें मूर्छा हो गई और मूर्छाके बाद देखा तो दोभुजस्वरूप प्राकृत बालकके समान देखनेमें आया अतः वसुदेव देवकीको कुछ भेद विदित न हुआ। जिस प्रकार सम्राट या बादशाह आदिके आगमन सूचित करनेकेलिये तथा सेवाकेलिये राजपुरुष प्रथम आकर निवेदन करते हैं उसी प्रकार ब्रह्म-स्वरूप कृष्णजीके आगमनको सूचित करनेकेलिये अर्थात् मथुरासे गोकुल पहुँचानेकी आज्ञा देनेकेलिये तथा पूर्वजन्मका वरदान पूर्णकरने के लिये प्रथम चतुर्भुज विष्णुने आकर दर्शन दिया और सब बातकी सूचना

टिप्पणी

शास्त्रकारोंने शास्त्रीय विषयोंको समझनेके लिये व्यवस्था स्थापित की है कि जिससे किसी विवादग्रस्त विषयको समझनमें कभी भ्रम न उत्पन्न होवे। शास्त्रोंका कहना है कि "अबाधिताज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्" जिस कथनका किसी प्रकार बाध न होता हो, और अपूर्व अथवा अज्ञात विषयको बोधन करनेवाला हो, उसीको प्रमाणभूत मानना चाहिये। महाभारतमें भीष्मपितामह के मुखसे व्यासजीने धर्म निर्णय कराते हुए इसी सिद्धान्तकी पुष्टि कराई है। यथा—

सेति "तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतेः। अथासौ प्राकृतः प्रकर्षेणाकृतः न केनापि कर्त्रा कृतः स्वयं ब्रह्म-

—: भावार्थ :—

देकर अन्तर्ध्यान हो गये। तदनन्तर ब्रह्मस्वरूपने दोभुज बालकतन धारण किया। परन्तु मूर्छाके कारण ब्रह्मका प्रगट होना और विष्णुका तिरोभाव होना वसुदेव देवकीने नहीं जाना, अतः नन्दजीके यहां रहते हुए कृष्णको अपनाही पुत्र समझते रहे। प्रश्न—क्या ब्रह्मतेजको देखकर मूर्छा होना सम्भव है?। उत्तर—जी! हां, जब तुच्छ विद्युत आदि तेजको देखकर मनुष्य मूर्छित हो जाते हैं, तब ब्रह्मतेजको देखकर मूर्छा होनेमें आश्चर्य क्या? "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति [कठो० २-५-१५] जब उसीके तेजसे सब प्रकाशित हो रहा है तब उसका तेज कितना विलक्षण होगा, अतएव मूर्छित होना आश्चर्य युक्त नहीं कहा जा सकता। शङ्का—भागवतमें तो दोभुज स्वरूपको प्राकृत शिशु

टिप्पणी.

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्य-विक्रम!।
विरोधिषु महीपाल! निश्चित्य गुरुलाघवम्॥
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्।

(महाभा० वन पर्व अ० १३१-११)

अर्थः—किसी विवादास्पद विषयके तारतम्यको समझनेके लिये विरोध रहित मार्ग-सिद्धान्तका अनुसरण करना चाहिये। जिस मार्गके अनुसरण करनेपर परस्पर विरोध उपस्थित होता हो वह यथार्थमें धार्मिक मार्ग नहीं; क्योंकि धार्मिक व्यवस्था विरोधरहित है। यदि अमुक सिद्धान्तोंमें अथवा मन्तव्य-मार्गोंमें अनिवार्य विरोध उपस्थित होताही हो तो वहांपर भी गौरव लाघवका निश्चयकर जिसके माननेसे शास्त्रके वचनोंमें

स्वरूपो दृष्टः शिशुः बालरूपेणेत्यर्थः। भागवतेऽपि 'सद्योबभूव प्राकृतः शिशुरित्युक्तं तत्राप्ययमेवार्थो युक्त इति। नच स्वयं ब्रह्मत्वे किं प्रमाण-

—: भावार्थ :—

होना लिखा है । यथा—पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः [भा० १०-३-४६] " माता पिताके देखतेही देखते तत्काल प्राकृत बालक हो गया " और आप उसे पूर्ण ब्रह्मस्वरूप कहते हो तब कौनसी बात सत्य मानी जाय ?। समाधान—देखो जी ! भागवतमें यथार्थ लिखा है किन्तु समझे बिना विरोध प्रतीत होता है । प्राकृतका अर्थ प्रकृतिजन्य नहीं है, किन्तु अनादि है । यथा-'प्र' का अर्थ प्रकर्ष होता है और 'अकृत' का अर्थ अविनाशी होता है अर्थात् जो किसी माता पिता आदि कर्तासे न किया गया हो किन्तु अजन्मा हो, उसे अकृत-स्वयंसिद्ध-अनादि कहते हैं और 'प्र' शब्द उस अनादि अ-जन्माके अतिशय-प्रकर्षका बोधक है । अर्थात् जिसने किसी कालमें न जन्म लिया है और न लेगा; वह परमात्मा शिशुरूपसे देखनेमें आया। प्रश्न—कृष्णके स्वयं ब्रह्म होनेमें प्रमाण क्या है ? उत्तर—भागवतमें अवतारोंकी गणना करते हुए कृष्णको स्वयं ब्रह्मस्वरूप कहा है । यथा—

टिप्पणी.

परस्पर विरोध बाधा उपस्थित न होती हो, उसी मार्गका अनुसरण करे, यह धार्मिक व्यवस्था है । इह भारत वचन और उपरोक्त " अबाधिताज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम् " दोनों परस्पर मिलते जुलते हैं । दोनोंका अभिप्राय एक है । किसीके आशयमें अन्तर नहीं पड़ता । दोनोंही मुक्त कण्ठसे इस बातको कहते हैं कि, मनुष्यमात्रका मन्तव्य-मार्ग शास्त्र-वचनके अनुकूल होना चाहिये । कदाच शास्त्रके वचनोंका अनादर कर

मिति वाच्यं "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्। इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे" इति भागवतस्थवचनात् कृष्ण-

—: भावार्थ :—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे [भा० १–३–२८]

अर्थः—(पुंशः) पुरुषके (एते अंशकलाः च) अंश कला और अंशांशसे उत्पन्न ये अवतार (युगे युगे) युग युगमें (इन्द्रारि व्याकुलं) असुरोंसे पीड़ित (लोकम्) लोक–प्राणियोंको (मृडयन्ति) सुखी करते हैं । (तु) किन्तु (कृष्णः) कृष्णस्वरूप अवतार नहीं हैं अपितु (स्वयं भगवान्) स्वयं परमात्मा हैं । देखिये ! इसमें स्पष्टरूपसे बताया है कि युग युगमें राम, नृसिंह आदि अवतार धारणकर विष्णुही जगतकी रक्षा करते हैं। परन्तु श्री कृष्ण अवतार नहीं हैं, ये तो स्वयं परमात्म-स्वरूप हैं । प्रश्न–रामादि अवतार विष्णुके अंश हैं और कृष्ण नहीं इसमें प्रमाण क्या है ? । उत्तर––देखो ! वाल्मीकि रामायणमें रामचन्द्रजीको

टिप्पणी. :

किसी मार्गका अनुसरण किया भी जावे तो वह धर्मका मार्ग नहीं हो सकता । " इस उपरोक्त सिद्धान्तको केवल शास्त्रकारोंनेही माना हो ऐसा भी नहीं, किन्तु इसे श्रुति–विभाग तथा स्मृति–विभाग दोनोंने प्रधान-तया माना है; अतः पूर्वोक्त समन्वय—सिद्धान्तकी अवगणना नहीं की जा सकती । इस बातको लक्ष्यमें लेकर कभी भी आप कृष्णलीलाके अथवा कृष्णजन्मके रहस्यको समझिये किसी प्रकारका विरोध उपस्थित न होगा । वैकुण्ठवासी विष्णुने योगमायाको आज्ञा दी है कि तुम यशोदाके यहां प्रगट होव, और मैं देवकीके गर्भसे अंशद्वारा प्रगट होऊंगा । यथा—

स्य स्वयं भागवतत्व प्रतिपादनं युक्तमिति यस्य पुंसोऽशकलाभूतास्सर्वे मत्स्य कूर्म नृसिंह रामाद्यवतारास्सन्ति सः पुमान् कः तत्राह सः पुमान्

—: भावार्थ :—

विष्णुका अर्धांश—भाग होना लिखा है। यथा—"विष्णोरर्धं महाभागमिक्ष्वाकुकुल नन्दनम्" वाल्मीकिजी कहते हैं कि इक्ष्वाकुकुल नन्दन—रामचन्द्रजीको विष्णुका अर्धांश—भाग समझना" भागवतमें भी अवतारोंके चरित्र पूछते समय राजा परीक्षितने प्रश्न किया है कि "तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः [भा० १०–१–२] यदुकुलमें अंशद्वारा अवतार लेनेवाले विष्णुके चरित्रको कहिये" इस परीक्षितके प्रश्नमें स्पष्ट पूछा गया है कि अंशद्वारा अवतार लेनेवाले विष्णुके चरित्र कहो; अतः सिद्ध होता है कि अवतार विष्णुके अंशसेही होते हैं। पूर्व जन्मका वृत्तान्त देखनेसे भी चौवीश अवतारोंका होना विष्णुसेही पाया जाता है। जैसे—वैकुण्ठमें रहनेवाले जय, विजय विष्णुके द्वारपाल थे। जब सनकादिक मुनियोंको वैकुण्ठमें न जाने दिया तो उन्होंने श्राप दे दिया कि—तुम आसुरी योनिको प्राप्त हो जाओ" इस बातको सुनतेही विष्णुजीने मुनियोंके

टिप्पणी.

अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ! ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥
[भा० १०-२-६]

हे योगमाये ! मैं अंशभाग सहित देवकीके यहां पुत्र रूपसे प्राप्त होउंगा और तुम नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे कन्यारूप होउगी" इस प्रकार विष्णुने आज्ञा दी है। तदनन्तर आप स्वयं गर्भमें आए भी हैं। यथा—आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः" वसुदेवके यहां अंशभाग सहित मनमें प्रवेश किया" उसके बाद ब्रह्माने गर्भस्तुति की है।

विष्णुरिति चतुर्दशभुवनस्य पालयिताऽतः पाति चतुर्दशात्मकं भुवनं योऽसौ पुमानिति व्याख्या संगच्छते। रामाद्यवतारा विष्णोरंशाएवोक्ता

—ःभावार्थः—

क्रोधको शान्त किया और जय विजयके मुक्त होनेका उपाय पूछा तब सनकादिकोंने कहा कि आपके पार्षद होनेके कारण अन्य किसीके अस्त्र शस्त्रसे तो ये लोग मर नहीं सकते; हां तुमारे हाथसे मरकर मुक्तिको प्राप्त हो सकते हैं। तब विष्णुनें जय विजयके उद्धार करनेका वचन दिया; इस प्रकारकी कथा भागवत तथा रामायण आदि अनेक ग्रंथोंमें लिखी है। जब जय विजय हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकश्यप हुए तब विष्णुने वाराह अवतार धारणकर हिरण्याक्षका और नृसिंह अवतार धारणकर हिरण्यकश्यपका वध किया है और दूसरे जन्ममें जब जय विजय रावण वा कुम्भकरण नामके राक्षस हुए तब बिष्णुने दशरथके यहां रामावतार धारणकर दोनोंका संहार किया है, ऐसा लिखा है। तीसरे जन्ममें वेही जय विजय दन्तवक्र तथा शिशुपाल नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। तब विष्णु-

---

टिप्पणी

तत्पश्चात् आपने देवकीके गर्भसे प्रगट हो वसुदेव देवकीको चतुर्भुज स्वरूपका दर्शन दिया है। अद्भुत चारभुजावाले स्वरूपको देखकर वसुदेव देवकीको भय उपस्थित हुआ है अतः प्रार्थना की है कि आप अपने अद्भुत चतुर्भुज स्वरूपको छिपा लीजिये। तब विष्णुजीने रूपको छिपानेकी प्रार्थना सुनकर दोनोंको पूर्वजन्मका स्मरण कराया है और कहा है कि यह चतुर्भुजरूपका दर्शन आपके मनोरथ पूर्ण करनेको दिया है; बस इतना कहकर आप अन्तर्ध्यान हुए नहिं कि; तत्काल गोलोकवासी कृष्णका कलेवर दोभुज बालकका स्वरूप धारण किये दृष्टिगोचर हुआ। इसी गोलोकी स्वरूपमें अक्षरात्मा—अर्थात अक्षरकी चित्तवृत्ति अक्षरा-

वाल्मीकि "रामायणे विष्णोरर्द्धं महाभाग मिक्षाकुकुल नन्दनमिति" अथचावतार चरित्रप्रश्नावसरे परीक्षितापि राज्ञाऽयं प्रश्नः कृतो वैयासकिं

—: भावार्थ :—

जीने वसुदेव पुत्र होकर दोनोंका वध कर अपनी सायुज्य मुक्ति दी है। इत्यादि पूर्वजन्मके वृत्तान्त देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस जगतमें रामादि सब अवतार विष्णुकेही होते हैं। प्रश्न—महाराज रामचन्द्र-जीको तुलसीदासने ब्रह्मका अवतार लिखा है और आप विष्णुका अव-तार कहते हो तब किसकी बात सत्य मानी जाय? । उत्तर—देखो जी! वही बात माननें योग्य है जो शास्त्र पुराणोंमें प्रतिपादित की गई हो। रामावतारके विषयमें सबसे अधिक मान्य दोही ग्रन्थ हैं, वाल्मीकि रामायण और योगवासिष्ठ। वाल्मीकि रामायण [उत्तर कां० सर्ग १०९] में रामचन्द्रजीके विषयमें लिखा है कि—

ततो विष्णोश्चतुर्भाग-मागतं सुरसत्तमाः।
हृष्टाः प्रमुदितास्सर्वे पूजयन्तिस्म राघवम्॥

टिप्पणी.

तीतके आवेश सहित आकर विराजमान हुई। यह बात सनत्कुमार-संहितामें स्पष्टरूपसे लिखी है। यथा—

ब्रह्मणो वासना तत्र पूर्णस्य बलमागतम्।
उभयोः संमिलित्वा तु बभूव द्विभुजः शिशुः॥

अर्थः—अक्षरब्रह्मकी वासना—चित्तवृत्ति और पूर्णब्रह्मका बल-आ-वेश दोनों आए और गोलोकी स्वरूपके साथ मिलकर दोभुज बालक स्वरूप हो गये। देखो! सनत्कुमारजी द्विभुज कृष्णको स्पष्ट शब्दोंमें पूर्ण ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करते हैं। आओ। जरा व्यासजीसे भी पूछ

प्रति तदुक्तं दशमस्कन्धे "तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्य्याणि शंस न" इति । अत्रापि विष्णोरंशेनावतारसूचना बोध्येति " यदा यदा हि

—: भावार्थ :—

अर्थः—विष्णोके चतुर्थभागसे पृथिवीमें आये हुए रामचन्द्रजीका प्रसन्न मनसे सुरोंने पूजन किया। पुनः वाल्मीकि रामायणके उत्तरकाण्ड सर्ग १०८ में लिखा है कि—

" पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥
ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्तिस्म देवताः ।

अर्थः—ब्रह्माजीके वचनको सुनकर रामचन्द्रजीने शरीर तथा लक्ष्मणादि बन्धुओं सहित वैष्णवतेजमें प्रवेश किया तदनन्तर देवता लोगोंने विष्णुमय देवसमझ रामचन्द्रजीका पूजन किया। योगवासिष्ठमें भी लिखा है कि—

टिप्पणी.

देखें कि ये महाशय किधरको लम्बी तानते हैं। पुराण संहिताके २७ वें अध्यायमें कृष्णके जन्मका वर्णन करते हुए व्यासजी लिखते हैं—

आराधितोऽहमुग्रेण तपसा पूर्वजन्मनि ।
तदा प्रसन्नेन मया रूपमेतत्प्रदर्शितम् ॥ २३

प्रीयतां वर इत्युक्ते पुत्रं मत्सदृशं युवाम् ।
वव्राते तेन जातोहं त्रिजन्मसु च वां सुतः ॥ २४

अर्थः—विष्णु भगवान वसुदेवके प्रति सूतिकागृहमें कहते हैं कि, हे वसुदेव देवकी ! पूर्व जन्ममें उग्र तपस्याद्वारा आपने मेरा आराधन किया जब मैंने प्रसन्न होकर तुमसे वर मांगनेके लिये कहा; तब तुमने " मेरे सदृश पुत्र मांगा " इसलिये तीन बार तुमारे यहां पुत्ररूप धारण किया, इसप्रकार मेरे पूर्व जन्मका वृत्तान्त समझना ।

धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहमिति गीतायां विष्णुरूपेण कृष्णेनाहमेवात्मानं सृजामीत्युक्तं

—: भावार्थ :—

वैकुण्ठादागतो विष्णुः त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः ।
ब्रह्मणा पूजितस्तत्र सत्यलोक निवासिभिः ॥

अर्थः—त्रिलोकीके अधिपति विष्णुभगवान रामचन्द्रजी हुए हैं, ऐसा जानकर सत्यलोक–निवासियोंके सहित ब्रह्माजीने रामचन्द्रजीका पूजन किया । इत्यादि परसे विष्णुकाही रामावतार होना पाया जाता है । विष्णुद्वारा छली गई जालन्धरकी स्त्री वृन्दाके श्रापकी कथा देखनेसे भी विष्णुकाही रामचन्द्र होना पाया जाता है । यथा—

वृन्दया श्रापितो विष्णुः छलनं यत्त्वया कृतम् ।
अतस्त्वं स्त्रीवियोगं हि वचनान्मम यास्यसि ॥

अर्थः–वृन्दा श्राप देती है कि, हे विष्णुजी ! आपने मेरे साथ

टिप्पणी

अतः परं बालरूपं यद्भविष्यति सुन्दरम् ।
तदादाय व्रजे नन्दगेहं नय सुसत्वरम् ॥ २८

नन्दपत्न्या प्रसूतास्ते मम माया विमोहिनी ।
तामानीय यथापूर्व—मत्रैव पुनराविश ॥ ३६

अर्थः—इसके अनन्तर जो स्वरूप सुन्दर बालकरूप धारण कर प्रगट होगा उसे तुम शीघ्रही व्रजमें नन्दजीके घर पहुँचा देना और नन्दकी पत्नी यशोदाजीके यहां कन्यारूपसे जगत मोहिनी मेरी माया-शक्ति उत्पन्न हुई है उसे लेकर पुनः इसी सूतिका गृहमें प्रविष्ट हो पहलेकी भाँति बन्धन युक्त हो जाना ।

रामाद्यवताराणामवतरण-हेतुविचारतो विष्णोरेवांशांशकलारूपास्सर्वे भवन्तीति निश्चीयतेऽतो सिद्धं चतुर्विंशत्यवतारा विष्णोरेवेति। यदुक्त-

—: भावार्थ :—

छल किया है अतः आप रामावतारमें स्त्री वियोगको प्राप्त होउगे। देखिये! ऊपर लिखे प्रमाणोंसे विष्णुका रामावतार होना सिद्ध होता है, अतः रामको ब्रह्मका अवतार कहना योग्य नहीं और तुलसीदासजीने भी रामको खुद विष्णुका अवतार वर्णन किया है। जैसे कि नारदने अपने विवाहकी इच्छासे स्वयम्वरमें जानेकेलिये विष्णुके प्रति उनका स्वरूप माँगा तव विष्णुनें नारदको निजमायासे मोहित समझकर कहाकि "बहुत अच्छा आपको हमारे सदृश स्वरूप मिलेगा" यह सुनकर नारद बड़े हर्षके साथ स्वयम्वरमें गए परन्तु स्वयम्वरके समय नारदका मुख मर्कट-

---

टिप्पणी.

न निरोधो न प्रत्यूहो यास्यतस्ते भविष्यति।
इत्युक्तवति देवेशे तेजःकूटः समुत्थितः॥

कोटिसूर्य—प्रभापूर्णः प्रकाशः परमोज्वलः।
लीलावासनया व्याप्ता शुद्धवृत्तिः परात्मनः॥

अर्थः—हे वसुदेवजी! उस स्वरूपको गोकुल ले जाते हुए न तो किसी प्रकारका निरोध-अर्थात् रुकावट होगी और न कोई विघ्नही होगा; इसप्रकार चतुर्भुजस्वरूप विष्णुके कहतेही कहते तेजपुंजका पहाड़ जैसा समाने उठा हुआ देखनेमें आया। कोटिन सूर्यकी प्रभासे पूर्ण यह परमोज्वल प्रकाश परात्पर परमात्माकी लीलाको देखनेकी वासनासे व्याप्त अक्षरब्रह्मकी शुद्धवृत्तिका था और इसी पर पुरुषोत्तम अक्षरातीतका आवेश आकर विराजमान हुआ है।

तस्यामावेशयामास गोलोकीयं रसं प्रभुः।
आनन्दव्याप्ता सा शुद्धवृत्तिर्मूर्त्ताक्षरस्य च॥ ३२॥

मेते चांशकला इति व्याख्याय दर्शयति युगे युगे इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति त एते पुन्सोविष्णोरंशकलाः तु शब्दोऽत्र पूर्वपक्षव्यावृ-

—: भावार्थ :—

का–सा कर दिया और आप स्वयं कन्याको वर ले गए; तब नारद बड़े दुःखी हुए। जब अन्तमें पता लगा कि मेरा मुख तो बन्दरका-सा हो गया है तब क्रोधित होकर ।विष्णुके रथके पीछे दौड़कर श्रापदिया कि आप बड़े स्वतंत्र हो, आपको किसीका भय नहीं; अतः मनमानी करते हो। जैसे मेरे साथमें छल किया है और मैं दुःखी हूं; उसी प्रकार तुम भी स्त्री वियोगसे दुःखी होगे । तुमारी स्त्रीको राक्षस हरण करेंगे तब निरुत्साह हो कर वनमें मारे २ फिरोगे और बन्दरोंकी शरणको प्राप्त होगे तब बन्दरही तुमारी सहायता करेंगे" इत्यादि तुलसीकृत रामा-

---

टिप्पणी

तावत्तत्तेजसो मध्यादविरासीच्छिशु श्छलात् ।
चतुर्भुजं च यद्रूपं ह्यस्मिन्नेव तिरोदधे ॥ ३३ ॥

अर्थः—उसी अक्षरकी शुद्धवृत्तिपर गोलोकके रसको परमात्माने स्थापित किया। आनन्दरूप परमात्माके आवेशसे व्याप्त वह अक्षरकी शुद्ध चित्तवृत्ति मूर्तमान होकर उस तेजपुंजके मध्यसे एक सुन्दर बालकके रूपमें प्रगट हुई । विष्णुका चतुर्भुजरूप जो वसुदेव देवकीको दर्शन देने आया था वह भी व्यूहरूपसे उसी ब्रह्मस्वरूप बालकके कलेवरमें तिरोहित हो गया। इस प्रकार पुराण संहितामें लिखा है। माहेश्वरतंत्र एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। नारदपञ्चरात्रान्तर्गत उसकी गणना की गई है। उसके भी नववें पटलमें कृष्ण जन्मका वर्णन निम्न लिखित प्रकारसे किया है—

वासुदेवस्तृतीयेऽस्मिन्भवे जातो भवद्गृहे ।
मुक्तिदानाय भवते प्रादुर्भूतोऽस्मि सांप्रतम् ॥ ४७ ॥

त्यर्थः कृष्णः स्वयमेव भगवान् प्रकाशितं चैतेन पूर्णब्रह्मत्वं श्रीकृष्णस्य विष्णोश्चतुर्विंशत्यवतारभिन्नत्वं च । अथ च विष्णुपुराणेऽप्यय-

—ः भावार्थ ः—

यणके देखनेसे भी विदित होता है कि नारदने विष्णुकोही श्राप दिया था, नकि ब्रह्मको; अतः विष्णुनेही रामावतार धारण किया है, यही सिद्ध होता है। प्रश्न—क्या कृष्ण विष्णुके अवतार नहीं हैं ? । उत्तर—हैं और नहीं भी। प्रश्न—कैसे हैं और कैसे नहीं ? वह बताइये। उत्तर— जो वसुदेवजीके पुत्र हैं और जिन्होंने यदुवंश वेश धारणकर मथुरा, द्वारिका आदिमें लीलाकर पृथिवीका भार उतारा है वे कृष्ण विष्णुकेही अवतार हैं और जिन्होंने नन्द यशोदाजीके यहां प्रगट होकर गोपालवेश धारण किया है तथा श्यामाजी सहित गोकुल, वृन्दावन आदि स्थानोंमें लीला की है वे कृष्ण विष्णुके अवतार नहीं हैं; किन्तु पूर्ण ब्रह्मस्वरूप

टिप्पणी.

तवमास्तु भयं क्वापि कन्सान्मज्जन्म शङ्कितात् ।
इत्युक्ते देवदेवेशे दम्पत्योः पश्यतोः पुरः ॥ ४८ ॥

अर्थः—हे माता पिता ! प्रथम जन्ममें पृश्निगर्भ, द्वितीय जन्ममें वामन और इस तीसरे जन्ममें आपके गृहमें वासुदेवरूपसे आपको मुक्ति देनेकेलिये प्रगट हुआ हूं। मेरे जन्मकी शङ्कासे अब तुम किसी प्रकारका भय मत करो। इसप्रकार देवदेवेश--चतुर्भुजस्वरूप विष्णु कहही रहे थे कि युगल दम्पतिके देखतेही देखते उनके सामने—एक तेजपुञ्ज आकर उपस्थित हुआ।

अक्षरस्य तु या चित्तवृत्ति लीलावलोकने ।
तदुपाधिक तत्सत्तारूपं व्यूहत्वमागतः ॥ ५० ॥
बभूव द्विभुजं सद्यः शिशुभावगतः प्रभुः ।
तस्मिन्नाविविशे साक्षाद्रसरूपी स्वयं प्रभुः ॥

अर्थः—अक्षरब्रह्मकी जिस चित्तवृत्तिने अक्षरातीतकी लीला देखनेकी

मेवोक्तं तद्यथा-वनजौजलजौखर्वस्त्रिरामीसकृपोऽकृपः दशावताराएवैते कृष्णस्तु भगवान्स्वयमिति अनेनाप्यवतारभिन्नत्वं दर्शितं स्वयं ब्रह्म-

—: भावार्थ :—

अविनाशी परमात्मा हैं । गोकुलवासी कृष्णको स्कन्द पुराणके विष्णु-खण्डमें भी सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्णब्रह्म बताया है । यथा—

तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः ।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते ॥

अर्थः—उस व्रजमें सदा आनन्दमूर्ति नन्दजीके पुत्र श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। वे आत्मामेंही रमण करते हैं इसलिये उन्हें आत्माराम कहते हैं । पूर्णात्पूर्ण होनेसे उनको आप्तकाम कहते हैं । कृष्णके इस स्वरूपको

टिप्पणी.

कामना की थी वही चित्तकी वृत्ति अक्षर ब्रह्मकी सत्ता लेकर प्रगट हुई और उसीमें विष्णुके चारो व्यूहोंने प्रवेश किया । तत्काल वही तेजपुञ्ज द्विभुज बालकके स्वरूपमें परिणमित हो गया । उसी द्विभुज स्वरूपमें रसरूपी " रसो वै ब्रह्म इति श्रुतेः " आनन्दमूर्ति अक्षरातीत परमात्माका आवेश साक्षात् रूपसे आकर प्रविष्ट हो गया । तदनन्तर वसुदेवजी उस स्वरूपको लेकर गोकुलमें पहुँचा आए । यथा—

निनाय गोकुले नन्दगेहे निद्राविमोहिते ।
आदाय योगनिद्रां तां वसुदेवो गृहं गतः ॥ ५२ ॥

अर्थः—उस द्विभुज ब्रह्मस्वरूप शिशुको वसुदेवजीने नन्दजीके यहां निद्रासे मोहित गोकुलमें पहुँचाकर यशोदाके उदरसे उत्पन्न योग-मायाको उठाकर अपने कारागृहमें लौट आए । इसप्रकार महादेवजीने पार्वतीके प्रति कृष्णके जन्मरहस्यका वर्णन किया है । इत्यादि प्रमाणों परसे सिद्ध हो जाता है कि योगमायाको यशोदाके यहां उत्पन्न होनेकी आज्ञा देकर वासुदेव देवकीके यहां चतुर्भुजस्वरूपसे प्रगट होनेवाले विष्णु

त्वं चेति श्रुतिरप्येवं वक्ति "कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निवृत्तिवाचकः तयोरैक्यं कृष्णनाम सच्चिदानन्दलक्षणमिति तथाऽऽदृ्मंत्र एवमाचष्टे

—: भावार्थ :—

प्रेमी भक्तलोग अनुभवद्वारा जानते हैं, इसप्रकार लिखा है । श्रुतिमेंभी कृष्णको ब्रह्मस्वरूप वर्णन किया है । यथा—

कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निवृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं कृष्णनाम सच्चिदानन्द लक्षणम् ॥

अर्थः—कृष् धातुका 'सत्' अर्थ है और कृष्के पर जो णकार है उसका आनन्द अर्थ होता है । सत् वा आनन्दके योगमें चित् भी

टिप्पणी.

हैं और तत्पश्चात् जिन्होंने द्विभुजस्वरूप धारण किया है और वसुदेवजी नन्दजीके यहां पहुंचा आए हैं वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूप परमात्मा है। उसे अवतार नहीं माना गया । इसप्रकार कृष्णके स्वरूपमें लीलाभेद पाया जाता है । जब हम इसे बिना समझे एकही विष्णुस्वरूपमें घटाने लग जाते हैं तभी विरोध होने लग जाता है और शास्त्रवचनोंकी एकवाक्यता नहीं हो पाती । परन्तु ऊपर लिखे अनुसार कृष्णके दो स्वरूप माननेसे शास्त्रमें विरोध नहीं पड़ता और अर्थसंगति भी बराबर लग जाती है । क्योंन लगजावे! जो बात जैसी है उसे उसी रूपमें मानिए कि बस, कभी अर्थमें विरोध न होगा। "जो लोग यह कहने लगजाते हैं कि देवकीके प्रार्थना करने पर चारभुजावालेही द्विभुजावाले हो गये हैं, ऐसा भागवतमें लिखा है यह गलत है" प्रथम तो यह बात भागवतमें लिखी नहीं है कि देवकीके प्रार्थना करने पर चार भुजावाले द्विभुजबालक हो गए। देवकीने चतुर्भुजरूपको छिपानेकी प्रार्थना की है सही यथा—उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् " मगर उसके बाद विष्णुने अपने स्वरूपको छिपाया नहीं प्रत्युत उस स्वरूपके दिखानेका कारण बताया है और अपने तीन जन्म पूर्वकी कथा सुनाई है । कथा सुनानेके बाद यह कहा है कि, तुमारा

सस्वश्चिद्धितन्वः शुंभमाना आहंसासोनीलपृष्ठा अपप्तन्निति स्वरित्या-नन्दः तेन सह सस्वः चित् निश्चयेन चिदानन्दरूपः कृष्णः इति एत-

—: भावार्थ :—

नित्य है इसलिये 'कृष्ण' शब्द सच्चिदानन्द–लक्षण युक्त है। ऋग्वेदमें भी कृष्णको पूर्णब्रह्म कहा है यथा–" सस्वः चिद्धि तन्वः शुम्भ-माना आहंसो नीलपृष्ठा अपप्तन् " वह कृष्ण (सस्वः) स्वः–आनन्द सहित है (हि) निश्चय (चित्) चिद्घन है। (नीडपृष्ठाः) नीड-अर्थात् धामकी तरफ है पृष्ठ–पीठ जिनकी ऐसे (शुम्भमानाः) शोभाय-मान (तन्वः) ब्रह्मके तनस्वरूप (आहंसासः) हंस अर्थात् परमहंस–

टिप्पणी

दोनोंका मेरे प्रति स्नेहभाव और पुत्रभाव अधिक होनेसे तुम दोनों मेरे विष्णुधामको प्राप्त होउगे।

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(भा० १०–३–४६)

अर्थः—(इति उक्त्वा) इतना कहकर (तूष्णीम्) तूष्णीं यथा स्यात्तथा—चुपचाप (हरिः) चतुर्भुजस्वरूप-मपहर्तुं प्रवृत्तः–चतुर्भुजस्वरूपके छिपानेमें प्रवृत्त–अर्थात् अन्तर्ध्यान (आसीत्) हो गये। तदनन्तर (पित्रोः) माता पिताके (पश्यतोः) देखतेही देखते तत्काल (प्राकृतः) प्रकर्षेण–अकृतः–अजन्मा–अविनाशी प्रभुः (भगवान्) षड्गुणपूर्ण—सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (आत्ममायया) स्वयं अपनी मायासे (शिशुः) बालकरूप (बभूव) हो गया।

[क] इस श्लोकमें हरि, प्राकृत और भगवान् शब्द बड़े मर्मसूचक हैं। ये तीनोंहीं शब्द पहलेवाले चतुर्भुज–स्वरूपके साथ भेदप्रतिपादन करते हैं। 'हरिः' शब्दका उपरोक्त अर्थ कई टीकाकारोंने भी किया है। 'श्रीम-

न्मन्त्रव्याख्या मंत्रभागवते नीलकण्ठसूरिकृतेति बोध्या। पुनराहऋङ्-मन्त्रः 'इदमुतमत्युरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनमुदस्थादिति इदं

—: भावार्थः —

ब्रह्मप्रियागण (अपसन्) इस जगतमें प्राप्त हुए हैं। इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि नन्दजीके यहां प्रगट होनेवाले कृष्ण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। विष्णुपुराणमें भी लिखा है कि कृष्ण विष्णुके अवतार नहीं हैं किंतु स्वयं ब्रह्मस्वरूप हैं। यथा—

वनजौ जलजौ खर्वस्त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
दशावतारा एवैतें कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ॥

टिप्पणी

३जीवगोस्वामी' अपनी 'वैष्णवतोषिणी' नामकी टीकामें 'हरि' शब्दका अर्थ करते हैं कि "हरिस्तच्चतुर्भुज रूपमपहर्तु गोपयितुं प्रवृत्तत्वेन च विख्यापिततन्नामाऽसौ" अपने चतुर्भुज रूपके छिपानेमें प्रवृत्त विष्णुके लिये 'हरि' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'प्राकृत' शब्द भी पूर्व स्वरूपसे भेद प्रतिपादन करता है अर्थात् विष्णुस्वरूप अनित्य होनेसे उसे प्राकृत [प्रकर्षेण अकृतः—प्राकृतः] अजन्मा अविनाशी नहीं कह सकते। इस लिये प्राकृतसे यहांपर अविनाशी ब्रह्मका ग्रहण है, विष्णुका नहीं; यही मानना चाहिये। जिसमें नीचे लिखे ६ गुण होवें उसे भगवान कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा ॥

अर्थः-(१) सब प्रकारका ऐश्वर्य-नियामक शक्ति, (२) धर्म, (३) यश, (४) श्री, (५) वैराग्य और (६) मोक्ष, ये ६ गुण जिसमें पूर्णरूपसे विद्यमान हों उसे भगवान कहते हैं। विष्णुपुराणमें भगवानका एक और लक्षण लिखा है। यथा-

शिशुरूपेण दृश्यमानं नूनं वेदान्तप्रसिद्धं ज्योतिश्चिन्मात्रं पुरुषोत्तमं भूमसञ्ज्ञं तमसः तमःकार्य्यात्संसारात् तत्कारणादव्याकृताच्च पुर-

—: भावार्थ :—

अर्थः—(वनजौ) दो वनज अर्थात् वाराह और नृसिंह (जलजौ) दो जलज अर्थात् मत्स्य और कूर्म (खर्वः) वामन, तीन राम अर्थात् परशुराम, दासरथि राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि, यह दश अवतार प्रधान हैं और श्रीकृष्ण अवतार नहीं है, किन्तु स्वयं भगवान् अर्थात् षड्गुणपूर्ण ब्रह्म हैं। विस्तारभयसे नहीं लिखते, नहि तो नन्दजीके यहां प्रगट हुए कृष्णको अनेको प्रमाण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप वर्णन करते हैं अतः मानना चाहिये कि नन्दपुत्र कृष्ण विष्णु नहीं हैं; किन्तु ब्रह्मस्वरूप हैं। भागवत [१०-१-२] में राजापरीक्षितने "तत्रान्शे-

टिप्पणी.

ज्ञान-शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

अर्थः-जिसमें ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज, ये ६ ऐश्वर्य सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान हों और जो हेय गुणसे रहित हो अर्थात् जिसमें सत्त्वादि नाशवान गुण न हों उसे भगवान कहते हैं। विष्णु पुराणमें यह भी लिखा है कि "सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृताः गुणाः" ब्रह्ममें सत्व रज, तम आदि प्रकृतिजन्य गुण नहीं हैं और विष्णुजीको तो सब शास्त्र पुराणोंने सत्वमूर्ति वर्णन किया ही है अतः सिद्ध हो जाता है कि इस श्लोकमें आया हुआ भगवान शब्द विष्णुका विशेषण नहीं है किन्तु स्वयं ब्रह्मका वाचक है। ऊपर लिखे ६ गुण भी ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरेमें नहीं हो सकते। इसलिये भी भगवान शब्दसे यहांपर अक्षरब्रह्मकोही ग्रहण किया गया है। विष्णु आदि देवोंका नाशभी देखा जाता है इसलिये भी विष्णुमें उपरोक्त ६ गुण नहीं कहे जा सकते यथा—

स्तात् पूर्वं उदस्थात् उत्थितं नित्यमाविर्भूतं वयुनं प्रशस्तं कर्म दुष्ट-निग्रहशिशुपालनरूपं दैर्घ्यं सांहितिकवयुनावत् भवितुं जातमित्यर्थः ”

—: भावार्थ :—

नावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः” अंशद्वारा यदुकुलमें अवतीर्ण विष्णुके वीर्य-चरित्र हमें सुनाइये ” इसप्रकारसे विष्णु अवतारके विषयमें ही प्रश्न किया है और उसके उत्तरमें शुकदेवजीने कृष्णके चरित्रोंका वर्णन किया है फिर कैसे मानलिया जाय कि 'कृष्ण' विष्णुके अवतार नहीं हैं?

टिप्पणी.

महाविष्णु सहस्राणि महाशम्भु शतानि ।
नेत्रभ्रमणमेवास्य तदक्षरं परं पदम् ॥

अर्थः—अक्षरब्रह्मके नेत्रके विक्षेपमात्रसे सहस्रों विष्णु शिवादि उत्पन्न हो नाश पाते हैं, ऐसा पद्मपुराणमें लिखा है। इस परसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान नाम अक्षर ब्रह्मकाही हो सकता है। प्रश्न—विष्णु भगवान, शङ्कर भगवान, भगवान वेदव्यास इत्यादि अनेक देवोंके नामके साथ भगवान शब्दका प्रयोग पुराणोंमें देखा जाता है तो इसका क्या अर्थ होगा ?। उत्तर—देखो जी ! मुख्यतया तो भगवान नाम अक्षर ब्रह्मकाही है क्योंकि ज्ञान, मोक्ष, आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य-षट्क अक्षर ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकते। विष्णु, शङ्कर, व्यास आदिके साथ प्रयुक्त भगवान शब्द गौण है। जैसे छोटे जमीदार वा धनाढ्य पुरुषोंको साधारण मनुष्य 'राजा' कह दिया करते हैं। उसी प्रकार शंकर, विष्णु आदिके लिये प्रयुक्त ' भगवान ' शब्द गौण है, मुख्य नहीं; ऐसा समझना चाहिये। श्रुतिमें भी भगवान शब्द अक्षर ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुआ है। यथा—“ भगवानक्षरं ब्रह्म तत्परः पुरुषोत्तमः ” भगवान अक्षर ब्रह्मसे पर पुरुषोत्तम-अक्षरातीत है, ऐसा लिखा है। इसप्रकार “ हरि, प्राकृत और भगवान ” इन तीनों शब्दोंका गर्भित-आशय देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणसंहिता आदि ग्रन्थोंकी

इत्यादि प्रमाणैः सिद्धं श्रीकृष्णस्य सच्चिदानन्दत्त्वमिति ननु 'तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्य्याणि शंस नः" इत्यत्र विष्णुचरित्र प्रश्नेन

—: भावार्थ :—

उत्तर—देखोजी! यदि गोपकुलमें प्रगट हुए कृष्णको विष्णु कहते तब तो आपका प्रश्न ठीक था लेकिन उन्होंने तो यदुकुलमें अवतीर्ण कृष्णके विषयमें प्रश्न किया है और यदुकुलमें अवतीर्ण कृष्णको तो हम लोग भी विष्णुस्वरूप मानतेहीं हैं; इसलिये किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

टिप्पणी.

भाँति भागवतमें भी कृष्णके भिन्न २ स्वरूपोंके तिरोभाव और प्रादुर्भाव होनेका उल्लेख किया गया है परन्तु गर्भित-आशय होनेके कारण उसे सब लोग समझ नहीं पाते। इसका कारण यह है कि कृष्णलीला दो प्रकारकी है। एक व्यावहारिकी और दूसरी वास्तवी। वास्तवी लीलाका रहस्य अत्यन्त दुर्लभ होनेसे मनुष्य उसके समझनेका पात्र नहीं; उसे तो वही समझ सकता है जिस पर उनकी कृपा हो और उसका अधिकारी हो। पुराण संहितामें श्रीकृष्णजी कहते हैं कि—"मत्स्वरूपात्मिका सृष्टिः सैव तत्राधिकारिणी" मत्स्वरूपात्मिका जो ब्रह्मसृष्टि हैं वेही मेरी लीलाके समझनेका अधिकार रखती हैं। अन्य लोगोंकी बुद्धिमें यह मेरी लीला नहीं समा सकती। स्कन्दपुराणके विष्णु खण्डमें भी लिखा है कि—

लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी।
रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते॥
प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलान्यैरनुभूयते।

अर्थः—वास्तवी और व्यावहारिकी, इसभाँति कृष्णकी लीला दो प्रकारकी है। वास्तवी लीलाका रहस्य प्रकृतिके पर होनेसे उसे लोग समझ नहीं पाते, अपितु केवल प्रकृतिके साथ खेलते हुए कृष्णकी व्यावहारिकी लीलाकोही नाममात्र जाना करते हैं किंतु फिर भी उसके यथार्थ भेदको नहीं समझ पाते। इसका कारण यह है कि—

कृष्णस्य विष्णुत्वं भातीति चेन्न तत्र यदुकुले अवतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंसेत्युक्तं राज्ञा, नतु गोपकुले गोपकुलेशस्येत्युक्तं येन

—: भावार्थ :—

प्रश्न—क्या गोपकुलमें प्रगट होना भी कहीं लिखा है ? । उत्तर–जी ! हां, लिखा है। देखो भागवतके दशम [भा० १०–१४–१] में ब्रह्माजीने स्तुति करते समय नन्दपुत्र श्रीकृष्णके लिये "पशुपाङ्गजाय" कहा है कि 'आप नन्दके पुत्र हैं, पुनः भागवतके दशम स्कन्ध [भा० १०-३५-४]

टिप्पणी.

वास्तवी तत्स्वसंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी ।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित् ॥

अर्थः—वास्तवी कृष्णलीला तो ब्रह्ममुनियोंद्वारा स्वसंवेद्य है अर्थात् उसे तो केवल ब्रह्ममुनिजनही अनुभवसे जान सकते हैं। किन्तु व्यावहारिकी लीलाको भी कोई २ भाग्यशाली पुरुष समझ पाते हैं, सब नहीं । क्योंकि वास्तवी लीलाके समझे बिना, दूसरी–व्यावहारिकी लीला समझमें नहीं आती और व्यावहारिकी लीलाके बिना वास्तवी लीलाके अन्दर प्रवेश नहीं हो पाता । वेद शास्त्रोंमें अधिकतया व्यावहारिकी लीलाकाही वर्णन आता है, वास्तवी लीलाका नहीं । वास्तवी कृष्णलीलाको शास्त्रोंने संक्षेपरूपसे संकेतमात्र वर्णन किया है, विस्तरशः नहीं; अतः उसे साधारण लोग नहीं समझ पाते । उसे समझे बिना जब दोनोंको एकही स्वरूपमें घटाने लग जाते हैं तभी शास्त्रोंमें परस्पर विरोध खड़ा हो जाता है और वह समझमें नहीं आती । विचार पूर्वक देखा-जावे तो कृष्णके दोनों स्वरूप अर्थात् वसुदेवपुत्र और नन्दपुत्र, शास्त्रोंमें भिन्न २ लिखे हैं परन्तु व्यापकबुद्धि न होनेसे उनका यथार्थ भेद समझमें नहीं आता । यदि थोड़ी देरके लिये मानलिया जाय कि कृष्णके भिन्न स्वरूप नहीं थे किन्तु एकहीथा और वही नन्दपुत्र और वसुदेवपुत्र दो नामसे प्रसिद्ध हुआ है तो अन्य ग्रन्थोंकी एकवाक्यता करना तो

विष्णुत्वं स्यादिति वयमपि यदुकुले जातस्य विष्णुत्वं ब्रूमः। ननु गोप कुले जातत्वं कुत्रोक्तं कृष्णस्येत्यत्राह 'पशुपाङ्गजायेति' भागवते

—: भावार्थ :—

में लिखा है कि 'नन्दसूनुरयमार्त्तजनानाम्' यही नन्दपुत्र आर्त भक्तोंका प्रतिपालन करते हैं। उपरोक्त "तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः" इसमें भी कृष्णको नन्दात्मज कहा है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके कृष्णजन्म खण्डमें "पूर्णब्रह्म स्वरूपोऽयं शिशुस्ते मायया महीम्" इत्यादि प्रमाणोंमें नन्दपुत्र कृष्णको पूर्ण-

---

टिप्पणी.

दूर रहा, केवल भागवतमें ही एकवाक्यता नहीं हो सकती और परस्पर प्रमाणोंमें विरोध खड़ा हो जाता है। क्योंकि एक तरफ तो लिखा है कि—

(क) तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः [भा० १०-१-२]

(ख) देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्व गुहाशय आविरासीत् [१०-३-८]

(ग) अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि [भा० १०-२-६]

(घ) तावुभौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ''

इत्यादि अनेक प्रमाण विष्णुके अंशसे कृष्णका प्रगट होना प्रतिपादन करते हैं और दूसरी तरफ—

(च) ' एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् [भा० १-३-२८]

(छ) यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् [भा० १०-१४-३२]

(ज) पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः
[भा० १०-४४-१३]

इत्यादि वचनोंसे कृष्णको पूर्ण ब्रह्मस्वरूप सच्चिदानन्द सनातन परमात्मा वर्णन किया गया है, स्वयं ब्रह्मस्वरूप बताया है। अनेक प्रमाणोंद्वारा प्रतिपादन किया है कि नन्दजीके गृहमें पुराण पुरुष-अक्षरातीत

ब्रह्मणोक्तं तथाचोक्तं तत्रैव गोपीभिः "नन्दसूनुरयमार्त्त जनाना-मिति. अतो न गोपवेशभृतः कृष्णस्य विष्णुत्वमिति नच विष्णोर्कृष्णेति

—: भावार्थ :—

ब्रह्मस्वरूप बताया है, इत्यादि प्रमाणोंसे नन्दजीके यहां पुत्ररूपसे प्रगट होनेवाले कृष्णको विष्णु नहीं कह सकते। इसलिये मानना चाहिये कि नन्दजीके पुत्र श्रीकृष्ण अन्य हैं और यदुकुलमें अवतीर्ण विष्णुरूप कृष्ण अन्य। शङ्का—अमरकोशमें विष्णुका नाम कृष्ण कहा है यथा—" विष्णुर्नारा-

---

टिप्पणी.

परमात्मा स्वयं मनुष्यतन धारण कर प्रगट हुआ है। एसी दशामें उपरोक्त दोनों प्रकारके वाक्योंकी एकवाक्यता करना अपनी आत्माको धोखा देना है। परस्पर विरोधी पदार्थोंको एक पात्रमें स्थापन करनेके समान अन्याय करना है। कहां सत्त्वमूर्ति विष्णुका अंश और कहां पूर्णब्रह्म परमात्माका स्वयं प्रगट होना ? भला दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? एक तर्फ विष्णुका 'अंश' शब्द और दूसरी तर्फ पूर्णब्रह्म सनातन परमात्माका स्वयं होना, दोनोंको स्पष्ट शब्दोंमें पृथक् २ वर्णन किया है तिसपर भी यदि किसीके हृदयमें अन्धकार बना रहे और दोनोंकी एकवाक्यता प्रतिपादन करे तबतो महान विरोध उत्पन्न होगा। कदाच कहो कि भागवतके तृतीयाध्यायमें सब अवतारोंका सूत्ररूपसे वर्णन किया है अत एव "एतेचान्शकलाः पुन्सः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" यह वाक्य परिभाषा सूत्र है। जहां २ अन्यावतारोंका वर्णन होगा वे अन्शावतार मानलिये जायँगे और जहांपर कृष्णकेलिये अंश शब्दका प्रयोग हुआ है वहांपर " कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् " यह परिभाषा वाक्य उसे बाधितकर संकुचित कर देगा। क्योंकि " परिभाषा ह्येकदेशस्था सकलं शास्त्रमभिप्रकाशयति वेश्मस्थः प्रदीपवत्; साच शास्त्रे सकृदेव प्रपठ्यते नत्वभ्यासेन " जैसे गृहमें दीपक एक स्थानपर रख दिया जाता है और वह सम्पूर्ण गृहको प्रकाशित किया करता है उसी प्रकार परिभाषावाक्य शास्त्रमें एक स्थानपर पढ़े जाते हैं और वे सब जगह पहुंचा करते हैं।

नाम विष्णुर्नारायणः कृष्णेत्यत्राऽमरकोशे विष्णुत्वं तत्कथमिति चेद्गाढमुक्तं विष्णोः कृष्णेत्यभिधानं गौणं साहचर्य्याद्वेति बोध्यं

—: भावार्थ :—

यणः कृष्णः " इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण नामभी विष्णुकाही है। समाधान—देखो जी! नाम दो प्रकारके होते हैं—एक मुख्य और दूसरे गौण। " मुख्य गौणयोर्मुख्ये संप्रत्ययः " मुख्य और गौणके मध्यमें मुख्यकाही ग्रहण होता है, गौणका नहीं, ऐसा महाभाष्यकार

टिप्पणी.

उन्हें शास्त्रमें बार २ पढ़नेकी जरूरत नहीं रहती। इस प्रकार कृष्णके पूर्णब्रह्म-अवतार होनेमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित न होगी " तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि विष्णुके अंशप्रतिपादक वाक्योंको यदि हठात् पूर्णब्रह्म प्रतिपादक बनाया जाय तो प्रथम तो अंशत्व प्रतिपादक वाक्य स्वार्थमें तात्पर्यरहित होनेसे व्यर्थ हो जावेंगे और उनकी प्रमाणिकता न रहेगी एवं उनका शास्त्रत्व नष्ट हो जावेगा। दूसरे-कृष्णका पूर्णब्रह्म होना तो सिद्ध हो जावेगा परन्तु विष्णुका अंशरूप होना सिद्ध न होगा और विष्णुके अंश प्रतिपादक वाक्य एवं विष्णुस्वरूप प्रतिपादन करनेवाली पूर्वजन्मकी कथा जोकि वसुदेव देवकीको सुनाई है व्यर्थ हो भागवत शास्त्रमें मिथ्यात्व प्रतिपादन करने लगे गी। इस लिये " कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् " तथा " यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं-ब्रह्म सनातनम् " इत्यादिको परिभाषा-वाक्य नहीं कहा जा सकता और न अनेक प्रकरणोंके वाक्य परिभाषासूत्रही हो सकते हैं। और हमारे पक्षमें यह दोष नहीं आता क्योंकि विष्णुके अंशप्रतिपादक वाक्य विष्णुस्वरूप वसुदेवपुत्रके लिये कहे गए हैं और सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य नन्दात्मज कृष्णके लिये प्रयुक्त हुए हैं; इसप्रकार विरोध उपस्थित नहीं होता। प्रश्न—वसुदेवपुत्र विष्णु और नन्दपुत्र कृष्णमें क्या भेद है? जिससे आप भिन्न २ प्रतिपादन करते हो। उत्तर- विष्णुस्वरूप वसुदेवपुत्र और साक्षात ब्रह्मरूप कृष्णमें

पण्डितसाहचर्य्यात्तद्गृहवर्ती कैश्चित्पण्डित इत्युच्यते यथा तथैवात्रापि बोध्यमिति दिक् ॥ ३९ ॥

—: भावार्थ :—

पतञ्जलिने माना है । मुख्यतया कृष्ण नाम नन्द यशोदाके यहां पुत्ररूपसे प्रगट हुए अक्षरातीत परमात्माका है । ग्रन्थान्तरोंमें कहीं २ विष्णुके लिये जो प्रयुक्त हुआ है वह गौण है । और कहीं २ कृष्णके स्वरूपमें प्रविष्ट वैकुण्ठवासी विष्णुके लिये भागवत आदिमें कहा गया वह औपचारिक है, मुख्य नहीं। जैसे कोई राजा राज्याधिकारसे पदभ्रष्ट कर दिया जाता है यातो किसी अन्य कारणसे राजसामग्री रहित हो जानेपर भी पूर्वके राज्य सम्बन्धको लेकर उसे 'राजा' कहा करते हैं। इसी तरह श्रीकृष्णके कलेवरमेंसे परमात्माके आवेशके निकल जानेपरभी शरीरकी एकतासे विष्णुस्वरूपको भी कृष्ण कहा है। अथवा साहचर्यसे विष्णुको

टिप्पणी

वही भेद है, जो भेद सूर्य और छायामें होता है । अर्थात् नन्दपुत्र सनातन परमात्मा हैं और विष्णुरूप वसुदेवपुत्र नाशवान और सत्त्वमूर्ति हैं एवं शिव ब्रह्मा आदिकी भाति एकप्रकारसे सृष्टिके देवता हैं । देखिये ! ब्रह्मसंहिता [५--४८] में लिखा है कि—

> यस्यैक निःश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।
> विष्णुर्महान्स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

अर्थः—जिस महाविष्णु-आदिनारायण पुरुषके एक निःश्वासकालका अवलम्बन करके लोमकूपसे उत्पन्न जगतके ईश्वर—ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन्द्रादि अपने अपने अधिकारमें प्रवृत्त रहते हैं अर्थात् कार्यमें लगे हुए जीवन पा रहे हैं, वे नारायण-महाविष्णुभी जिनकी एक कलामात्र हैं, मैं उन ब्रह्मस्वरूप गोविन्दको भजता हूं। देखिये, ऊपर बताया गया भेद किस प्रकार अक्षरशः ठीक उतरता है । औरभी देखिये-

—: भावार्थ :—

कृष्ण कहते हैं। क्योंकि एकही शरीरमें ब्रह्मका आवेश तथा विष्णुका अवतार हुआ है। जिस आवेशयुक्त कलेवरका नाम कृष्ण था; आवेशके चले जानेपर उसी कलेवरमें अवतार रूपसे विराजमान विष्णुको भी कृष्ण नामसे व्यवहार किया गया है। जैसे पंडितके साहचर्यसे अन्यको भी लोग पंडित कह दिया करते हैं। प्रश्न—क्या शब्द गौण, मुख्य आदि अनेक प्रकारके होते हैं ?। उत्तर—जी ! हां, शब्द षटप्रकारके होते हैं।

टिप्पणी.

उद्धवजी मथुरावासी कृष्णके एकान्त भक्त और परम सखा थे। प्रत्येक समय और हरएक कार्यमें कृष्णके साथ रहते थे एवं काम क्रोधादि गुणोंको जीत चुके थे। इसलिये कृष्णजी कहते हैं कि—"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः (भा० ३-४-३१) उद्धव मेरेसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं। वेही उद्धवजी जब व्रजमें गए और गोपियोंकी प्रेमभक्तिद्वारा जब नन्दपुत्र कृष्णके यथार्थ ब्रह्मस्वरूपको समझा तो अपनेको तुच्छ मानने लगे; कि अरे ! मैं तो अभी कुछ नहीं हूं। मैं अपनेको कृष्णका सखा समझता था। परन्तु आज विदित हुआ कि जिन कृष्णके पादसेवनसे मोक्ष मिलता है उनसे तो मैं हजारों कोश दूर हूं। अहो ! धन्य तो ये व्रजकी गोपी हैं कि जिन्होंने कृष्णके साथ साक्षात् रमण किया है। यथा—(भा० १०-४७-६१)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

अर्थः—हे नन्द नन्दन ! अब तो यही याचना है कि—वृन्दावनकी किसी घास पात यातो लता वृक्षादिही बना दीजिये, जिससे गोपियोंकी चरणरेणु प्राप्त हो सके। जिन गोपियोंने दुस्त्याज्य कुल कुटुम्ब और मर्यादाको लात मारकर साक्षात ब्रह्मस्वरूप मुकुन्द-कृष्णकी पदवीका सेवन किया है। जिस मार्गको श्रुति आजदिनतक ढूंढ़ रहीं हैं, और नहीं पाती; उसको प्राप्त करनेवाली ये गोपी धन्य हैं।

—: भावार्थः —

यथा—यौगिको योगरूढश्च शब्दः स्यादौपचारिकः ।
मुख्यो लाक्षणिको गौणः शब्दः षोढा निगद्यते ॥

अर्थः—यौगिक, योगरूढ, औपचारिक, मुख्य, लाक्षणिक और गौण, इसप्रकारसे शब्दके ६ भेद वैयाकरणोंने माने हैं । "यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः" जिस अर्थमें जो शब्द प्रयुक्त होता है अर्थात्

टिप्पणी

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवन त्रयम् ॥ (भा० १०-४-६३)

अर्थः—नन्दके व्रजकी स्त्रियोंकी पादरेणुको मैं बारम्बार श्रद्धापूर्वक वन्दना करता हूं कि जिनके चित्तको हरनेवाले कृष्णकी कथाका गान करनेसे तीनोंलोक पवित्र हो जाते हैं" अब आग्रह और हठको छोड़कर जरा विचार कीजिये ! कि यदि उद्धवजीके सखा मथुरावासी कृष्ण और नन्दपुत्र व्रजवासी कृष्ण एकही होते तो कृष्णके साक्षात् स्वरूपका सेवन त्यागकर उद्धवजी शूद्रजातिकी ग्वालिनियोंके पैरकी धूल किसलिये चाटते ? नीचजातिकी स्त्रियोंकी चरणरजकी वन्दना क्यों करते ? और कृष्णके सखारूप अपने मनुष्य तनको छोड़कर नारकीय योनिवाले जड़जातिके वृक्ष लता गुल्म आदिमें जन्म लेनेकी याचना किस वास्ते करते ? । क्या उनको यह ज्ञान नहीं था कि जिन कृष्णकी सेवासे ये लोग पवित्र बनी हैं मैं भी तो उनके पासमें रहकर नित्य उनकी सेवा करता हूं फिर इतनी अधीरता और बार बार प्रार्थना किसलिये ? अरे ! प्रार्थना करनेका मुख्य कारण यही था कि, उद्धवजीको पता लग गया था कि व्रजवासी कृष्ण अन्य थे और उनकी चरणरेणु तो दूर रही, उनके साथी गोपी गोपोंकी भी यदि पादरेणुसे पवित्रीभूत इस व्रजमें जन्म मिल जावे तो भी मैं कृतार्थ हो जाऊं । अरे ! उद्धवजीही नहीं शिव, ब्रह्मादि भी इस व्रजकी धूलको तरसतेही रह गये और न मिली । ब्रह्माजी अपने पुत्रसे कहते हैं—

—: भावार्थ :—

जिस अभिप्रायको लेकर जो शब्द बोला जाता है उसी विषयमें उसका अर्थ मान्य होता है, ऐसा मीमांसक लोग मानते हैं। अतः जहांपर ब्रह्म-परक कृष्ण शब्दका प्रयोग हुआ हो, वहांपर कृष्ण शब्दका अर्थ ब्रह्म करना चाहिये और जहांपर विष्णुके लिये कृष्ण शब्द कहा गया हो,

---

टिप्पणी

षष्टिवर्ष सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्द गोप—व्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये॥
तथापि न मया प्राप्ताः तासां पादरेणवः।

अर्थः—पहले मैं (ब्रह्मा) ने साठि हजार वर्ष तक तप किया था कि मेरी आत्मा पवित्र हो जाय और नन्दजीके वृजमें रहनेवाली गोपि-योंके चरणकी रेणु प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त हो जावे। परन्तु हे पुत्र! तिस पर भी मुझे उन गोपियोंकी चरणरज प्राप्त न हो सकी। भागवत (१०-१४-३४) में भी ब्रह्माजीने स्तुति करते हुए कहा है कि—

" तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द—स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ "

अर्थः—इस व्रजभूमिके किसी भागमें जन्म हो जावे तो परम सौभाग्यकी बात है और उसमें भी यदि गोकुलमें होजावे तब तो कहनाही क्या ?। क्योंकि यहां जन्म होनेसे किसी न किसी गोकुलवासीकी चरणरज सिरपर पड़कर कृतार्थ कर देगी। गोकुलवासी इसीलिये धन्य हैं कि श्रुतियाँ आजतक जिसब्रह्मकी पादरजको ढूंढ़ रही हैं और नहीं मिलती, वही ब्रह्म नन्दपुत्र होकर इनका जीवन सर्वस्व हो रहा है।

अहोभाग्य—महोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पुर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अर्थः—धन्य भाग्य हैं उन नन्द गोप व्रजवासियोंके कि जिनके

—: भावार्थ :—

वहांपर कृष्ण शब्दका अर्थ 'विष्णु' करना चाहिये। इसप्रकार गौण मुख्य शब्द आदिका विचार कर अर्थकरनेसे विरोध नहीं होता और शास्त्रार्थकी संगतिभी हो जाती है। अन्यथा लगानेसेही विरोध होता है। यह शब्दका विषय बहुत बड़ा है विस्तारभयसे यहां नहीं लिखा जाता ॥३९

टिप्पणी.

मित्र परात्पर पूर्ण परमात्मा आनन्दमूर्ति सनातन प्रभु हैं। विस्तारभयसे अधिक नहीं लिखते परन्तु ऊपरकी घटनासे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि गोकुलवासी नदात्मज कृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं और वसुदेवपुत्र नामसे प्रसिद्ध मथुरा द्वारिका आदिमें लीला करनेवाले विष्णुस्वरूप कृष्ण अन्य हैं। महाभारत अनुशासन पर्वके १४ वें अध्यायमें एक कथा आती है। उसमें लिखा है कि श्रीकृष्णने बारह वर्षतक शिवजीका आराधन किया और उसके फलस्वरूप रुक्मिणीके गर्भसे वीर पुत्र उत्पन्न किये। उपमन्यु ऋषिके आश्रममें ऋषिके उपदेशानुसार कृष्णने तपस्याकर शिवजीको संतुष्ट किया तब प्रसन्न होकर शिवजी प्रगट हुए; उस समय श्रीकृष्णजी शिवजीके सामने देख भी नहीं सके। यह बात श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे कही है। यथा—" ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत्तदा " श्रीकृष्णजी कहते है कि उस समय-अर्थात् जब महादेवजी प्रगट हुए तब मैं उनके तेजस्वी स्वरूपको न देख सका " क्या इत्यादि प्रसंगोपरसे द्वारकावासी कृष्णको पूर्णब्रह्म कह सकते हैं ? कदापि नहीं। जिस ब्रह्मके निमेषमात्रमें कोटिन विष्णु नारायण आदि नाश हो जाते हैं वह परमात्मा तमोमूर्ति शिवजीका आराधन किस लिये करे ? शिवजीका आराधन तो वही कर सकता है जो अपूर्ण और शक्ति शून्य हो, जिसमें अपने मनोरथको पूर्ण करनेकी शक्ति न हो, वही आराधन किया करता है। परमात्मा जो पूर्णात्पूर्ण है, जो सच्चिदानन्द मूर्ति स्वयं अनंत और अखण्ड है वह किसकी आराधना करे और उसे करनेकी आवश्यकताही क्या ? क्योंकि वहतो पूर्ण है। अतएव इस परसे भी यही स्पष्ट होता है कि पूर्ण ब्रह्मस्वरूप और

मुक्तलोहेन सः पित्रा प्रापितो नंदसद्मनि ।
कन्यामानीय पुनस्तत्र स्थापिता सूतिका गृहे ॥४०

गू०—अथ भगवदाज्ञया द्विभुजं शिशुरूपधरं परमात्मानं नन्दागारे स्थापयामास तद्गृहात्कन्याश्चानीय वसुदेवः पूर्ववद्बभूवेत्याह मुक्तलोहेनेति मुक्तोलोहमयो बन्धःस्वयं यस्य तेन ॥ ४० ॥

भा०—तदनन्तर जिस दोभुज स्वरूपको वसुदेवजीनें देखा, पूर्वस्वरूपकी आज्ञा अनुसार इसे उठाकर नन्दजीके भवनमें ले गए वहांपर यशोदाजीके उदरसे जो योगमाया कन्यारूप उत्पन्न हुई थी उसे उठालिया और इस द्विभुजस्वरूपको उसी शय्यापर रखकर पीछे लौटे और पूर्वकी भांति अपनें कारागृहमें प्रवेशकर बन्धनयुक्त हो गए । जिस समय वसुदेवजी कृष्णको गोकुल लेकर चले तो उनके सब बन्धन अपने आप छूट गए थें और कन्या लेकर जब लौट आए तो सबके सब बन्धन द्वारपाल जैसेके तैसे हो गए ॥ ४०

टिप्पणी.

विष्णुस्वरूप दो कृष्ण हुए हैं । पूर्ण ब्रह्मस्वरूपने व्रजमें लीलाकी है और विष्णुरूप वसुदेवपुत्रने मथुरा द्वारिका आदिमें दैत्योंका संहार कर पृथिवीका भार उतारा है । परन्तु यह बात पवित्रात्माओंके अतिरिक्ति अन्यके हृदयमें जम नहीं सकती । क्योंकि—

जन्मान्तरसहस्रेषु तपो ज्ञान समाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥

अर्थः– सहस्रों जन्मतक तप, ज्ञान और ध्यान योग आदिके आचरणसे निर्मलान्तःकरण हो गया है जिनका, उन्हींको कृष्णकी यथार्थ भक्ति प्राप्त होती है, अन्यको नहीं; क्योकि अन्यलोग उसके तत्त्वको नहीं समझ पाते अतः श्रद्धा भी उत्पन्न नहीं होती । इसी कारणसे वे इस तत्वको ग्रहण नहीं कर सकते ॥

कन्याया रोदनं श्रुत्वा द्वारपालाः समुत्थिताः ।
आचख्युः कंसभूपाय देवकी-गर्भसम्भवम् ॥ ४१

भा०—वसुदेवजीके कारागृहमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर जब द्वारपालोंने कन्याके रोदनको सुना कि तत्काल कंसराजाके प्रति जाकर निवेन किया कि वसुदेवजीके यहां देवकीके गर्भसे बालक उत्पन्न हुआ है ॥ ४१ ॥

आसाद्य सूतिकागारं प्रस्खलन्मुक्तमूर्द्धजः ।
ममान्तकृत्समालोच्य हननीयोऽस्त्यसाविति ॥४२

गू०—आसाद्येति । असौ ममान्तकृदतो हननीयोऽस्तीति समालोच्य कन्यामापोथयदित्युत्तरेणान्वयः ॥ ४२ ॥

भा०—पुत्रका जन्म सुनतेही कंसको भय उत्पन्न होने लगा । अरे ! मेरा अन्तकृत-शत्रु यह उत्पन्न हुआ है । इसे अवश्य मारना चाहिये, ऐसा विचार कर गृहसे दौड़ा । मार्गमें ठोकर आदिके लगने पर भी न रुका और सूतिकागृहमें तत्काल आ पहुंचा ॥ ४२ ॥

आकृष्य भगिनी-हस्ताद्धठात्पाप-कृदुत्तमः ।
अपोथयच्छिलापृष्टे कन्यां परमदारुणः ॥ ४३

गू०—आकृष्येति । पापं कुर्वन्ति ये ते पापकृतस्तेषामुत्तमः ॥

इति श्री निजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायां तृतीयस्तरङ्गः ॥३॥

भा०—अपनी बहिन देवकीके हाथसे बलात् कन्याको छीन लिया और पापात्मा होनेके कारण भगिनीकी पुत्रीके वधका जरा भी विचार न करते हुए उसे शिलापर पटककर मारना चाहा ॥ ४३ ॥

सा ऽभूदष्टभुजाकाशे देवी धृतवरायुधा ।
उत्पत्योवाच भो पाप ! हन्ता जातस्तु ते क्वचित् ॥४४

भा०—जैसेही उस कन्याको शिलापर पछाड़ना चाहा कि तत्काल कन्या उसके हाथसे निकलकर आकाशमें जा पहुंची और अष्टभुजा धारणकर कहने लगी कि अरे ! दुष्ट ! तेरा वध करनेवाला तो व्रजमें कहींपर उत्पन्न हो गया ॥ ४४ ॥

इत्याकर्ण्य वचः कंशः देव्या सो मूर्छितोऽभवत् ।
स्वागारं गतवान्सद्यः निशिनिद्रां न लब्धवान् ॥४५

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति परिडत कृष्ण-
मणिशर्म्मसूरि विरचितस्यानन्दसागरस्य
तृतीयस्तरङ्गः ॥ ३ ॥

भा०—इसप्रकार आकाशमें गई देवीरूप कन्याकी वाणी सुन कंस मूर्छित हो गया । अपने गृहमें लौटकर रात्रिभर भयत्रस्त हो विचार करता रहा और आखोंमें नींद तक न आई ॥ ४५ ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्थतृतीयतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्त शास्त्रिकृता भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ ३ ॥

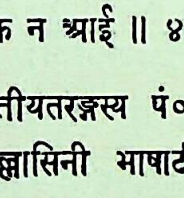

चतुर्थस्तरंगः

नन्दसूनूद्भवं श्रुत्वा ह्यानन्दाम्बुधिसंप्लुतः ।
जातकं कारयामास विप्रानाहूय वेदगान् ॥ १

गू०—अथ गोकुले व्रजे चाचारितानि भगवच्चरित्राण्यत्यन्त संक्षेपरीत्यैकादशभि श्लोकैः प्रदर्श्यन्ते नन्द इति । पुत्रोत्पत्ति श्रवण-जन्य आनन्द एवाम्बुधिस्तस्मिन्संप्लुतोवेदगान् श्रुत्यर्थानुगामिनः ॥१

भा०—गोकुल तथा व्रजमें रहकर कृष्णने जो २ बाल-चरित्र किये हैं, उन्हें संक्षेपसे दिखाते हैं । नन्दजीके यहाँ पुत्र प्रगट हुआ है, इतना सुनतेंही गोकुलवासी गोपोंके हर्षकी सीमा न रही । आनन्दरूपी-सागरमें निमग्न होते हुए अपने २ गृहसे स्त्री, पुरुष वधावा ले २ कर दौड़ने लगे । इधर नन्दजीने वेद पाठी विप्रोंको बुलाकर जातकर्म आदि मांगलिक कार्य कर पुत्रजन्मका आनन्द मनाया ॥१॥

ततः काले गते काचित्पूतना बालघातिनी ।
कंससंप्रेषिता याता गोकुले गोप-संकुले ॥ २

भा०—कुछ कालानन्तर कंसद्वारा भेजी हुई-बालकोंको घातकरने वाली 'पूतना' नामकी राक्षसी गोपवृन्दोंसे सङ्गठित वसे हुए गोकुलमें कृष्णके वध करनेको आई ॥ २ ॥

कृष्णशय्यां समासाद्य मुखे स्तन्यं न्यधाच्छिशोः ।
विषलिप्तं पपौ सोऽपि सप्राणं सा मृतिंगता ॥ ३

भा०—उसनें गोकुलमें आतेही नन्दजीके गृहमें प्रवेश किया। जहांपर कृष्णको यशोदाजीने सुला रखा था; आकर कृष्णको उठालिया और उनके मुखमें विषसे लिप्त अपने स्तनको लगाकर दूध पिलानेके मिषसे उनको मारना चाहा। श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी थे समझगये कि (पूतना पूर्वजन्ममें बलिराजाकी पुत्रीथी वामन अवतारमें कृष्णके साथ पुत्रस्नेह किया था इसकारण उसे कृष्णद्वारा यह अवसर प्राप्त हुआ) यह मेरे मारनेका अभिमान लेकर आई है; अतः स्तनपानके साथही उसके प्राणोंका भी पान कर लिया और वह हाहाकार मचाकर मृत्युको प्राप्त हुई॥

सापूतनामातृगतिंगता वै यांयोगिनः कृच्छ्रगता न प्रापुः
यत्पादरेणुः प्रतिपत्तयेऽन्ये गच्छन्त्यरण्यं स पपावुरोजम्

गू०—वैरभावेनापिराक्षसी पूतनाभगवतेस्तन्यं समर्प्य योगिदुर्लभां मातृगतिं लब्धवती किमुत प्रेम्णा समर्पितसर्वस्वानां भक्तजनानामित्याह द्वाभ्यां सेति। मातृणामिवगतिं—यस्यपादयोश्चरणयोः रेणवः पांसवस्तेषां प्रतिपत्तिः प्राप्तिस्तस्यै अन्ये वानप्रस्था अरण्यं गच्छन्ति ॥ ४ ॥

भा०—यद्यपि पूतना राक्षसीने इस जन्म वैरभावसे श्रीकृष्णको स्तनपान कराया था तथापि पूर्वजन्मके वरदानके कारण और अपनें मुखमें इनका स्तन गया है यह भाव समझ उसे योगिजन दुर्लभ गतिको पहुंचा दिया। क्योंन पहुंचा देवें ? जिस परमात्माके चरण रजकी प्राप्तिकेलिये योगी, यति अनेंकों त्याग किया करते हैं, ऐसे प्रभुको जिसने साक्षात् स्तनपान कराया उसे तो मातृगति देनीही चाहिये ॥ ४ ॥

धन्या सा राक्षसी यद्वै यस्याः स्तन्यं पपौ हरिः।
किं भाग्यं वर्ण्यते तासां गोपीनां शुद्धचेतसाम् ॥५

भा०—जिसके स्तनका साक्षात् श्री कृष्णने पान किया वह पूतना धन्य है । तब शुद्ध चित्तसे स्तनपान करानेवाली यशोदा आदिके भाग्यका वर्णन तो कौन कर सकता है ॥ ५ ॥

सकटोत्क्षेपणं चक्रे पद्भ्यां लीलातनुर्हरिः ।
तृणावर्त्तं जघानाऽसौ गलग्रहणतत्परः ॥ ६

गू०—सकटासुरं तृणावर्त्तश्चजघानेत्याह सकटोत्क्षेपणमिति ६

भा०—लीलामात्र शरीरधारी कृष्णने पादके प्रहार मात्रसे सकटासुरको मारा । वायुमण्डलाकार वात्यारूप धारणकर आनेवाले तृणावर्तको भी क्षणमात्रमें गर्दन घोटकर मार दिया । वात्या उसे कहते हैं जो पवन इकट्ठा होकर मण्डल बांध उड़ने लगता है और उसके साथ घास, पात धूल सामिल होकर एक प्रकारका भयंकर रूप जैसा बन जाता है उसे तृण-आवर्त या वात्या कहते हैं ॥ ६ ॥

मृत्तिका भक्षणं श्रुत्वा यशोदाहूय बालकम् ।
मुखं दर्शय त्वं कृष्ण ! मृत्तिका खादितात्वया ॥७
न जग्ध्वा मृत्तिका मेऽम्ब ! व्यात्तं पश्याननं मम ।
व्यात्तानने विलोक्याऽसौ ब्रह्माण्डं चकिताभवत् ८

भा०—तदनन्तर मृतिका भक्षण लीला करी है । एक दिवस यशोदाजीने बालकोंके मुखसे यह सुनकर कि—"कृष्णने माटी खाई है" कृष्णको बुलाकर डाट फटकार करने लगीं कि 'तूं मांटी क्यों खाया करता है । यदि नहीं खाई है तो अपना मुख तो दिखाओ । तब श्री कृष्णने कहा कि हे माता ! मैंने मृत्तिका नहीं खाई, ये ग्वालबाल तो सब मेरेको झूठेही दोष लगाया करते हैं यदि तुमें विश्वास नहीं है

—: भावार्थ :—

और बालकोंकी बात सत्य मान ली है तो मेरा मुख देख लो; ऐसा कहकर अपना मुख खोल दिखाया। यशोदाजीने कृष्णके मुखमें सम्पूर्ण जगतकी रचना देखकर आश्चर्य पाया और अपने पुत्रको परमात्मस्वरूप समझा। परन्तु कृष्णने पुनः अपनी मायासे मोहित कर दिया इसलिये फिर उन्हें अपना पुत्र समझने लगीं ॥ ७-८ ॥

वत्सं वकं व्यालरूपमघं चाहन्परेश्वरः।
हननं यत्कृतं तेन भाग्यं चास्ति सुरद्विषाम् ॥ ९

भा०—उसके बाद परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णने वत्सासुर और बकासुरको मारा। महा भयंकर सर्पका रूप धारणकर आनेवाले अघासुरको तथा अन्यान्य दैत्योंका वधकर उन्हें सद्गतिको पहुंचाया। प्रश्न-यदि कृष्ण परमात्मा हैं तो गोकुलादिमें आए हुए असुरोंको क्यों मारा? क्योंकि यह तो विष्णुकोही अधिकार है नकि पूर्ण ब्रह्मको। उत्तर-देखो जी! पूर्णब्रह्म किसीको नहीं मारता और न उसे मारनेकी आवश्यकता है। दैत्योंके मारनेवाले तो कृष्णके स्वरूपमें विष्णुके चार विभू थे। जो अपने २ अधिकारानुसार दैत्योंका वध किया करते थे। इस बातको हम प्रथम पृष्ट १६५में लिख चुके हैं कि श्रीकृष्णके कलेवरमें सम्पूर्ण तेजराशियोंने प्रवेश किया था और जिस तेजराशिका जहांपर कार्य करनेका अधिकार था वहां अपने २ समय पर किया करती थी। इसलिये किसीप्रकारका विरोध नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

वेधास्तु मोहितो भूत्वा वत्सान्बालाञ्जहार ह।
हरिस्तु लीलया क्लृप्तैर्विजह्रे तादृशैः सह ॥ १०

गू०—अथ भगवद्बालक्रीडावलोकनेन व्यामोहितो ब्रह्मा

कथमसौ परमेश्वरो भवितुमर्हतीति मन्वानस्तत्परीक्षार्थं वत्सान्बालाँश्च-हृतवानित्याह वेधा इति । ननु कथं जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मणो मोहः संभवति 'भवान्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचिदिति विष्णोर्लब्धवरत्वादि तिचेन्नैवं वाच्यं शब्दातीते ब्रह्मणि न भवान्विमुह्यतीत्यनुक्तेः परमात्म विषये सर्वेषां ब्रह्मादीनां मोहस्तु भवत्येव 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूवेति । अनेजदेको मनसोजवीयो

भा०—इसप्रकार अघासुरका वधकर गोपाल बालकोंको संगलिये हुए श्रीकृष्णजी यमुनाजीके तटपर पहुँचे । वहांपर गौ तथा वत्स-बछरा आदिको चरते हुए छोड़कर आप ग्वालवालों सहित यमुनाके एकान्त सुन्दर तटपर कलेवा करने लगे । मण्डलाकार बैठे हुए ग्वालोंके मध्यमें श्रीकृष्णजी बैठे भोजन कर रहे हैं । परस्पर एकदूसरे बालक अपने २ घरका अलग २ स्वाद बताकर खाते जाते हैं और उसी हाथसे कृष्णको देते जाते हैं । इसीप्रकार श्रीकृष्णभी अपने हाथसे खुद खाते हैं और दूसरोंके मुखमें भी अपना कलेवा देते हुए आनन्दकी बातें करते जाते हैं । इसप्रकार कृष्णकी बाललीलाको देखकर-विमानमें बैठे हुए ब्रह्मा-जीको, जोकि अघासुरको मोक्ष देने आए थे, आश्चर्य हुआ । कि अरे ! परमात्मा होकर ये ऐसा करते हैं इसमें संशय है। परमात्मा नीचजातिके बालकोंका उच्छिष्ट भोजन कदापि नहीं कर सकता । अतः इनकी परीक्षा करनी चाहिये कि ये परमात्मा हैं या नहीं । इस प्रकार कृष्णकी बाललीलासे मोहित होकर ब्रह्माजीनें सब गौ तथा बछरा आदिका हरण कर-लिया । जब श्रीकृष्णने गौ तथा बछरोंको न देखा तो उनकें ढूंढ़नेंको गए तबतक यमुना तटपर बैठे हुए सब गोपबालकोंको हर लिया । जब यह बात श्री कृष्णको मालूम हुई तो उसी प्रकारके अन्य ग्वालबाल तथा गाय, बछरा आदि सब अपनी इच्छासे उत्पन्नकर एक वर्ष पर्यन्त

यतो वाचोनिवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसासह ” निर्विकल्पमनन्तं च हेतु दृष्टान्त वर्जितम् । अप्रमेयमनाद्यञ्च’ इत्यादि श्रुतिभ्यः ‘कइहनुवेदब-तावरजन्मलयोऽग्रसरं यत उदगादृषिर्यमनुदेवगणा उभये’ इति भागवताच्च यद्विष्णुनावरोदत्तः स जगद्रचना विषये भविष्यतीति विभाव्यम् । लीलयैवक्लृप्तैः रचितैस्तादृशैः पूर्वीयबालवत्सतुल्यैरेव-वत्सैर्बालैश्च सह विजहारेति भावः ॥ १० ॥

—: भावार्थ :—

उनके साथ नित्यप्रति लीला विहार करते रहे और किसीने न जाना कि ये ग्वालबाल किम्वा गाय, बछरा अन्य हैं और सबके सब उनके साथ पूर्ववत् प्रेम करते रहे । शङ्का—ब्रह्माजीको तो मोह न होना चाहिये । क्योंकि सृष्टिके आदि कालमें विष्णुजीने वरदान दिया था कि तुमें कभी मोह उत्पन्न न होगा; तो ब्रह्माको मोह क्यों उत्पन्न हुआ? समाधान—देखोजी ! विष्णुजीने “ सृष्टिरचनाके विषयमें मोह न उत्पन्न होनेका ” वरदान दिया था नकि ब्रह्मविषयमें । यथा—“ भगवान् कल्पविकल्पेषु न मुह्यति कर्हिचित् (भा० तृतीय०) ” अर्थः—विष्णु कहते हैं कि हे ब्रह्माजी ! आप कल्प (जगत) के विकल्प अर्थात् रचना करनेमें कभी मोहको प्राप्त न होगे ” इसलिये ब्रह्मस्वरूप कृष्णके विषयको यथार्थ समझनेमें तो ब्रह्माजी क्या नारायण—महाविष्णुसे लेकर कीटपर्यन्त सभी मोहको प्राप्त हो जाते हैं । श्रुति वर्णन करती है कि “ न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ” अर्थः—(यः) जिसने (इमाः) इस प्रजाको (जजान) उत्पन्न किया है (तम्) उसको तुम लोग (न विदाथ) नहीं जानते । क्योंकि (युष्माकम्) तुमलोगोंके (अन्तरम्) अन्तरमें (अन्यद्) अन्यही आवरणरूप अज्ञान (बभूव) हो गया है । इसलिये उसके यथार्थ स्वरूपको समझना

—: भावार्थ :—

कठिन है। "अनेजदेको मनसो जवीयः (श्रुतिः) अर्थः—वह परमात्मा मनसे भी अधिक वेगवान है। "यतो वाचो निर्वतन्ते—अप्राप्य मनसा सह [तै० ब्रह्मवल्ली ८] अर्थः—जिस परमात्माको मनसहित वाणी न पाकर लौट आती है। निर्विकल्प मनन्तं च हेतु दृष्टान्त वर्जितं। अप्रमेयमनाद्यं च ' [ब्रह्मबिन्दु० उ० ९] " अर्थः—जो कल्पनासे रहित है अर्थात् जिसके विषयमें मनुष्य अपनी कल्पनाको नहीं दौड़ा सकता। अनन्त होनेकेकारण जिसे हेतु और दृष्टान्तद्वारा नहीं समझा जासकता। जो अनादि अविनाशी और अप्रमेय है अर्थात् जो प्रमाणोंसे नहीं जाना जासकता। इत्यादि श्रुतियां ब्रह्मके विषयमें ब्रह्मादि कीट पर्यन्त सबको असमर्थ कह रही हैं। भागवत दशम स्कन्धमें शुकदेवजी लिखते हैं कि—क इह नु वेद बतावर जन्मलयोऽग्रसरं यत उदगादृषिर्यमनुदेवगणा उभये " पीछे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मादि देव, ऋषि अनादि परमात्माके स्वरूपको किस प्रकार जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जान सकते। इसप्रकार परमात्माके स्वरूपको श्रुति स्मृति सभी शास्त्रोंने दुर्ज्ञेय और दुष्प्राप्य वर्णन किया है अतएव ब्रह्मस्वरूप कृष्णके विषयमें ब्रह्माको मोह होना विष्णु वरदानके विरुद्ध नहीं किन्तु स्वाभाविक है॥ १०॥

संवत्सरान्त आगत्य पूर्ववद् दृष्टवानजः।
पूर्णानन्दं परं ज्ञात्वा शरण्यं शरणंगतः॥ ११

भा०—एक वर्षके बाद ब्रह्माजी व्रजमें आए तो देखा कि जैसे प्रथम ग्वालबाल तथा गौ, वत्स आदि थे; उसी प्रकार सबके सब विद्यमान हैं। तब ब्रह्माको आश्चर्य हुआ। अरे! गाय, बछरा तथा ग्वालबालोंको एकवर्ष हुआ कि मैं ले गया हूं और यहां भी जैसेके तैसे बने हैं।

—: भावार्थ :—

निश्चय यह श्रीकृष्ण परमात्माकी माया है। मेरा बड़ा अपराध हुआ कि परात्पर पूर्ण ब्रह्मके साथ ऐसी धृष्टता की, इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए श्रीकृष्णकी शरणमें जाकर बारम्बार स्तुति पूर्वक क्षमा याचना करेन लगे ॥

कालियो दमितस्तेन यमुना निर्विषाकृता।
शक्रवक्रमदोऽनाशि कृतं चारित्रमुत्तमम् ॥ १२

गू०—कालियाख्यनागदमनं यमुनावारिनिर्विषीकरणं शक्रोद्धतमदापनयनं च श्लोकैकेन सूचयति। कालिय इति। शक्रस्येन्द्रस्योद्धतो यो मदो गर्वस्सोऽनाशि त्रोटित इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भा०—तदनन्तर भमवान् श्रीकृष्णने कालिय नागका दमनकर यमुनाके जलको निर्विष बनाया। सात वर्षकी अवस्थामें इन्द्रके बढ़े हुए मदका नाश किया। इस प्रकारके अनन्त चरित्र और लीला व्रजमें करते हुए व्रजवासी जनोंको सुख पहुँचाया ॥ १२ ॥

एवं नाना विधा लीलाः कृतवानीश्वरेश्वरः।
नवक्तुं ताः समर्थाः स्मो वयं मन्दाधियः खलु ॥१३
रुद्रसंख्यान्विते वर्षे बाल्यवैभवमुत्तमम्।
कृत्वा वृन्दावनं रम्यं जगाम रसिकेश्वरः ॥ १४

गू०—एकादशसंख्याक संवत्सरपर्य्यन्तं बाल्यलीलां विधाय पश्चाद्योगमायामंडलं वृन्दावनं निर्म्माय रन्तुं जगाम। जगामेत्याह रुद्रेति। प्राचां रूढ्यैकादशसंख्या रुद्र इत्युच्यते रुद्रसंख्यान्विते एकादशसंख्यान्विते वर्षे गते सतीत्याध्याहारः। रसं 'रसो वै सः' इति

श्रुति प्रतिपाद्यं रसशब्दवाच्यं परमात्मानं जानंतीति रसिका ब्रह्मप्रियास्तासामीश्वरो रसिकेश्वरः श्रीकृष्ण इति ॥ १४ ॥

भा०—श्रीकृष्णजीनें नन्द यशोदाजीके यहां अनेक प्रकारकी लीला करते हुए जो सुख पहुंचाया है उसे वर्णन करनेंकी शक्ति नहीं है। इसप्रकार एकादश वर्ष ५२ दिवस पर्यन्त उत्तम चरित्रकर तदनन्तर रास रमनेकी इच्छासे रमणीय वृन्दावनमें पहुंचे ॥ १३-१४ ॥

एकदा भगवान्कृष्णः शरत्कुसुमितद्रुमाः ।
रात्रीर्विलोक्य सुखदा रन्तुं चक्रे मनः प्रभुः ॥ १५

गू०—अथैकादशसंवत्सरपर्य्यन्तं भगवत्कृत बाल्यलीलां कालमायान्तर्भूता मक्षरब्रह्मस्वप्नोद्भव ब्रह्माण्डान्तर्गत गोकुलादिस्थाननिष्ठां प्रदर्श्येदानीं कैशोरावस्थापन्नस्य कृष्णस्यातिगुह्यतरां योगिदुर्लभां रासलीलां दिदर्शयिषुः संक्षेपरीत्यावक्ति एकदेति ॥ एकदावसरे द्विपञ्चाशद्दिवसाधिकैकादशवर्षान्तिमे शरत्पूर्ण मास्यामित्यर्थः। भगवानत्र भगवच्छब्देनाक्षरब्रह्मेति विज्ञाप्यते ‘ भगवानक्षरं ब्रह्मतत्परः पुरुषोत्तम इति श्रुतेः अथवा भगवतः ऐश्वर्य्यं श्रीर्वा ज्ञानं वैराग्यं यशोधर्म्मोवास्यास्तीति भगवान् ॥ तथोक्तं विष्णुपुराणे ऐश्वर्य्य-

भा०—अक्षर भगवान्के स्वप्नसे उत्पन्न कालमायाके ब्रह्माण्डान्तर्गत व्रजमें ११ वर्ष ५२ दिवस तक विविध प्रकारकी बाललीला कर शरत्पूर्णिमाकी विकसित रात्रिको देखकर श्रीकृष्ण भगवानने रास रमनेका विचार किया। इस श्लोकमें जो भगवान् शब्द आया है, वह अक्षर ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुआ है। क्यों कि "भगवानक्षरं ब्रह्म तत्परः पुरुषोत्तमः" इसप्रकार श्रुति वर्णन करती है। विष्णुपुराणमें भगवान शब्दका निर्वचन नीचे लिखे अनुसार किया गया है। यथा—

स्य समग्रस्यधर्मस्य यशसः श्रियः ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीर्य्यते इति अथवा उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं वेत्ति विद्यामविद्यांच सवाच्यो भगवानितिस्मृत्यन्तरं यद्यपि भगवच्छब्दोऽव्यवहाररीत्यावहुषु स्थलेषु युक्तो दृश्यते तथापि पारमार्थिकरीत्या स्वगतार्थानुसारेणात्रैव प्रयुक्तो भवितुमर्हतीति बोध्यम्। कर्षति स्वप्रियागणान्संसार सागरात् योऽसौ कृष्णोऽक्षरातीतः अक्षरात्मप्रयुक्तोऽक्षरातीत इति फलितं यद्वा कृष्णशब्दो भगवच्छब्दस्य विशेषणम् 'भगवानपि ताराश्रीरित्यत्र भागवते रासपञ्चाध्यायां भगवच्छब्दमात्रस्यैव

—: भावार्थ :—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षरणां भग इतीङ्गना ॥

अर्थः—निरतिशय सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् उत्पति प्रलय पालनादि सर्व शक्ति सम्पन्न, वेदादि सद्धर्म पालक यशस्वी, श्रीमान्, नित्यज्ञान और विरागयुक्त, इसप्रकार षट् ऐश्वर्ययुक्त पुरुष भगवान् कहा जाता है । भगवान शब्दका एक और लक्षण पाया जाता है । यथा—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

अर्थः—जो उत्पत्ति, प्रलय, प्राणीमात्रकी शुभाऽशुभ गति, विद्या और अविद्याको यथार्थ जानता हो उसे भगवान कहना चाहिये । उपरोक्त दोनों प्रकारके ६ ऐश्वर्य अक्षर ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकते । इसलिये भगवान् शब्दसे अक्षर ब्रह्मकाही ग्रहण करना चाहिये । व्यवहारमें महात्मा पुरुषोंके लिये भी भगवान् शब्दका प्रयोग होता है परन्तु वह गौण है, मुख्य नहीं । क्योंकि जगतकी उत्पत्ति आदि ६

कथनात् नन्वेवंसति अक्षरमात्रस्यैवोक्तिर्भवति नत्वक्षरातीतस्येतिचेन्न अपिशब्देनाक्षरातीतो ग्राह्यस्त्वन्यथापिशब्दप्रयोगासंभवात् तत्रेत्थं व्याख्या कृष्णः कृष्णपूर्णावेशः 'गंगायांघोष इतिवत् जहल्लक्षणया कृष्णइत्यनेन कृष्णावेशोग्राह्यः सोऽस्मिन्नक्षरेऽस्तीति कृष्णोऽत्रमत्वर्थे अर्शादित्वादच प्रत्ययो ज्ञेयः कृष्णःकोऽर्थः कृष्णावेशयुक्तो भगवानक्षरः शरदिकुसुमिताः द्रुमाः यासु ता अतः सुखं ददातीति ताः रात्रीर्विलोक्यवीक्ष्य ननु रात्रीरित्यत्र बहुवचनोक्तिः किमर्थेतिचेच्छृणु ब्रह्मरात्रेरपारत्वादिति गृहाण यद्यप्यत्रकेचित्षाण्णमासिकीरात्र्यभि-

—: भावार्थ :—

ऐश्वर्य अक्षर ब्रह्ममेंही देखे गए हैं। यथाः–तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति [मु० उ०२–१–१] इत्यादि श्रुति और "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि वेदान्तसूत्र अक्षरसेही जगतकी उत्पत्ति प्रलय आदिका प्रतिपादन करते हैं अतएव भगवान् नाम अक्षर ब्रह्मकाही मानना उचित है। अथवा भगवान् शब्द विशेष्य और कृष्ण शब्द विशेषण है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि भागवतमें शुकदेवजीने भी भगवान शब्दको विशेष्यही माना है। यथा––भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः (भा० १०–२९–१) देखो ! यहांपर भगवान् शब्दको विशेष्य माना गया है। कदाच दो चार अन्य शब्द होते तबतो भगवान शब्दको उनका विशेषण भी बना दिया जाता परन्तु जब अन्य शब्द हैं ही नहीं तबतो इसे विशेष्य माने बिना छुटकारा नहीं। प्रश्न––यदि भगवान् शब्दको यहांपर कृष्ण परमात्माका वाचक न मान कर केवल विशेष्यमात्र मानोगे तब तो रासमें अक्षरातीत कृष्णका होना सिद्ध न होगा क्योंकि उपरोक्त भागवतके श्लोकमें भगवान् शब्दका प्रयोग हुआ है और भगवान् शब्दसे आप मात्र अक्षरब्रह्मका ग्रहण

प्रायेण श्रीशुकोक्तबहुवचनानुवादं कुर्वन्ति तदसत्–असंख्यात ब्रह्मरात्रिसंख्यया अगम्यत्वात् यथोक्तं सूर्य्यसिद्धान्ते ' चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहंभवेत् पितामहसहस्राणि विष्णोश्चघटिकास्मृता ॥ विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धंरौद्रमुच्यते रुद्रस्यार्बुदसंख्यानां ततो ब्रह्माक्षरं भवेदिति एतदेव सप्तमतरङ्गे मूलतः प्रपंचयिष्यते ॥ १५ ॥

—ः भावार्थ :—

करते हो, न कि अक्षरातीतका । तब अक्षरातीतका रासमें होना कैसे माना जाय ? । उत्तर—देखो जी ! अपि शब्दसे अक्षरातीत कृष्णका होना सिद्ध होता है अन्यथा अपि शब्दका ग्रहण क्यों करते। क्योंकि अपि शब्द सदा अन्यके होनेकाही संकेत करता है । जैसे किसी कथामें देवदत्तका वृत्तान्त प्रकरणसे चला आता हो और उसी प्रकरणमें–' कह दिया जाय कि " यज्ञदतोऽप्यासीत् " यज्ञदत्त भी उपस्थित था " तो इसपरसे यही निश्चित होता है कि अमुक स्थानपर देवदत्त तो थाही किंतु यज्ञदत्त भी था । इसी प्रकार भागवतके दशमस्कन्धमें कृष्णलीलाका प्रकरण तो चलही रहा है अतः कृष्णका होना तो प्रकरणसे सिद्धही था किन्तु ' भगवानपि ' इसमें भगवान् शब्दके साथ प्रयुक्त अपि शब्दसे यही ज्ञात हुआ कि दोनों ही स्वरूप प्रधान हैं (मूलग्राममें अक्षरभगवान्ने किशोरलीला देखनेकी इच्छा की थी अतएव रासलीलामें अपनी इच्छा पूर्ण करनेके लिये रमनेकी इच्छा प्रगट की, ऐसा भगवान् शब्दसे सूचित किया गया है अन्यथा कृष्णके साथमें अक्षरकी आत्मातो थीही पुनः पृथक् कहनेकी क्या आवश्यकता ?) मूल श्लोकमें प्रयुक्त, कृष्ण शब्द भी भावसूचक है यथा—" कर्षति स्वप्रियागणान्संसार सागराद्योऽसौ यद्वा कृष्णावेशयुक्तः कृष्णः " कैसे कृष्ण हैं—अपने प्रिय जनोंको संसाररूप सागरसे उद्धार करनेवाले अथवा कृष्ण परमात्माके

—: भावार्थः —

आवेशयुक्त कृष्ण हैं; ऐसा समझना चाहिये। प्रश्न—"एकदा भगवान्कृष्णः" इसमें आवेश शब्द तो कहा नहीं किन्तु केवल कृष्ण शब्द कहा है तब आप आवेश शब्दकी योजना किसप्रकार करते हो? उत्तर—देखो जी! मूलमें आवेश शब्दका प्रयोग नहीं किया गया तथापि लक्षणासे 'आवेश' शब्द मानलिया जाता है। किसी अर्थमें प्रयुक्त शब्दसे जहांपर उस अर्थकी योग्य प्रतीति नहीं होती हो तो वहां पर लक्षणासे शक्य-अभिप्रेत—अर्थकी उपस्थिति करलेनी चाहिये, ऐसा शास्त्रकारोंका मत है। यथा-"लक्षणा शक्य सम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः (न्यायमुक्तावली) अर्थः—जहांपर वाक्यार्थके तात्पर्यकी सम्यग् उपलब्धि नहीं होती वहांपर शक्य सम्बन्धरूपा-अभिधेयशक्तिरूपा लक्षणासे वाक्यार्थ ज्ञात होता है अर्थात् उपस्थित करलिया जाता है। जिस शब्दके उच्चारणसे जिस अर्थका ग्रहण होता है उसे शक्य कहते हैं। "जहत, अजहत् और जहदजहत्" इसप्रकार लक्षणाके तीन + भेद होते हैं। यहांपर 'कृष्ण' इस शब्दमें जहल्लक्षणावृत्ति मानी गई है। इसलिये-'कृष्णः कोऽर्थः-तदावेशस्तद्वान् भगवान् इत्यर्थः।

टिप्पणी

+ लक्षणाके लक्षण भिन्न २ प्रकारसे पाये जाते हैं अतः यहां पर उसके भावको लेकर बताया जाता है। लक्षणावृत्ति तीन प्रकारकी होती है। जैसे (१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा। (१) स्वार्थको छोड़कर अपने सम्बन्धी अर्थान्तरका बोध करनेवाली शब्दशक्तिको 'जहल्लक्षणा' कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि "गङ्गायां घोषः" गङ्गामें घोष-ग्राम है। इस वाक्यसे गङ्गामें गामका होना दिखाया गया परन्तु गंगामें गाम हो नहीं सकता क्योंकि 'गंगा' पानीकी अविच्छिन्न धारको कहते हैं और पानीमें गाम कैसे

—: भावार्थ :—

कृष्णका अर्थ कृष्णावेश है। और वह आवेश भगवानमें होनेसे आवेश विशिष्ट भगवान् शब्द माना गया है। इसलिये अक्षरातीतके आवेशयुक्त भगवानने रास रमनेकी इच्छा की, यही माना जायगा। प्रश्न—मूलश्लोकमें जो ' रात्रीः ' शब्द आया है उसमें बहुवचन किसलिये प्रयुक्त किया गया है? क्योंकि रासरात्रि तो एकही थी, बहुत कहनेका अभिप्राय क्या है? । उत्तर—देखो जी! रात्रि तीन हैं। जैसे कालरात्रि, मोह रात्रि और ब्रह्मरात्रि। इसमें पहले जो कालरात्रि थी उसका तिरोभाव होकर ब्रह्मरात्रिका प्रादुर्भाव हुआ है और ब्रह्मरात्रिके कालकी संख्या

टिप्पणी.

होगा? इस प्रकार गंगामें घोषकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिये गंगा शब्दकी गंगातटमें लक्षणा मानली जाती है और गंगाका अर्थ गंगातट हो जाता है अर्थात् गंगामें नहीं किन्तु गंगातटमें ग्राम है ऐसा अर्थ होता है। (२) स्वार्थका बोध करती हुई तत्सम्बन्धी अन्यार्थका भी बोध करनेवाली शब्दशक्तिको ' अजहल्लक्षणा ' कहते हैं। जैसे किसीने कहाकि-" काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् " कौवोंसे दहीकी रक्षा करो ' यहांपर कहनेवालेका अभिप्राय तो यह है कि दहीको कोई भी खाने न पावे, किन्तु बोलनेमें केवल काक शब्द आया है अतएव काकपदकी लक्षणा करली जाती है अर्थात् काक शब्दसे यहांपर जितने भी दहीको विगाड़नेवाले हैं उन सबको समझना, ऐसा मानलिया जाता है। इसका नाम अजहल्लक्षणा है क्योंकि इस वाक्यने अपने ' कौवा ' अर्थको भी नहीं छोड़ा और कौवासे भिन्न अन्य अर्थको भी उपस्थित कर दिया है। (३) जिस वाक्यमें एक अंशका त्याग किया जाय और अन्य अंशका ग्रहण किया जाय उसे जहदजहल्लक्षणा कहते हैं, वेदान्ती लोग इसीको भागत्याग लक्षणा कहते हैं। जैसे किसीने कहाकि " सोऽयं देवदत्तः " यह वही देवदत्त है। यहांपर ' तत् ' शब्दके परोक्षांशको छोड़कर ' इदम् ' शब्दके अपरोक्ष अंशका ग्रहण किया गया

—: भावार्थ :—

करना असम्भव है क्योकि ब्रह्मरात्रिके अन्तर्गत शिव, ब्रह्मा आदिकी अनेक रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं अनन्त रात्रियोंकी संख्या सूचित करनेकेलिये यहांपर रात्रि शब्दको बहुवचन किया है। शङ्का—कोई २ कहते हैं कि छः महीनाकी रासरात्रि रची गई थी इसलिये शुकदेवजीने पञ्चाध्यायीमें रात्रि शब्दको बहुवचनान्त किया है और आप उसे ब्रह्मरात्रि बताते हो, तब कौनसी बात सत्य मानी जाय ? । समाधान—देखो जी ! शुकदेवजीने स्वयं ब्रह्मरात्रिका वर्णन किया है। यथा—ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः [भा० १०-३३-३९] इत्यादिमें ब्रह्मरात्रिके

टिप्पणी.

है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंमें वाच्यार्थके एक अंशका त्याग और अन्यांशका ग्रहणकर एकवाक्यता की जाती है। काव्यप्रकाशादि ग्रन्थकारोंने लक्षणाके और भी भेद माने हैं जैसे कि सारोपा, साध्यवसाना, गौणी, शुद्धा, उपादान, आदि छः प्रकारकी होती है और गूढ़ अगूढ भेदसे उसके औरभी भेद हो जाते हैं। काव्य-प्रकाशके मतसे लक्षणाके हेतु भी भिन्न हैं यथा-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥

[का० प्र० २-९]

अर्थः- इसमें लक्षणाके चार हेतु बताए हैं (१) मुख्यार्थके बाधसे (२) मुख्यार्थके योगसे (३) रूढ़ि, और ४ प्रयोजनसे जहांपर अर्थ लक्षित होवे उसे लक्षणा कहते हैं। मुख्यतया शब्दार्थकी तीन वृत्ति होती हैं (१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यंजना। किसी २ के मतसे चौथी तात्पर्यवृत्ति भी होती है। परन्तु व्यवहाररूपमें

—: भावार्थ :—

नासका स्पष्ट उल्लेख किया है, अतएव उसे छः मासकी रात्रि नहीं कह सकते । दूसरी बात—ब्रह्मरात्रिकी संख्याका नियम भी नहीं बाँधा गया किन्तु उसे तो अपार बताया गया है । सूर्यसिद्धान्तमें लिखा है कि—

चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत् ।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका स्मृता ॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते ।
रुद्रस्यार्बुदसंख्यानां ततो ब्रह्मात्परं भवेत् ॥

अर्थः—कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि, ये चारो युग सहस्रबार

टिप्पणी

मुख्यतः उपरोक्त तीनही वृत्तियोंसे वाक्यार्थका बोध हुआ करता है । चौथी तात्पर्यवृत्तिको तो किसी कीसीनेही माना है, सबने नहीं । यथा-

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।
वाच्यादय स्तदर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥

अर्थः—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक भेदसे शब्द तीन प्रकारके होते हैं और वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य क्रमसे तीनोंके अर्थ होते हैं । परन्तु किसी किसी आचार्यका मत है कि तात्पर्यार्थ चौथा पदार्थ भी है । यद्यपि वे तात्पर्यको किसी शब्दका अर्थ नहीं मानते परन्तु उनका कहना है कि किसी २ स्थलमें आकांक्षा, सन्निधि और योग्यताके वश होकर एक प्रकारका विलक्षणही अर्थ उपस्थित हो जाता है और उसका समावेश उपरोक्त वाचक आदिमें नहीं हो सकता इस लिये शब्दका विशेष अर्थ 'तात्पर्य' भी मान लेना चाहिये । शब्दकी मुख्य शक्ति अभिधा है इसीको वाच्यार्थ भी कहते हैं । जहांपर अभिधाशक्तिसे शब्दार्थकी यथार्थ उपस्थिति नहीं होती वहींपर लक्षणा और व्यंजना आदि वृत्तिसे अर्थ उपस्थित किया जाता है; सर्वत्र नहीं ।

—ः भावार्थः —

व्यतीत हो जावें तब ब्रह्माजीका एक दिवस होता है और ब्रह्माके इस दिनकी संख्यासे जब कृतादि चारो युग सहस्रबार व्यतीत हो जावें तब विष्णुजीकी एक घटिका होती है। इसीप्रकार विष्णुजीकी दिवस संख्यासे द्वादश लाख युग व्यतीत हो जावें तब रुद्रकी आधी कला होती है। इसीप्रकार रुद्रकी दिन संख्यासे जब कृतयुग, त्रेता, द्वापर कलियुग ये चारो दश करोड़बार व्यतीत होवें तब ब्रह्म अर्थात् सबलब्रह्मके एक अक्षरका उच्चारणमात्र काल होता है। अब विचार करनेकी जरूरत है कि मनुष्यसे लेकर सबलब्रह्म पर्यंत तो दिवस संख्या बाँधी गई है और सबलब्रह्म अक्षरका एक स्वभाव है। उसके पर केवलब्रह्म है जिसके दिवसकी संख्या नहीं कही और उसके पर जब अक्षर ब्रह्मके दिनकीही संख्या अगम्य है तब अक्षरातीत पूर्णब्रह्मके दिनकी संख्या कौन कह सकता है?। इसलिये ब्रह्मरात्रिको अपार कहनाही अच्छा है। छः मास आदिका नियम कहना संगत नहीं ॥ १५ ॥

योगमायामाश्रितोऽभूत्स्वशक्तिं सदसद्युताम्।
पट्वीं सर्वेषु कार्य्येषु स्वप्नबोधात्मिकां पराम् ॥१६

गू०—इदानीं योगमाया स्वरूपं दर्शयति सार्द्धेन योगमायेति भगवान् योगमायामुपाश्रितोऽभूत् योगः संयोगः तदर्थं माया योग-माया तां किंविधां सदसद्युतां विद्याऽविद्याशक्तियुतां पुनः किंविधां स्वस्यद्रष्टुरक्षरस्यशक्तिः तां पुनः किंविधां सर्वेषुकार्येषु पट्वीं समर्थां वियोगदशायां संयोगादिकार्येषुक्षमामित्यर्थः। पुनः किं विधां स्वप्नो बोधोवात्मनि यस्यास्तां पुनः किं विधां परामुत्कृष्टां तथोक्तं तृतीय-स्कन्धे "सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका मायानाममहा-

भाग ययेदं निर्ममेविभूरिति "। पुराणसंहितायां " त्रिभागशेषानिद्रा च भागशेषा च जागृतिरिति' योगमायाया लक्षणमुक्तं। तदनुसारेण स्वप्नबोधात्मिकामिति विशेषणं सूपपन्नं । सुप्तशक्तिरसुप्तदृगिति भागवतस्थ मप्यत्र संगच्छते यद्वियोगे योगसंपन्नात्वं योगमायालक्षणं पुनरर्द्धेनोच्यते स च स्पष्टीकरणार्थमेवानुवादो बोध्यः। तदुक्तं पुराणसंहितायां "वियोगे योगसामर्थ्यं योगमायेतितां विदुरिति १६

भा०—शरत्पूर्णिमाकी विकशित रात्रिमें रास रमनेकी इच्छासे श्री कृष्णजीने सदसदात्मिका योगमायाका आश्रय लिया अर्थात् अपनी योगमाया शक्तिका प्रादुर्भाव किया । जिसनें अपनी अघटित घटना-पटीयसी शक्तिसे तत्काल योगमायामय रासमण्डल सम्पन्न कर दिया। यहीबात भागवत [३-५-२५] में लिखी है—

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
मायानाम महाभाग! ययेदं निर्ममे विभुः ॥

अर्थः--सद् असद् आत्मिका माया नामक अन्तरकी शक्तिने इस मण्डलकी रचना की । सद्—विद्या, असत् अविद्यायुक्त होनेसे इसका नाम योगमाया है। वियोगदलमें संयोग सम्पादन करनेवाली यह स्वप्न-जाग्रद्मय परा शक्ति हैं। इस विषयमें पुराणसंहितामें लिखा है कि—"त्रिभागशेषा निद्रा च भागशेषा च जागृतिः" अर्थात् तीनभाग निद्रा और एकभाग जाग्रदवस्था होनेसे इसे स्वप्नजाग्रद्मय कहा है। इसके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं। कालमाया और योगमायामें इतना अन्तर है। कालमाया तो कालानुसारही जगतकी रचना कर सकती है किन्तु यह नियम योगमायाकेलिये नहीं, वह तो तत्काल जगतको रचकर नष्ट कर सकती है । जहांपर जो सामग्री नहीं है, वहांपर उसका योग तत्काल करदेती है। पुराणसंहितामें लिखा है " वियोगे योग सामर्थ्य

योगमायेति + तां विदुः" जहांपर किसी प्रकारकी सामग्रीका ठिकाना नहीं हो वहांपर भी लीलामात्रसे सबकुछ एकत्रित कर देना यही तो योगमायाका मुख्य काम है।

वियोगे योगसंपन्ना योगमायेति रूप्यते।
अथवृन्दावनं रम्यं लतातरुनिषेवितम् ॥ १७
चाऽखण्डमण्डलं चन्द्रं शारदं श्रीमुखप्रभम्।
निरीक्ष्य रसिकः श्यामो वंशीनादं चकारह ॥ १८

गू०—अथेत्यनन्तरं योगमायाश्रयणानन्तरं वृन्दावनं शारदं चन्द्रं च निरीक्ष्य रसंजानातीति यद्वारसोऽस्त्यस्मिन्वा रसिकोऽक्षरः भवतिहि रसोऽक्षरातीतः 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवतीति-श्रुतेः॥ तज्ज्ञाता तदावेशत्वान्नक्षरस्तु रसिकः श्यायतेगच्छति सर्वदा-

भा०—योगमायाके आश्रित होनेके अनन्तर रसिक श्यामने नाना लता वृक्षादिसे सुशोभित रमणीय वृन्दावन तथा लक्ष्मीके मुखके समान, शरद कालके निर्मल चन्द्रमाको देखकर बंशीको बजाया। वह वृन्दावन कैसा था कि अखण्ड अर्थात् जिसमें जन्म मरण आदि माया-

---

टिप्पणी

+ विद्वानोंने योगमायाके अनेक शब्दार्थ किये हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उन सबका अन्तिम निष्कर्ष-निचोड़ उपरोक्त पुराणसंहिताके वचनसे पृथक् नहीं हो सकता। (क) सनातन जीवगोस्वामी अपनी बृहत्तोषिणी नामक भागवतकी टीकामें योगमायाके चार अर्थ करते हैं। यथा—"योगमाया पराख्यसच्चिदानन्दशक्ति विशेषः तामुपकरणत्वेन-आश्रितः-प्रकटितवान् सन्" इति। योगमाया पराख्य-सच्चिदानन्दपरमात्माकी एक शक्ति विशेष है। अथवा योग-ऐश्वर्य तद्युक्ता

ऽखण्डानन्देन योऽसौ श्यामः श्यैङ्गतावस्माद्धातोरुणादितो 'म' प्रत्यय इति वंशीनादं चकार हर्षेणेत्यन्वयः। अखण्डमण्डलमिति चन्द्रविशेषणमपि युक्तं चन्द्रस्याक्षतमण्डलत्वादित्येके वदन्ति तन्न पूर्णिमायाः चन्द्रेऽक्षतमण्डलस्य सर्वदैव सत्वादत अखण्डं अण्डलश्चैतद्विशेषणद्वयं-वृन्दावनस्येतिबोध्यम्। कीदृशंवृन्दावनं अखंडं अविनाशि नित्यमित्यर्थः। नच नित्यत्वे किं प्रमाणमितिचेच्छृणु। अभिहितं बाराह संहितायां। "श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्दरसात्मकं चिन्तामणिमयीभूमि सुधावारिप्रपूरितं। वृक्षाः सुरद्रुमा यत्र सुरभीवृन्द सेविताः

—: भावार्थ :—

जन्य विकार नही थे। एवं अखण्डल [अखण्डंलुनाति] अर्थात् कालमायाके ब्रह्माण्डको नाश करनेवाला था क्योंकि योगमायामय मण्डलके उदय होतेही सब जगत तिरोहित हो गया था। प्रश्न—वृन्दावनके अखण्ड होनेका प्रमाण क्या है ?। उत्तर-देखो जी ! बाराह संहितामें वृन्दावनको अखण्ड बताया है । यथा—

श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्द-रसात्मकम्।
चिन्तामणिमयीभूमि सुधावारि-प्रपूरितम्॥

टिप्पणी.

माया-दया "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वकोशः। तामुपाश्रितः उपाधित्वेन प्राप्तः सन् रासक्रीडया स्वस्यैश्वर्यं कृपां च विस्तारितवानित्यर्थः। योग नाम कृष्ण परमात्माके ऐश्वर्यका है तद्युक्त-माया अर्थात् कृपा क्योंकि विश्वकोशमें 'मायादम्भेकृपायांच' मायाका कृपा अर्थ किया है। अपने ऐश्वर्य और दयाको रासक्रीड़ाद्वारा विस्तारित किया अर्थात् अपने ऐश्वर्यकी उपाधिं धारणकर उसका आनन्द गोपीजनोंको दिखाया" यद्वा-"योगाय सम्भोगाय मायः शब्दो मानं वा यस्याः सा योगमाया-वंशी पर्य्याप्तिर्वा "माङ्माने शब्दे च" इत्यस्य घञिरूपं तामुपाश्रितः। यद्वा योगस्य

अशोकं दु खविच्छेदि जरामरण वर्ज्जितमिति " पुनः नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरिसंस्थितमिति । पुनः कीदृशं अण्डलं अण्डंब्रह्माण्डं अक्षरस्वप्नोद्भूतं ब्रह्मादिकीटपर्य्यन्तमित्यर्थः लुनाति छिनत्तीति अण्डलंयद्वाण्डोलीयतेलीनो भवति यस्मिन्नुदितेते तत् यद्वाण्डं लातिगृह्णाति सूर्य्योजलमिति यद्वा अण्डं लातिर्य्रति खंडयतीति लाधातोर्दानार्थकत्वाद्दानस्य खण्डनार्थत्वादपीति युक्तमेतत् । दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखंडमंडलं रमाननाभं नव कुंकुमारुणमिति भागवतस्थव्याख्या

—: भावार्थ :—

वृक्षाः सुरद्रुमा यत्र सुरभीवृन्द सेविताः ।
अशोकं दुःखविच्छेदि जरामरण–वर्जितम् ॥

अर्थः—रमणीय वृन्दावन पूर्णानन्द रसात्मक है जिसकी भूमिका चिन्तामणिमय है । चिन्तवनमात्रसे जो सब कामना पूर्णकरनेवाली हो उसे चिन्तामणि कहते हैं । अमृतरूपी सुन्दर जलसे परिपूरित नित्य वृन्दावन है । जहांपर नाना सुगन्धयुक्त उत्तम वृक्ष हैं । शोकरहित और दुखोंका विच्छेदन करनेवाला वह वृन्दावन नित्यही जरा मरण

टिप्पणी.

सम्भोगस्य मा लक्ष्मीः सम्पत्तिरिति यावत् तां याति प्राप्नोति योगमाया श्री राधैव तां मनसा उपाश्रितः । अर्थः—अथवा-योग जो आनन्द विहार है उसकेलिये माय [शब्द या मान] है जिसका ऐसी वंशीही योगमाया है या तो आनन्दविहारकी पर्याप्तिका नाम माया है क्योंकि "माङ्माने शब्दे च" इस धातुसे माया शब्द सिद्ध होता है । उसी मायावंशीका आश्रय लेकर रास किया है अतः योगमायामुपाश्रित'का अर्थ बंशी आश्रित होगा । यातो योगविहारकेलिये जो सम्पति है उसको प्राप्त हुए थे इसलिये योगमाया नाम विहारकी सामग्री है और विहारकी सामग्री एक प्रकारसे राधिकाजीही थी इसलिये वंशीनादद्वारा उन्हीका आश्रय किया था " इस प्रकार लिखा है ।

अण्डंलुनाति छित्वेति विद्धद्दमनभेदेनापिकृतेति कथंकारंब्रह्माण्ड-छेदनं संभवतीति चेत्सत्यं कालमायाकृतब्रह्माण्डस्य योगमायामयब्र-ह्मांडान्तरोदये सति विनाशः संभवत्येव सूर्य्योदये तिमिरस्येव । स्व-प्नावस्थायां दृश्यमानः प्रपंचः जाग्रदवस्थायां तुर्य्यायां वा विनश्य-तीति लोकसिद्धमेवत् । अत्रद्रष्टाक्षरः कालमायामयं ब्रह्मांडं स्वप्नद्वा-रापश्यन्नेदानीं जागृत्स्वप्नेन योगमायामयं ब्रह्मांडान्तरं वृन्दावनं

—: भावार्थ :—

आदि भौतिक विकारोंसे वर्जित है । कृष्णयामल ग्रन्थमें महादेवजीने भी पार्वतीके प्रति बृन्दावनका वर्णन करते हुए उसे नित्य बताया है यथा——

स्थानं नित्यविहारस्य ख्यातं वृंदावनं वनम् ।
यत्र नित्यं विहरति कृष्णो राधिकया सह ॥

अर्थः——श्रीकृष्णके नित्य विहारका स्थान वृन्दावन है जहांपर राधिका सहित कृष्ण सदा विहार करते हैं इत्यादि अनेक प्रमाणोंनें वृन्दाव-नको नित्य वर्णन किया है । प्रश्न—यदि अखण्ड मण्डलको एकपद मानकर चन्द्रमाका विशेषण मानलिया जाय और अखण्ड अर्थात् अक्षत

टिप्पणी.

(ख) जीवगोस्वामी वैष्णवतोषिणी नामक अपनी भागवतटीकामें योगमायाके विषयमें लिखते हैं—योगमाया-पराख्याचिन्त्यशक्तिः तामुप सामीप्येनाश्रितः यत्र यत्र विहरति तत्र तत्रैव तां-सूर्यः स्वदीधितिमिव सदा प्राप्त इति यद्वा श्लेषेण—योगः संयोगः तदर्थं माया कृपा " माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वः । तामुप-आधिक्येनाश्रितः । " अर्थः-योग-माया पराख्याचिन्त्य शक्ति है उसे सामीप्यसे आश्रय किया है अर्थात् जहां २ विहार करते हैं तहां तहां, सूर्यकी किरण जैसे सूर्यका सहयोग नहीं छोड़ती—उसी प्रकार योगमाया सर्वत्र कृष्णके साथ प्रकाशित हो

पश्यतिस्मेति । उक्तं चैतत्तृतीयस्कन्धे भागवते "अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिता इत्युपक्रम्य एष एव तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् मेनेसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृगिति अस्यार्थः एकराट्-एषो द्रष्टाक्षरः तदा योगमायोदये दृश्यं स्वप्नोद्भवं ब्रह्माण्डं नापश्यत् अतः आत्मानं सन्तं समाधिस्थं तुर्यावस्थापन्नमिव मेनेऽमन्यतेत्यर्थः कीदृशोऽक्षरः सुप्ताः शक्तय इन्द्रियशक्तयो यस्य सः सुप्तशक्तिः ब्रह्मध्यानावसरे योगिनां यथेन्द्रियशक्तयः सुप्ता इव निश्चलाभवन्ति तथे-

—: भावार्थ :—

है मण्डल जिस चन्द्रका, ऐसा अर्थ करें तो क्या हानि होगी? क्योंकि भागवतमें अखण्डपदको चन्द्रमाकाही विशेषण लगाया है । उत्तर—देखो जी! पूर्णमासीका चन्द्रमा तो स्वतः अक्षत मण्डलवाला होताही है पुनः उसे अखण्ड कहनेकी क्या आवश्यकता अतएव अखण्डमण्डल पदको चन्द्रमण्डलका विशेषण कहना युक्त नहीं । प्रश्न—आपने अण्डल पदका अर्थ ब्रह्माण्डके नाशपरक किया है और रासके समयमें प्रलय होना किसीने नहीं लिखा, तब आपका कहना किस प्रकार मान्य समझा जावे? । उत्तर—देखोजी! जैसे सूर्यके उदय होतेही अन्धकारका नाश स्वतः हो जाता है और जैसे स्वप्नमें देखे हुए प्रपंचका जाग्रत् वा तुर्यावस्थामें,

---

टिप्पणी

रही है । अथवा श्लेषार्थ करें तो योग—संयोग तदर्थ जो कृपा अर्थात् रासमें एकत्रित होनेकेलिये जो कृपा की थी वही योगमाया है, [विना कृष्ण कृपाके योगमाया कैसी ?]

(ग) विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी योगमायाका उपरोक्त अर्थ किया है यथा—" योगमायां—स्वीयाचिन्त्य—चिच्छक्तिवृत्तिम् उप— आधिक्येन आश्रितः " अपनी अचिन्त्य चित् शक्ति वृत्तिकोही अधिकतया आश्रय किया अर्थात् अपनी अचिन्त्यशक्तिसे योगमायाका मण्डलरच रास किया ।"

ति बोध्यम् । पुनः सुप्तंदग्ज्ञानं यस्यसः असुप्तदग्लुप्तज्ञान इत्यर्थः । अथ च दृश्यं नापश्यदित्यनेन कालमायामयब्रह्माण्डस्याभावो ध्वन्यते योगमायोदये सतीति समंजसं, ' मेनेसन्तमिवात्मानमित्यनेन योगिनामिव समाध्यावस्था तुर्यावस्था ध्वन्यते सैव सुप्तशक्तिरसुप्तदृगित्याभ्यां विशदीकृतेति ज्ञेयं । अतो युक्तमण्डलं वृन्दावनस्य विशेषणमिति । नचास्मिन्ब्रह्मांडे वृन्दावनमिति शंक्यं तस्य ब्रह्मांड-

—: भावार्थः —

तिरोभाव हो जाता हैं । उसी प्रकार योगमायामय वृन्दावनके उदय होतेही कालमायामय जगतका तिरोधान हो गया था । स्वप्नद्रष्टा अक्षर प्रथम जिस स्वप्नरूप जगतको देखते थे योगमायाके आश्रित होतेही अखण्ड वृन्दावनको देखने लगे इसलिये यह दृश्य जगत तिरोहित हो गया था । भागवतके तृतीय स्कन्ध (भा० ३-५-२४) में इसका संकेतरूपसे वर्णन किया है । यथा—

एष एव तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् ।
मेने सन्तमिवात्मानं सुप्तशक्ति रसुप्तदृक् ॥

अर्थः—जब इस द्रष्टा अक्षर पुरुषने समाधिस्थकी भांति अपनेको माना तब इस दृश्य जगतको न देखा । वह द्रष्टा कैसा है कि सोती

टिप्पणी.

शुकदेवजीने सिद्धान्तप्रदीप नामकी भागवत टीकामें मायाका निम्नप्रकारसे अर्थ किया है । यथा—योगो गोपीनां राससुख-प्रापणं तस्मै या माया दया तामुपाश्रितः । यद्वा, अखण्डित ब्रह्मचर्यो वैराग्यवानपि गोपीष्टयोगाय मायां-कपटमाश्रितः " अर्थात् योग नाम गोपियोंकेलिये रासद्वारा सुख पहुंचानेका है, उसके लिये जो माया (दया) उसे योगमाया कहा जाता है अथवा अखण्डित ब्रह्मचर्य-वैराग्यवान होते हुए भी गोपियोंके इष्ट-

बाह्यत्वकथनात् तथोक्तं 'वृन्दावनं महत्पुण्यं सर्वपावनपावनं सर्वलोक-वहिर्भूतं निराधारं परिस्फुरदिति" नित्यंवृन्दावनं नाम ब्रह्मांडो-परिसंस्थितमिति च ' नच पञ्चतत्त्वाद्यभावे तत्कियन्मयमित्याशंक्यं चिन्तामणिमयीभूमि सुधावारिप्रपूरितमिति प्रमाणेन चिन्तामय-भूमिकाभिधानात् । ननु ब्रह्मणोपरिसंस्थित्वकथनात्तस्य ब्रह्मांडबा-ह्यत्वं सिद्धं अस्तु तावत्कारणात्प्रकृतेरर्वाक्त्वं प्रकृतेरर्वाक्स्थितत्वे-तस्याऽऽनित्यत्वञ्चेति चेन्न श्रुत्वैतदर्शयामास 'स्वंलोकं प्रकृतेः

—: भावार्थ :—

है इंद्रियोंकी शक्ति जिसकी और असुप्त है दृक् (ज्ञान) जिसका । अर्थात् जैसे समाधि अवस्थामें योगीजनोंकी इंद्रियशक्ति निश्चल रहती है और ज्ञानशक्ति असुप्त रहकर परमेश्वरकी ओर लगी हुई अपना कार्य किया करती है । उसी प्रकार अक्षरब्रह्म जगत रचनाकी ओर सुप्तशक्ति और योगमायाके मण्डलकी ओर असुप्तदृग् थे । पुराणसंहितामें इस विषयको पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है । यथा—

योगशक्तिस्तथोद्भूता भगवत्यखिलात्मनि ।
पिबन्ती विश्वमखिलं मण्डलं समरीरचत् [अ० २८-५१]
ग्रस्तः प्रपञ्चो निःशेषः कालशक्ति विनिर्मितः ।
योगशक्त्या तदा मोहमृते शिष्टं न किंचन [अ० २९-४५]

टिप्पणी.

योगके लिये माया नाम कपटका आश्रय लिया था ऐसा मानना चाहिये । इस लिये उसे योगमाया कहा गया है । " दूसरे टीकाकारोंने भी इसी प्रकार योगमायाके कई अर्थ किये हैं । तथापि रासलीलाके समय कृष्णने एक विलक्षण शक्तिद्वारा रासमण्डलकी रचनाकर रास किया है " इसे तो लगभग सभीने स्वीकार्य माना है । श्रीरामनारायण टीकाकारने योग-

परमिति बृहद्वामने प्रकृतिपरत्वाभिधानात् गुणातीतं तु तद्धामेति-स्मृत्यन्तराभिधानाद्। नच निराधारश्चैतत्कथं तिष्ठतीति वाच्यं निःशेष-शक्तिमतो ब्रह्मण आज्ञयैव स्थितत्वात्, दृश्यमान ब्रह्माण्डस्थितिवत् कीदृशंचन्द्रं श्रीमुखप्रभं श्रियः रमाया मुखस्यप्रभा इवप्रभा यस्य तं रमा-मुखसादृश्योक्त्या चन्द्रस्याप्युत्कर्षताभिहिता अलौकिकमित्यर्थः ॥ १८

—: भावार्थ :—

अर्थः—अखिलात्मा भगवानमें इस प्रकारकी योगशक्ति प्रगट हुई कि जिसनें सम्पूर्ण विश्वका पानकर योगमायाके मंडलकी रचना की। जिस समय योगशक्तिद्वारा कालशक्ति निर्मित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका ग्रास करलिया गया तब मोहके अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रहा" इत्यादि प्रमाणोंसे योगमायामय मण्डलके उदय होनेपर स्वप्नमय दृश्य जगतका नाश होना स्पष्ट सिद्ध होता है। शङ्का—आपने भागवतका जो श्लोक दिया है वह जगतकी उत्पत्ति विषयका है और आप उसे योगमाया परक लगाते हो तब तो विरोध होगा। समाधान—देखो जी!

टिप्पणी.

मायाके भिन्न २ अर्थ करते हुए अन्तमें योगमायाके स्थानमें 'अयोग-मायामुपाश्रितः' ऐसा अर्थ किया है। क्योंकि पूर्वमें चक्रे पद होनेसे अकारका प्रश्लेष हो सकता है। वे अपने इस अर्थकी पुष्टिमें लिखते हैं कि "न यत्र माया किमुतापरे" इत्यादिना मायाया अप्रवेशाद् भगवल्लीला-ऽऽविर्भाव तिरोभावादीनामपि स्वरूपात्मकत्वादयोगमायामुपाश्रितः" जिस वृन्दावनमें माया जाही नहीं सकती तब दूसरोंकी तो बातही क्या? इससे ज्ञात होता है कि वृन्दावनमें मायाका प्रवेश नहीं था किन्तु भगवानकी आविर्भाव तिरोभावात्मिका लीलाको स्वरूपात्मिका कह सकते हैं अतः "अ-योगमायाका आश्रय लिया" ऐसा कहना चाहिये।" इसप्रकार लिखा है। इन्होंने योगमाया पदमें माया शब्द देखकर यह समझा होगा कि

—: भावार्थ :—

यह श्लोक जगतरचाके प्रकरणका नहीं, किन्तु योगमायाके प्रकरणकाही है क्योंकि इसके पहले योगमायाकाही वर्णन किया है, नकि सृष्टिका, यथा—अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिता: [भा० ३-५-२२] अर्थ:—योगमायासे उपबृंहित (बढ़ी हुई) भगवानकी लीला तुमारे प्रति वर्णन करता हूं" इसप्रकार मैत्रेयजीने विदुरके प्रति, और शुकदेवजीने परीक्षितके प्रति कहा है। दूसरी बात—कालमायामय ब्रह्माण्डका वर्णन तो द्वितीय स्कन्धमें हो चुका है अतः तृतीयस्कन्धमें पुनः सृष्टिका वर्णन करना व्यर्थ हो जायगा। इससे स्पष्ट होता है कि पहले द्वितीय स्कन्धमें कालमायामय ब्रह्माण्डका वर्णन है और तदनन्तर तृतीयस्कन्धमें योगमायामय मण्डलका उदय और पूर्ववाले कालमायाके ब्रह्माण्डका नाश सूचित कर पुनः पूर्ववत् कालमायाके ब्रह्माण्डका होना बताया है। यथा—कालवृत्त्यातु मायायां गुणमय्यामधोक्षज: [भा० ३-५-२६] अर्थात् रासरात्रिके पश्चात् भगवानने पुनः कालवृत्तिसे गुणमयी मायामें जगतके वीर्यको स्थापित किया—अर्थात् जगत रचना की। इत्यादि अनेक

टिप्पणी.

अखण्ड वृन्दावनमें माया शब्दकोही न घुसने देना चाहिये, इसलिये तिरोभाव और आविर्भाव दोनों लीलायोंको भगवानकी स्वरूपात्मिका शक्ति बताकर " अयोगमायामुपाश्रित: " इस प्रकार लगा दिया। किन्तु फिर भी तिरोर्भाव और आविर्भाव दोनोंको तो मानही लिया। अर्थात् कालमायामय जगतका तिरोर्भाव और योगमायामय मण्डलका उदय होना, ये तो इन्हें भी स्वीकृत है परन्तु उसमें माया शब्द रखना इन्हें खटकता है इसलिये आप लिखते हैं कि " न यत्र माया किमुतापरे " वेसक, वहांपर माया नहीं थी, परन्तु उसके समझनेकी पद्धतिमें अन्तर है। योगयामाद्वारा रासरमण किया, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वहांपर

—: भावार्थ :—

प्रकारसे अखण्डल पदको वृन्दावन शब्दका विशेषण लगाना ही प्रमाण-सिद्ध विदित होता है । प्रश्न—वृन्दावन तो इस जगतके भीतर सुननेमें आता है और भागवत (१०-३३-१९) में भी इसी जगतमें बताया है यथा—

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचर स्त्रियः ।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥

अर्थात् कृष्णकी रासलीलाको देखकर आकाशचारियोंकी स्त्री मोहित हो गई और तारागण सहित चन्द्रमा भी विस्मित हो गया, ऐसा लिखा है और आप ब्रह्माण्डका नाश बताते हो तब नित्य वृन्दावन किस प्रकार शेष रहा होगा ? । उत्तर—देखोजी ! नित्य वृन्दावन इस जगतमें नहीं, किन्तु स्वप्नमय इस नश्वर ब्रह्माण्डसे पर नित्य निराधार वर्तमान है, ऐसा शास्त्रोंमें लिखा है । यथा—

टिप्पणी

माया थी । अखण्ड वृन्दावनमें मायाका होना हमें भी मान्य नहीं है और न वहांपर माया थी ही । परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उसे योगमायाने नहीं रचा । " योगमाया तो माया कही पर नेंक न माया इत " श्रीप्राणनाथ प्रभुजी कहते हैं कि योगमायाको तो माया भी कहते हैं परन्तु यहांपर-रासमण्डलमें तो मायाका लेश भी नहीं था । बात भी सत्य है । जहांपर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा रासलीला कर रहा हो, वहां पर माया किस प्रकार रह सकती है अर्थात् नहीं रह सकती । शङ्का—आपने योगमायाका लक्षण बताते हुए " त्रिभागशेषा निद्रा च भाग-शेषा च जागृतिः " तीनभाग शेष निद्रा और एकभाग शेष जाग्रति ' इस प्रकार पृष्ट (२२८) में लिखा है और अब कहते हो कि वहांपर मायाका लेश भी नहीं था; तब कौनसी बात सत्य मानी जाय ? । समाधान—

—: भावार्थ :—

नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरिसांस्थितम् ।
तत्र कैशोरवयसं नित्यमानन्द—विग्रहम् (वाराहसंहिता)

वृन्दावनं महापुण्यं सर्वपावन—पावनम् ।
सर्वलोकबहिर्भूतं निराधारं परिस्फुरत् ॥ (सनत्कुमारसंहिता)

अर्थः—नित्यवृन्दावन ब्रह्माण्डके ऊपर है, जहांपर किशोरावस्थायुक्त आनन्दस्वरूप कृष्ण राधिका तथा अन्य गोपीजन नित्य रास रमण किया करते हैं । वह वृन्दावन परमपावन और सम्पूर्ण लोकोंसे पर निराधार वर्तमान है, इसप्रकार वाराह संहिता और सनत्कुमार संहितामें लिखा है । इसलिये ज्ञात होता है कि अखण्ड वृन्दावन इस जगतसे पर नित्य निराधार वर्तमान है । प्रश्न—इस जगतमें मथुराके निकट जो वृन्दावन है वह नित्य है किंवा अनित्य ? । उत्तर—यह तो अनित्य है । क्योंकि इस विश्वके साथ उसका भी नाश हो जायगा; किन्तु नित्य वृन्दावनका प्रतिविम्ब होनेसे पूजनीय माना गया है । प्रश्न—नित्यवृन्दावनकी भूमिका किस प्रकारकी है ? । उत्तर—चिन्तामणिमयी है । चिन्ता नाम संकल्पका है ।

टिप्पणी

देखो जी ! "त्रिभाग शेषा" इत्यादिमें योगमायाके स्वरूपका वर्णन किया है कुछ रास मण्डलका नहीं । सर्वत्र स्वरूप और कार्यमें एकता नहीं हुआ करती । किसी स्थलमें तो स्वरूप और कार्य दोनों एकजात्यवच्छिन्न रहते हैं और किसी स्थलमें स्वरूप और कार्यमें भिन्नता रहती है । जैसे—दीपक स्वरूपसे स्थूल और पार्थिव पदार्थ है । उसके साधन भी पार्थिव हैं परन्तु उसका कार्य प्रकाशरूप है । दीपकके स्वरूप और कार्यमें स्पष्ट भेद देखनेमें आता है । इसी प्रकार योगमायाके स्वरूपको स्वप्नजाग्रन्मय वर्णन किया है, नकि उसके कार्यको । योगमायाका कार्य तो

—: भावार्थ :—

परमात्मा वा प्रियाजनोंके संकल्पमात्रसे जो मणि है वही चिंतामणि है। क्योंकि नित्य धाममें मुक्तजनोंके संकल्प मात्रसेही सब भोग्यवस्तु प्राप्त होतीं हैं। " सङ्कल्पादेवतच्छ्रुतेः (ब्रह्म सू० ४–४–८) इस सूत्रमें व्यासजीने श्रुतिका प्रमाण देकर वर्णन किया है कि, नित्य धाममें सब वस्तु संकल्पमात्रसे प्राप्त होती हैं। रुद्रयामलमें भी लिखा है कि—

यत्कुसुमं यदामृग्यं यत्फलञ्च वरानने।
तत्तदेव प्रसूयन्ते वृन्दावन सुरद्रुमाः॥

नित्य वृन्दावनके सुन्दर वृक्ष सब वस्तु सदाकाल प्रदान करते हैं। जो पुष्प और जो फल जिस वृक्षसे जब चाहिये प्राप्त होता है। जब वहांके वृक्षही कल्पना मात्रसे यावत् भोग्य वस्तु प्रदान करतें हैं तब वहांकी भूमिकाके विषयमें तो कहनाही क्या? क्योंकि वह तो चिन्तामणि-मयी है " चिन्तामणिमयीभूमि सुधावारि प्रपूरितम् " इत्यादि शतशः प्रमाण अमृतसे पूर्ण चिन्तामणिमयीभूमि होनेका प्रतिपादन करते हैं। प्रश्न—आप वृन्दावनको ब्रह्माण्डके ऊपर बताते हैं और ब्रह्माण्डके ऊपर प्रकृति भी है तब वृन्दावनको प्रकृतिके मध्यमें मानाजाय या प्रकृ-

---

टिप्पणी.

लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण विलक्षणही माना गयाहै। उसके विषयमें माहेश्वर-तन्त्रमें लिखा है कि—

बहिः प्रकाशं विच्छिद्य ह्यन्तराकाशते यथा।
योगमायेति विख्याता जाग्रत्स्वप्नमयीशितुः॥
योगमायामथो कृष्णः कालमायाविनाशिनीं।
प्रकाशा चाऽप्रकाशा च द्विधा सेयं व्यवस्थिता॥
दर्शनान्शे प्रकाशा दर्शयित्वाऽऽच्छादने तथा।

—: भावार्थ :—

तिसे पर ?। उत्तर—वृन्दावनको प्रकृतिसे पर मानना चाहिये क्योंकि बृहद्वामन पुराणमें वृन्दावनको प्रकृतिसे पर वर्णन किया है यथा—

श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वंलोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभावानन्दमात्र—मक्षर मध्यगम् ॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघो द्रुमाः ।
मनोरमणीय कुञ्जाढ्यं सर्वत्र सुखसंयुतम् ॥

भावार्थ—वेदोंके स्तुति करनेपर कृष्णने प्रसन्न होकर प्रकृतिसे पर अपने नित्य वृन्दावनका दर्शन कराया । जहां सुन्दर वन कामना पूर्ण करनेवाले वृक्ष तथा मनोरमणीय कुंज आदि थे । देखिये ! उपरोक्त वर्णनसे नित्य वृन्दावनका प्रकृतिसे पर होना सिद्ध होता है । प्रश्न—आप वृन्दावनको निराधार वर्णन करते हो और " निराधारं पारस्फुरत् " इत्यादि प्रमाण भी उसकी पुष्टिमें उपस्थित करते हो तो आधार बिना किस प्रकार स्थित माना जाय ? । उत्तर—देखोजी ! सर्वशक्तिमान परमात्माकी आज्ञासे स्थित रह सकता है । जिस प्रकार यह नश्वर जगत उसकी शक्तिसे निराधार स्थित है । उसी प्रकार नित्य वृन्दावन उसकी महिमामें निश्चल वर्तमान है, ऐसा मानना चाहिये ॥ १८ ॥

टिप्पणी.

अर्थः—बाह्य (स्थूल) जगतके प्रकाशको विच्छेदनकर अन्तर्गत प्रकाश मण्डल स्थापित करनेवाली जाग्रत्स्वप्नमयी भगवान कृष्णकी योगमाया नामक शक्ति है । कालमायाके नाश करनेवाली जब इस योगमायाको कृष्णने बुलाया-अर्थात् प्रगट किया तो कालशक्तिनिर्मित इस नश्वर जगतका नाश हो गया । यह योगमाया प्रकाशात्मिका और अप्रकाशात्मिका दोरूपसे व्यवस्थित हो गई थी । दर्शनांश—जहांतक देखने योग्य

तद्वेणुनादमाकर्ण्य गोप्यो हर्ष समन्विताः ।
गृहान्पुत्रान्पतीन्मातॄः भ्रातॄंश्च सुहृदः पतीन् ।
सम्बन्धिनश्च श्वसुरान्तृणीकृत्वाऽऽययुः परम् ॥१६
वेदमार्गं देशमार्गं कुलमार्गं सनातनम् ।
सर्व धर्म्मान्परित्यज्य कृष्णं शरणमाययुः ॥ २०

गू०—गोप्योवेणुनादं श्रुत्वा तृणीकृतलौकिक सम्बन्धाः सर्वं-त्यक्त्वा कृष्णं शरणमाजग्मुरित्याह सार्द्धद्वाभ्यां ॥ १९—२० ॥

भा०—गोपियोंने श्रीकृष्णके वंशीनादको सुनतेही गृह, पुत्र, पति, माता, पिता, बन्धु, सुहृद, सासु ससुर, आदि सम्बन्धियोंको तृणवत् त्याग परमात्मा श्रीकृष्णके मिलनेंको हर्षयुक्त हो गमन किया । वेदमार्ग और सनातन कुलमार्ग एवं लौकिक सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र कृष्णकी शरणमें प्राप्त हुई ॥ १६-२० ॥

टिप्पणी.

मण्डल था वहांतक प्रकाशरूप दिखाकर अग्रतः आच्छादन करती थी । कालमायाके जगतको ग्रास करते हुए इसने तत्काल योगमायाके मण्डलकी रचना करदी । यथा—

प्रसारोत्सृजन्ती सा ग्रसन्ती विश्वमोजसा ।
उत्सारयन्ती तिमिरं यथा दीपशिखा बभौ ॥

अर्थः—अपने प्रकाशको फैलाते हुए और इस विश्वको बलात् ग्रसते हुए दीपशिखाके समान अन्धकारका नाश कर इसने तत्काल प्रकाशमय मण्डलको निर्मित किया ।

योममाया समविशान्मायाकार्य—विलोपतः ।
ब्रह्मणो विलये जाते यथापूर्वमभूदिदम् ॥

(माहेश्वर तन्त्र)

दर्शयन्त्य प्रेमलभ्यं परमात्मानमेव ताः ।
प्रेम्णैव लभ्यते कृष्णो न तूपायशतैरपि ॥ २१

गू०—दर्शयन्त्य इति प्रेम्णैव कृष्णो लभ्यते तद्कृते तूपाय शतैरपि न लभ्यते इत्थं ताः गोप्य परमात्मानं प्रेम लभ्यमेव दर्शयन्त्यः तच्छरणं प्रापुरिति ॥ २१ ॥

भा०—जो परमात्मा शतशः उपायोंसे भी नहीं प्राप्त होता वह प्रेमसे अनायास प्राप्त हो जाता है, इस बातको मानो प्रमाण सिद्धकरनेके लिये प्रेम पंथका आश्रय ले कृष्ण प्राप्तिका मार्ग बताया ॥ २१ ॥

यदा प्रेमांकुरो जातो हृदि क्षेत्रे नरस्य तु ।
गुरुवागमृताशिक्तः विरागो जायते तदा ॥ २२

टिप्पणी

अर्थः—योगमायाका प्रवेश-उदय और मायाकार्यका विलोप होनेसे ब्रह्माका लय हो गया इसलिये यह जगत् यथापूर्व-अर्थात् जगत रचनाके प्रथम जैसा था वैसा हो गया। विश्वका बनाना और लय करना, यह योगमायाकेलिये करतलमात्र होनेसे किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं कहा जा सकता। पुराणसंहिताके २८ वें अध्यायमें योगमायाके स्वरूपका वर्णन करते हुए व्यासजी लिखते हैं कि—

वियोगे योगसामर्थ्यं योगमायेति तां विदुः ।
सा शक्तिः परमाश्चर्यरूपा बलवती शिवे ! ॥
वियोगमध्ये योगं च दर्शयन्ती स्वशक्तितः ॥ ४०
झटित्यशेषं ग्रसते झटित्युत्पादयतेऽहो ।
रासलीला नाट्यरंग-प्रकाशायेव दीपिका ॥ ४२
यत्प्रादुर्भाव मात्रेण सदानन्दोऽन्यथाऽभवत् ।

गू०—यदेति यदाहृदिक्षेत्रे प्रेमांकुरो गुरवागेवामृतं तेन शिक्तः सेचितः सन् जातः नन्वत्र गोपीनां कोगुरुर्यद्वागमृतेन शिक्तः प्रेमांकुरो बृद्ध इति चेत्सत्यं कृष्णएव गुरुर्बोध्यः यस्य वंशीनादामृतश्रवणेन प्रेमांकुरो जात इति । ननु पतित्वेसति कथं तस्य गुरुत्वं घटते । नैवं तस्मिन्गुरुर्भावो युक्त एव पूर्णत्वात् तथोक्तं योगसूत्रे " पूर्वेषां गुरुः कालेनानवच्छेदात्' तथैवोक्तं गीतायां " मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चेति " तथा पाण्डवगीतायां " त्वमेव सर्वं मम देवदेवेति " ततो विरामः वैराग्यं भवति तच्च परापर भेदेन द्विविधं दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं ' तत्परंपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति सूत्रद्वयेन पतञ्जलिना योगशास्त्रेऽभिहितत्वात् तत्र परवैराग्यं संसृतित्याग वान्तान्नवत् तदादेशिक वैदिककुलादिमार्गेषु स्पृहाराहित्यं तदापूर्णं प्रेमेति ज्ञेयं येन पूर्णं ब्रह्म लभ्यते इतिदिक् ॥ २२ ॥

भा०—मनुष्यके हृदयक्षेत्रमें उत्पन्न प्रेमांकुरको जब सद्गुरुके वचनरूप अमृतका सिंचन मिलता है तभी संसारसें विराग उत्पन्न होता है । गोपियोंकें हृदयमें कृष्णके प्रति प्रेमका अंकुर तो प्रथमसेही था परन्तु जब श्रीकृष्णनें बंशीद्वारा अपने अमृत वचनोंसे उसे सींचा तो तत्काल वैराग्य उत्पन्न हो गया अतएव गोपियोंने संसारको तुच्छ मानकर त्यागदिया और कृष्णके प्रेमका पात्र बनीं। प्रश्न—गोपियोंने तो कृष्णको

टिप्पणी

अर्थः—हे शिवे ! वियोगमें योग करनेका सामर्थ्य है जिसमें, ऐसी योगमायानामकी परमाश्चर्यरूपा बलवती शक्ति प्रगट हुई । जो अपनी शक्तिसे तत्काल वियोगमें योग-सम्पूर्णता दिखा देती है । अखिलविश्वका झट ग्रासकर तत्काल पुनः उत्पन्नकर आश्चर्यमें डालदेती है । जिसके प्रादुर्भाव मात्रसे सदानन्द जो कृष्ण हैं एक विचित्ररूपको प्राप्त हो गये और रासलीलाके नृत्यस्थलको प्रकाशितकर दिव्य बना दिया, इसप्रकार

—: भावार्थ :—

अपना पति मानकर घरको छोड़दिया था और आप कहते हैं कि वंशीद्वारा दिये गए उपदेशसे विराग उत्पन्न होनेसे, तब पतिभाव और गुरुभाव दोनों एक पुरुषमें किस प्रकार माना जाय ? । उत्तर—देखो जी ! परमात्मामें सब घट सकता है परन्तु व्यापकबुद्धि न होनेसे विरोध प्रतीत होता है । महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें लिखते हैं कि " पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (यो० पा० १-२६) अर्थः--सब गुरुवोंका गुरु परमात्मा है क्योंकि उसे काल नष्ट नहीं कर सकता । गीतामें भी लिखा है कि " मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च " ज्ञानका भण्डार कृष्णके अतिरिक्त और कौन हो सकता है अतः वह सबका गुरु है और " स एवात्मा द्विधा भवति पतिश्च पत्नी च " इत्यादि अनेक श्रुति परमात्माको सबका पति वर्णन करती हैं। सबका पालनकरता होनेसे प्राणीमात्रका पति एक परमात्माही है, दूसरे पति तो नाम मात्रके हैं । प्राणीमात्रको प्रवृत्ति निवृत्तिमें लगानेवाला होनेसे वही सबका सच्चा गुरु हो सकता है । अन्य गुरु तो निमित्त मात्रके होते हैं ॥ २२ ॥

वैराग्यात्संसृतिं हित्वा भवन्ति विगतस्पृहाः ।
यदा प्रेम्णो विवृद्धिस्स्यात्परमात्मा तु लभ्यते ॥ २३

टिप्पणी.

शास्त्रकारोंने योगमायाकी शक्तिको अपूर्व और विलक्षण वर्णन किया है । इसलिये योगमायाके विषयमें उपरोक्त श्लोकोंको लक्ष्यमें रखकर यदि उसके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा की जाय तो किसी प्रकारका विरोध अथवा आश्चर्य नहीं हो सकता, प्रत्युत रासलीलाके वास्तविक तत्त्वको अनायास समझा जा सकता है। किन्तु जब हम शास्त्रपर विश्वास न कर केवल अपनी बुद्धिमत्तासे काम लेने लग जाते हैं तभी अनेक प्रकारके सन्देह और कुतर्क उत्पन्न हो बुद्धिको भयमें डाल देते हैं ।

भा०—वैराग्यसे मनुष्य त्रिगुणमय बन्धनसे मुक्त हो जाता है और ऐहिक सुखकी स्पृहा न रहनेसे एवं परमात्माके प्रति प्रेमकी वृद्धि होनेसे परमात्माके साक्षात्कारको प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

नास्त्यत्र संशयः कश्चित्प्रमाणं व्रजयोषितः ।
सच्छास्त्राण्यपि सर्वाणि वदंतिमुनयोऽमलाः ॥२४

भा०—प्रेमाधिक्यसे परमात्माकी प्राप्ति होनेमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं उत्पन्न किया जासकता क्योंकि इसका ज्वलन्त उदाहरण गोपिका हैं । वेद शास्त्र पुराणोंने तो परमात्माको प्रेमलभ्य बतायाही है और महात्मालोग भी इसका उपदेश करते हैं अतः प्रेमसे परमात्माकी अवश्य प्राप्ति होती है इसमें संशय नहीं ॥ २४ ॥

सख्यस्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः सात्त्विक्योराजसीगणाः ।
अपराः सन्ति तामस्यो गणभेदाः पृथक् पृथक् ॥२५
वेणुनादस्य श्रवणात्तामस्यो निर्ययुः क्षणात् ।
अश्नन्त्यो भोजनं हित्वा दोहयन्त्यः पयस्तथा २६
शुश्रूषन्त्यः पतीनन्याः पाययन्त्यः शिशून्तथा ।
एवं श्रीकृष्णचित्तास्ता स्तामस्यो निर्ययुर्मुदा ॥२७

भा०—व्रजमें सात्विकी, राजसी और तामसी भेदसे सखीं तीन प्रकारकी थीं । कोई भोजनमें लगीं थीं, कोई बालकोंको दुग्धपान करातीं थीं । कोई गायोंके दुहनेमें लगीं थीं तो कोई अपने पतिकी सेवामें परायण थीं । तामसी सखियोंनें जैसेही वंशीका शब्द सुना कि सबको जहांके तहां छोड़कर कृष्णैकचित्ता कृष्णको प्राप्त हुईं ॥२५-२६-२७

अञ्जन्त्यो लोचनेकाश्चित् नाङ्क्त्वैकं लोचनं भ्रमात् ।
विपरीतधृताभूषा वाससो राजसीगणाः ॥ २८
सात्त्विक्यो ऽलंकृतात्मान मिच्छन्त्यो ऽन्तः पुरं गताः ।
तावत्स्वपतिभी रुद्धा ज्ञातनैर्गमनैस्त्वरा ॥ २९

भा०—राजसी सखी भी वंशीनादको सुनकर व्याकुल तो हुईं किन्तु यह विचार कर कि प्रियतमके पास शृङ्गाररहित जाना उचित नहीं अतः काजल बेंदी आदि लगाने लगीं । परन्तु वंशीनादको सुनकर व्याकुल हो कहींका आभूषण कहीं पहन लिया । एक नेत्रमें अञ्जन लगाया तो एकमें भूलही गई, इस प्रकार उलटे सीधे आभूषण पहन कर कृष्णके प्रति चलीं । सात्त्विकी सखियोंनें देखा कि शृङ्गार करके एक दूसरीको भी बुला लेना चाहिये, इस प्रकार एक दूसरीकी उधेड़बुनमें शृङ्गार करतीही रह गईं कि तबतक माता पिता, पति परिवार कुटुम्ब वालोंने अन्य गोपियोंको भागते देखकर अपने अपने घरोंमें आकर सबको रोक दिया ॥ २८—२९ ॥

ताः कृष्ण विरहक्लान्तमानसा दुःखकातराः ।
देहान्हत्वा ययुः प्रेष्ठं परमानन्ददं पतिम् ॥ ३०

गू०—ता इति कृष्णविरहः कृष्णंप्रति मनोवेगानुकूल्यातिरोध एव विरहस्तेन क्लान्तानि मानसानि यासां ताः ॥ ३० ॥

भा०—श्रीकृष्णजीके समीप जानेके लिये जो उत्साह था एक तरफसे उसका भंग होना और दूसरी तरफसे प्रियतमके मिलनेके विरहका बढ़ना, दोनों असह्य हो गए । इस प्रकार जब दुःसह विरहको न सहन कर सकीं तो अपने अपने शरीरको त्यागकर परमानन्दको देने-

—: भावार्थ :—

वाले श्रीकृष्णके शरणमें प्राप्त हुईं। यही बात भागवतमें लिखी है कि " जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः (भा० १०-३१-११) अर्थः- कृष्णके विरहसे व्याकुल हो तत्काल गुणमय शरीरको त्याग बन्धन रहित हो गईं ॥ ३० ॥

अनुभूतं महद्दुःखं प्रथमं सात्त्विकीगणैः।
दुःखसंदर्शनेच्छैर्या ह्यासांपूर्णा तु योषितां ॥ ३१

गू०—सात्त्विकीनां दुःख प्रेक्षणापेक्षात्वत्र पूर्णेत्याह अनुभूतमिति महद्दुःखं क्षणमात्र कृष्णविरहादेव परित्यागरूपं दृढप्रेम्णाकृष्टचित्तवृत्तिरोधनात् क्षणविरहस्यापि बहुयुगान्तरित इव क्लेशो जायते इति लोकप्रसिद्धम् ॥ ३१ ॥

भा०—परमधाममें सखियोंको नश्वर जगतके दुःखको देखनेकी इच्छा हुई थी। तिनमेंसे सात्त्विकी सखियोंकी इच्छा तो यहीं परिपूर्ण हो गई। क्योंकि सात्त्विकी सखियोंनेही यहांपर सबसे प्रथम दुःखका अनुभव किया है ॥ ३१ ॥

योगमाया वैभवेन दिव्याकाराः सखीजनाः।
त्यक्तमायामयाकारा दिव्याम्बर विभूषणाः ॥ ३२

गू०—योगमायेति योगमायावैभवेन योगमायैश्वर्येणत्यक्तो मायामय आकारोयाभिस्ता जहुर्गुणमयंदेहं सद्यः प्रक्षीणबन्धना इति भागवतादपि युक्तं गुणमय देहादेर्योगमायामण्डले प्रवेशासंभवात् तिमिरस्य रविमण्डल इवेति अतः दिव्याकारः दिव्यं अलौकिकं आकारं यासां ताः दिव्याम्बरविभूषणाः दिव्यानि अम्बराणि भूषणानि च यासां ताः ॥ ३२ ॥

भा०—योगमायाके प्रभावसे सखियोंने मायाजन्य शरीरका परित्यागकर तत्काल दिव्य-अलौकिक देह तथा आभूषणोंको धारण किया। क्योंकि योगमायाके मण्डमें कालमायामय शरीर तथा आभूषण आदिका प्रवेश नहीं हो सकता था। जैसे सूर्यमण्डलमें अन्धकारका प्रवेश और जाग्रत्में स्वप्नमय पदार्थोंका होना सम्भव नहीं; उसी प्रकार योगमायाके मण्डलमें लौकिक पदार्थोंका प्रवेश होना सम्भव नहीं था ॥ ३२ ॥

यथा दिव्यतनुः श्यामो यथा दिव्यं नवं वनम् ।
कालिंद्याद्या यथा दिव्यास्तद्वत्सर्वाः सखीगणाः ३३

गू०—यथेति यथालौकिकरूपो भगवानलौकिक वनमासाद्य वेणुं चुकूज तथा सख्योऽप्यलौकिकाकारा ययुरिति ॥ ३३ ॥

भा०—जैसा दिव्य शरीर कृष्णका था और जैसी वृन्दावन आदिकी दिव्य सामग्री थी, उसी प्रकारके सखियोंने भी दिव्य शरीर धारण किये ॥

सूर्यसाहस्र संख्याताः श्रीकृष्णान्तःपुराङ्गनाः ।
रविद्विगुणसाहस्र्यः कुमार्यस्तासु संगताः ॥ ३४

गू०—सूर्य्यसाहस्र संख्याता इति श्रीकृष्णस्यान्तःपुरं निज धाम तन्निवासिन्योऽङ्गनाः स्वाभिन्नशक्तय इत्यर्थः। सूर्य्यसाहस्र संख्याताः द्वादशसहस्र संख्याताः सन्तीति तास्वेव रविद्विगुणश्चतुर्विंशति सहस्र संख्ययान्विताः कुमार्य्यः कुमारिका या व्रतं चेरुस्ता इत्यर्थः संगता रासमण्डले एकीभूता इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भा०—रासमें श्रीकृष्णके अन्तःपुरकी सखियोंकी संख्या द्वादश सहस्र और कुमारिका सखियोंकी संख्या चौवीश सहस्र थी। रासमें

—: भावार्थ :—

कुमारिकाओंके स्वरूप पृथक् नही थे किंतु द्वादश सहस्र ब्रह्मप्रियाओंके अन्तरस्थ होकर रासका सुख लिया है ॥ ३४ ॥

वृन्दावनन्तु संप्राप्य ददृशुर्हसिताननम् ।
चलद्भ्रुवं केशवृन्द–भ्रमराप्तमुखाम्बुजम् ॥ ३५
अर्पिताधरवेणुं तं पीतांशुकलसत्कटिम् ।
वनमालाश्रियाजुष्टं किशोराकृति सुन्दरम् ॥ ३६
केयूरकाञ्चीवलयं ग्रैवेयमुद्रिकादिभिः ।
नाना विधैरलंकारैश्शोभितं रत्ननिर्म्मितैः ॥ ३७.

गू०—वृन्दावनमित्यादि त्रिभिश्लोकैस्तद्वनं प्राप्य तं कृष्णं ददृशुरित्याह । केशवृन्दा एव भ्रमरास्तैराप्तं मुखमम्बुजमिव यस्य तं अर्पित अधरेवेणुर्येन तं पीतांशुकेन पीताम्बरेण लसन् कटिर्यस्य तं दिव्यरत्ननिर्म्मितैः केयूरादिभिरलंकारै श्शोभितम् ॥३५॥३६॥३७॥

भा०—जब सखी वृन्दावनमें पहुंचीं तो नाना प्रकारके आभूषणोंसे युक्त हाथोंमें केयूर आदि भूषण धारण किये, मुखमें वंशीको लगाए हुए विकसित है मुख जिनका ऐसे परम सुन्दर किशोराकृति वृन्दावन-विहारी कृष्णको देखा ॥ ३५–३६–३७ ॥

कृष्णस्ता आगता वीक्ष्य ऊचिवानस्तुस्वागतम् ।
व्रजेऽस्तिकुशलं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥ ३८
वृन्दावनं दिदृक्षार्थं चेद्दृष्टं नवकाननम् ।
यात यूयं व्रजं सख्यः क्रन्दन्ति वत्सबालकाः ॥३९

रजनी घोररूपासौ बहुसत्वसमान्विता ।
नारीभिरत्र न स्थेयं चणं यातततोऽचिरम् ॥ ४०

गू०—ताः प्रिया योगमायामण्डले समायाता वीक्ष्य यद्यपि वृद्ध प्रेम्णा त्रुटितगुणमय वन्धनास्तथापि कृष्णः कुटुम्बादि स्मृति रद्याप्यस्ति न वेति परीक्षार्थं गृहादीनस्मारयति कृष्ण इति षड्भिः समीपे स्थानान्तरादागतानां स्वागतप्रशंसादि कार्येति व्यवहारं मनसि निधाय भगवान्स्वागतमस्त्विवति प्रोवाच ॥ ३८-३९-४० ॥

भा०—रसिकविहारी कृष्णने सखियोंको आई हुई देखकर परिहास करते हुए उनका स्वागत किया । कृष्ण बोले-बड़े हर्षका विषय है कि आपलोग वनमें पधारीं, आपका स्वागत करता हूं । व्रजमें तो कुशल है न । आपने किस कारणसे इतना कष्ट उठाया, वह तो बताइये । या वृन्दावन देखनेकी इच्छासे आई हो तो इस बनको भी आप देखचुकीं अब आप व्रजको लौट जावें । क्योंकि घरमें छोटे २ बालक रोते होंगे और यहां रात्रिके समय, ऐसे घोर जंगलमें निशाचरोंका बड़ा भय है और फिर स्त्री तो स्वभावसेही भीरु होतीं हैं अतः आपको शीघ्रही व्रजमें लौट जाना चाहिये ॥ ३८-३९-४० ॥

पतयो वो विचिन्वन्ति मातरः पितरस्तथा ।
सेवितव्यः पति स्त्रीभिस्सत्यः संबन्धिनोऽपरे ॥ ४१
पतिसेवापरो धर्मस्तद्बन्धूनां निषेवनम् ।
एवं ब्रुवन्ति श्रुतयः कर्त्तव्यस्तु तथाविधः ॥ ४२

भा०—हे सखियो ! तुमारे पति वा माता पिता आदि गुरुजन विचारे तुम्हें खोजते होंगे । स्त्रीको चाहिये कि अपने धर्मका पालनकर

—: भावार्थ :—

पति, देवर आदिके अनुकूल वर्ते और पतिसेवा परायण रहे। वेद, शास्त्र पुराण आदिमें यही उपदेश है कि स्त्रियोंका परमधर्म पतिकी सेवा करना है। मातृपक्ष तथा पतिपक्षके अनुकूल रहकर सबको सुख पहुंचावे, वस, इसीमें स्त्री जातिका कल्याण है ॥ ४१–४२ ॥

रोग्यन्धो वधिरोऽपिस्यात्पङ्गुः क्रूरः कुवाग्जडः।
पतिः कुलवधूभिर्वै न हेयश्चेदपापकृत् ॥ ४३
इति वाचं समाकर्ण्याऽप्रियां कृष्णेन भाषिताम्।
पेतुस्तत्संन्निधौ सख्यः दुःखार्त्ता मूर्छिता भृशम् ॥

भा०—देखो! कुलवन्ती स्त्रियोंके लिये यहां तक लिखा है कि चाहे अपना पति रोगी हो, अन्धा, वहरा हो, लूला लँगड़ा हो किंवा दुष्ट स्वभाव हो तथापि साध्वी स्त्री अपने पतिका त्याग न करे। फिर तुमारे पतितो किसी प्रकार दोषसे युक्त भी नहीं, प्रत्युत सब प्रकारसे योग्य हैं तब तो कहनाही क्या, अतः आप लोग शीघ्र व्रजमें जाकर पतिपरायण बनो, इस प्रकार कृष्ण महाराजकी कठोर वाणीको सुनकर सखियोंको बड़ा दुःख हुआ, यहांतककी उसको सहन न कर सकीं और मूर्छित होकर श्री कृष्णजीके शरणमें गिर पड़ीं ॥ ४३–४४ ॥

तत्रापि मूर्छिता आसन्सात्त्विक्यो या समीरिताः।
राजस्योप्यब्रुवन्दैवं हा! कष्टमिति दुःखिताः ॥ ४५

भा०—यहां पर सात्त्विकी सखियोंको अधिक दुःख हुआ क्योंकि ये सरल हृदया थीं। अतः ये तो उठही न सकीं और राजसी सखियां व्याकुल हो हा! दैव! हाय! कष्ट! इस प्रकार पुकारने लगीं ॥ ४५ ॥

तामस्यास्त्विति संजातनिश्चया नो न त्यक्ष्यति ।
असौ कृपानिधिर्भक्ता संबोध्योचुरिति प्रभुम् ॥ ४६

भा०—तामसी सखियोंने यह निश्चयकर कि कृष्ण तो कृपाके भण्डार हैं और हम लोगतो उनकी दासी हैं अतः कदापि हमारा परित्याग नहीं कर सकतें, इस प्रकार विचार कर अपने प्रियतम कृष्णके सन्मुख बोलने लगीं ॥ ४६ ॥

भो नाथ ! दयासागर ! कथं वचे त्वमाप्रियम् ।
नोचितं दीननाथस्य वचनं दीनदुःखदम् ॥ ४७

भा०--हे नाथ ! हे दयासागर ! आप ऐसे अप्रिय वचन किस लिये बोलते हो । हम लोग तो अत्यन्त दीन और आपके चरणकी दासी हैं अत एव हम दीनोंके प्रति तो ऐसे निष्ठुर और दुःखप्रद वचन बोलना उचित नहीं ॥ ४७ ॥

न जानीमो व्रजः क्वास्ति कौशल्यं यस्य पृच्छसि ।
वान्तान्नवद्धि यत्त्यक्तं किमु तद्वार्तयाभवेत् ॥ ४८

गू०—यद्भगवता व्रजकौशल्यप्रश्नद्वारा मायिक ब्रह्माण्ड-वर्त्तिव्रजादिस्मारितं तस्य सर्वथैव वान्तान्नवत् त्यागं दर्शयन्त्यः सख्य-आहुः नजानीमइति ॥ ४८ ॥

भा०—हे प्यारे ! जिस व्रजकी आप कुशल पूछते हो, वह कहां है, यह भी हमें खबर नहीं, क्योंकि उसे तो हमने वान्तान्नवत् [वमनवत्] त्याग दिया है अतः उसकी कुशलसे हमें क्या प्रयोजन । हम तो केवल आपके शरणमें प्राप्त हैं ॥ ४८ ॥

सर्व्ववेत्तासि त्वं नाथ ! पृच्छस्यागमकारणम् ।
त्वदर्थं त्यक्तसर्वस्वा भजन्त्यात्मरता अपि ॥ ४६

भा०—हे नाथ ! आप सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होकर हमारे आनेंका कारण पूछते हो, क्या आपको विदित नहीं है कि ये लोग हमारे शरणार्थी हैं । अरे ! आपकेलिये तो महात्मा लोग सर्वस्व—धन धाम, पुत्र कलत्र, कुल कुटुम्ब छोड़कर आत्मरत होते हुए भी आपको भजते हैं फिर हम तो आपकीही हैं हमारे लिये तो पूछनाही क्या ॥ ४६ ॥

के पुत्राः सन्ति पितरो मातरो बान्धवाश्च ये ।
व्यवहारेण गण्यन्तेऽन्यथा ते नात्मसंगिनः ॥ ५०

गु०—यदुक्तं यात यूयं व्रजं सख्यः क्रन्दन्ति वत्सबालका इति तत्रोत्तरयन्त्यः सख्य ऊचुः क इति पुत्रादयो नात्मसंगिनः किन्तु व्यवहार मात्रेणैव गण्यन्ते तत्तदभावेनेति ॥ ५० ॥

भा०—और आप कहते हो कि बालक पुकारते होंगे, माता पिता कुल कुटुम्ब, पति आदि खोजतें होंगे । सो हे महाराज ! यह तो कल्पना मात्र है । कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता ? न कोई किसीका पति है और न बान्धव। ये सब तो स्वप्नवत् व्यवहार-मात्र गिने जाते हैं अर्थात् जैसे—स्वप्नमें सबकुछ प्रतीत होता है परन्तु जाग्रत होतेही सब मिथ्या । इसी प्रकार आपके वंशीनादने हमारे मोहरूप स्वप्नको नष्टकर अपने प्रेमके प्रति जाग्रत कर दिया है अतः वे सब हमारे लिये मिथ्या हैं; अबतो पति कहो अथवा बन्धु कहो, जो कुछ भी हो आपही हो ॥ ५० ॥

यावत्त्वां नहि पश्यन्ति मूढा बिभ्यन्ति सर्वतः ।
त्वं प्रत्यक्षीकृतोऽस्माभिरधुनातु भयं कुतः ॥ ५१

गू०—यदुक्तं रजनीघोररूपेति तत्राहुः यावदिति यावत्साक्षात्तया त्वां परमात्मानं न पश्यन्ति तावत्तेमूढा अज्ञा देहेन्द्रियमानिनः सर्वतः सर्वेभ्यो व्याघ्रादिभ्यो विभ्यन्ति भयं प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः अधुनास्माभिस्त्वमेव प्रत्यक्षीकृतोऽस्माकं कुतोभयं स्यात् नच त्वच्चरणार्विन्द रसिकानां कुतश्चिद्भयं भवतीत्यर्थः 'यदा ह्येष वै एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवतीति श्रुतेः 'मन्ये कुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यमिति भागवताच्च ॥ ५१ ॥

भा०—घोर रात्रिका भय दिखाकर हमें लौटना चाहते हो वह भी ठीक नहीं । क्योंकि भय तो मूढोंके लिये होता है अर्थात् जो लोग आत्मा परमात्माको नहीं समझनेवाले हैं वे सर्वतः भय मानते हैं परन्तु वे भी आपके स्वरूपको नहीं देखते तहांतक । आपके स्वरूपको देखकर तो वे भी निर्भय हो जाते हैं एवं व्रजमें रहते हुए हम लोग भी मूढ़ थीं क्योंकि अन्तरपट दूर नहीं हुआ था। यद्यपि आपको देखतीं थीं किंतु वस्तुतः आपको पहचानती नहीं थीं । लेकिन अब तो आपने हमारे मोह माया आदिको हर लिया अतः आत्मा निर्मल हो चुकी है और आपके स्वरूपको यथार्थ समझ लिया है अतएव हे महाराज ! अब किसका भय करें अर्थात् अब तो हम निर्भय हो गईं हैं ॥ ५१ ॥

पत्यादीनां च या सेवा स्त्रीधर्मोऽभिहितस्त्वया ।
धर्मज्ञे शास्तरि त्वयि कथं स्यादन्यथा प्रभो ॥ ५२
हे स्वामिन्त्वं पतिः प्राणपतिरात्मा शरीरिणाम् ।
अतस्त्वं सर्वदा सेव्यस्त्वद्वाक्यं न मृषाभवेत् ॥ ५३

गू०—सेवितव्यं पति स्त्रीभिरिति यदुक्तं श्रीमता तत्र त्वमेवपतिरि त्युत्तरयन्त्य आहुः पत्यादीनामिति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

भा०—हे प्रियतम ! आपने पति, बान्धव आदिकी सेवाको स्त्रियोंका परम धर्म बताया है वह भी आपका कहना यथार्थ है। आप अखिल विश्वके धर्मोपदेष्टा हो पुनः आपका कहना सत्य क्यों न हो। हे प्रभो ! आप तो प्राणी मात्रके प्राणपति होते हुए हमारे पति हो। प्राणीमात्रके सच्चे बन्धु भी आपही हैं; इसके अतिरिक्त हमारे तो आप सर्वस्व हैं ही इसलिये आपकी सेवामें उपस्थित होना यही तो हमारा परमधर्म है। अबतक हम भूली पड़ी हुई आपके उपदेशसे विमुख थीं परन्तु अब तो आपने हमारे अज्ञानको नष्ट कर अपने शरणमें बुला लिया है अतएव सच्चे पति आपकी सेवाको प्राप्त हुई हैं ॥ ५३ ॥

देह सम्बन्धिनश्चेमे सम्बन्धोऽयं क्षणात्मकः ।
स्वामिको वस्तुतस्त्वं वै पतिरस्माकमीश्वरः ॥ ५४

गू०—ननु कथमेते पतयो न सन्ति यैः सहपाणिग्रहोऽभूदिति चेत्तत्राह। देहसम्बन्धिन इति त्रिगुणात्मकस्य देहस्य संबंधोऽस्त्येषां ते स च सम्बन्धः क्षणात्मक एव कुतो यतः स्वाप्निकः। वस्तुतस्तु त्वमेव पतिः सर्वस्य पतिः सर्वस्येशान इति श्रुतेः ॥ ५४ ॥

भा०—कदाच कहो कि जिनके साथ पाणिग्रहण सम्बन्ध हुआ है उन्हींको अपना पति मानना चाहिये; तो इसका उत्तर यही है कि वे पति देह सम्बन्धी हैं। देह सम्बन्ध क्षणात्मक एवं स्वप्न सम्भूत होनेसे मिथ्या है और आपतो हमारे आत्माके पति हो अतएव आपके साथ तो नित्य सम्बन्ध है। नित्य पतिको छोड़कर मिथ्या पतिको ग्रहण करना मूर्खोंका काम है। वास्तवमें देखा जाय तो गोपियोंका कहना सत्य है क्योंकि " सर्वस्य पतिः सर्वस्येशानः " इत्यादि श्रुतियां परमा-

—: भावार्थ :—

त्माकोही सबका पति वर्णन करती हैं और है भी ऐसाही। सबका पालन कर्ता होनेसे परमात्माही सबका पति है; तिसपर भी गोपिका तो उनके शरणको प्राप्त हुई थीं उनका पतित्व स्वीकार किये विना तो छुटकारा थाही नहीं ॥ ५४ ॥

त्वत्पादपद्मं संत्यज्य क्वयामः करुणार्णव।
न क्वापि दृश्यते स्वामिन्पदंस्थातुं मनागपि ॥ ५५

इति श्रुत्वा वचः कृष्ण स्तासां स्वार्पितचेतसाम्।
जगाद मधुरां वाचं सर्वाधिसमनीं प्रभुः ॥ ५६

भा०—गोपियां कहती हैं—हे करुणासागर! ऐसे उत्तम गुण युक्त पतिरूप आपके चरण कमलको छोड़कर हम लोग कहां जावें। हे प्रभो! अरे स्वामिन्! आपकी शरण छोड़कर हमें तो कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता कि जहांपर जावें, इसलिये हे कृपानाथ! अब तो अपनी शरणमें आई हुई हम दीन दासियोंकी सेवा स्वीकार कीजिये, यही अन्तिम याचना है। इस प्रकार गोपियोंको अपनेमें अनुरक्त और निर-भिमान देखकर मानसिक तापोंके शान्त करनेंवाली मधुरवाणीद्वारा श्री कृष्णजी सखियोंके प्रति बोले ॥ ५५-५६ ॥

भवतीनां परीक्षार्थ-मिदमुक्तं मया वचः।
संसारममतारूढ़ा मतिरस्ति न वा प्रियाः ॥ ५७

भा०—हे प्यारियो! मैंने तो आपकी परीक्षा लेनेके लिये कि, संसारकी ममतामें तुमारी बुद्धि लगी, है या नहीं तुमारे प्रति कठोर वचन

—: भावार्थ :—

कहे थे, न कि आपके दिल दुखानेके लिये। क्योंकि जहांतक मिथ्या मोह ममतामें प्राणी आसक्त रहता है, तहांतक मेरे यथार्थ आनन्दको नहीं समझ पाता। आपको मुझे अपने वास्तविक आनन्दरसका पान कराना है इस लिये देखना था कि आपमें कहांतक मायाका लेश है। किन्तु परीक्षा करने पर विदित हुआ कि आपने मोह ममताको मिथ्या समझ तृणवत् त्याग दिया है ॥ ५७ ॥

मा दूयतामीप्सितस्य पूर्त्तिर्वो भविताखिला ।
आविष्कुर्वन्तु स्वरुचिं तूर्णं सर्वे सखीजनाः ॥ ५८

भा०—इस लिये हे सखियो ! आप खेद न करो और जो इच्छा लेकर तुम मेरी शरणमें आई हो वह सब प्रकारसे पूर्ण हो जावेगी अतः आपकी जो इच्छा हो प्रगट कीजिये, मैं शीघ्रही आपका मनोरथ पूर्ण करूंगा ॥ ५८ ॥

ये मामनन्यभावेन सर्वान्त्यक्त्वा भजन्ति हि ।
ते मत्प्राणाधिकाः सन्ति सुखयामि मुहुर्मुहुः ॥५६

गू०—सर्वांस्त्यक्त्वा ये मां भजन्ति तान्भृशं सुखयामीत्यादिनानन्योपासनायाः प्राबल्यं प्रकटितं तदेव विष्णुरूपेण 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इत्यादि गीतायां प्रतिज्ञास्यति ॥ ५९ ॥

इति श्री निजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायां चतुर्थ स्तरङ्गः ॥४॥

भा०—जो प्राणी ऐहिक सब धर्मोंको छोड़कर अनन्य भावसे मेरेको भजते हैं अर्थात् मेरी शरणको प्राप्त होते हैं; वे मुझे प्राणसेभी

—: भावार्थ :—

अधिक प्रिय लगते हैं। उनको मैं कदापि नहीं छोड़ सकता प्रत्युत जो कुछ भी उनकी इच्छा होती है उसे पूर्णकर अपने भक्तोंको सुखी बनाता हूं अतः आपकी जो कुछ इच्छा हो, वह कहो ॥ ५९ ॥

इत्याकर्ण्य प्रियां वाणीं सुधाधारामिव प्रियाः।
जातानन्दाः समुत्तस्थु र्युगपत्कृष्ण योषितः ॥६०

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति पण्डित कृष्ण-मणिशर्म्मसूरि विरचितस्यानन्दसागरस्य चतुर्थ स्तरङ्गः ॥ ४ ॥

भा०—इस प्रकार अमृतकी धारके समान कृष्णकी मधुर वाणीको सुनकर गोपियोंने परमानन्द पाया और हर्षपूर्ण नेत्रोंद्वारा कृष्णके स्वरूपका पान करती हुई एकही बार सब सखी उठकर बैठी हो गईं ॥ ६० ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्थचतुर्थतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्त शास्त्रिकृता भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ ४ ॥

पञ्चमस्तरंगः

कृष्णोऽपिताभिर्निजशक्तिभिर्युतो यूथीकृताभि-
श्शुशुभे महात्मभिः । तारागणैः खेरजनीपतिर्य-
था स्वराड्वरो भूषणभूषिताङ्गकः ॥ १

गू०—सर्वान्गोपीजनानुत्थाप्य ताभिरत्यद्भुतं रासमण्डलं चक्रे इत्याह कृष्ण इति । महानात्मा बुद्धिर्यासां ताभिर्भूषणभूषिताङ्गकः भूषणैः भूषितानि अंगानि यस्य तथाभूतः कृष्णः शुशुभे रेजे ॥१॥

भा०—जैसे-विकसित तारागणोंसे पूर्णमासीका चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है । उसीप्रकार बुद्धिशालिनी यूथीभूत सखियोंके सहित श्री कृष्ण अपूर्व शोभाको प्राप्त हुए । योगमायाके आभूषणोंसे भूषित सखी वृन्दसहित कृष्णके अद्भुत स्वरूपको देखकर सबका मन मोहित होने लगा ॥ १ ॥

रेमेऽङ्गना लालितपादपङ्कजः संफुल्लचार्वायत-
लोचनाम्बुजः । विन्यस्तराधांसकराम्बुजो हरि-
र्गायन्कलं नाट्यकलाधरः प्रभुः ॥ २

गू०—संफुल्लेति संफुल्ले चारुणीमनोहरे आयते लोचनाम्बुजे यस्य तथा विन्यस्तं राधायाः अंसे कराम्बुजं येन सः नटानामिदं नाट्यं अङ्गनाभिर्लालितौ पादपङ्कजौ यस्य तथाभूतो हरीरेमे

भा०—योगमायाके सुन्दर मण्डलमें विकसित कमलके समान वि-

—: भावार्थ :—

शाल हैं नेत्र जिनके, एवं ललनाओंसे सेवित और वेष्टित हैं चरणकमल जिनके, ऐसे श्रीकृष्ण महाराज राधिकाजीके स्कन्धदेश पर हस्त-कमल धरे हुए गातें नांचते एवं नाट्यरंग कलाका प्रदर्शन कराते हुए रास-रमण करनें लगे ॥ २ ॥

सर्वासामिष्ट–सिद्ध्यर्थ मेकः कृष्णः स्वतः परः ।
आसीद्द्वयोर्द्वयोर्मध्ये एकेकं रूपमास्थितः ॥ ३

भा०—सम्पूर्ण गोपियोंकी अभीष्ट सिद्धिके लिये परात्पर पूर्ण–ब्रह्म-स्वरूप कृष्णने रासमण्डलके मध्य एक २ गोपी और एक २ कृष्ण इस प्रकार जितनी संख्या सखियों थी उतनेही स्वरूप धारण किये । अर्थात् दो दो सखियांके मध्य एक २ कृष्ण हो रास किया ॥ ३ ॥

रासाब्धिमग्न चित्तानां गोपीनां कवरच्युतान् ।
प्रसून समवायान्वै तत्रोन्नीय न्ययोजयत् ॥ ४
कासांचिन्मुक्तबन्धानि वासांस्याभरणानिच ।
पतन्त्यालोक्य भगवानमत्तोऽधाद्यथातथम् ॥ ५

गू०—कासांचिदिति अङ्गतः अंगेभ्यः पतन्ति अधःश्लथितानि आलोक्य दृष्ट्वा यथातथमदधात् ॥ ५ ॥

भा०—रास सागरमें मग्नचित्त सखियोंके पहने हुए पुष्पके हारोंसे गिरे हुए फूलोंको उठा २ कर श्रीकृष्णजी पुनः उनके कवरों [शिरोवेंणी] में योजित करतें जाते हैं, तो किसी सखीके अङ्गसे वस्त्र अथवा आभूषणको गिरतें हुए देखकर उसे स्वयं उठाकर जहांके तहांपर योजित करते जाते हैं ॥ ४ । ५ ॥

एवं कुर्वति श्रीकृष्णे मानिन्यो गोपिकागणाः ।
मेनिरेप्यधिकं स्वंस्त्रं यतोऽसौ मद्वशंगतः ॥ ६

भा०—श्रीकृष्णको इस प्रकार करते देख कुछ मानिनी सखियोंने कृष्णको अपनेमें आसक्त समझा अतः मानको प्राप्त हुईं । सखियोंके मनमें दृढ़ विश्वास हो गया कि आज श्रीकृष्ण कामवश हो हमारे आधीन हो रहे हैं अतः मान करने लगीं ॥ ६ ॥

तासां वृद्धमदं वीक्ष्य मानिनीनां तथाविधम् ।
प्रशमाय च मानस्य स्मरणायाक्षरस्य च ॥ ७
गोपीयूथाद्बहिर्भूतः केशवो राधयायुतः ।
तत्रकुञ्जान्तरे रेमे पुष्पशय्यां विधाय हि ॥ ८
तत्र कृष्णेन राधायाः केशसाधनता कृता ।
तस्मादप्यपरं कुञ्जं गन्तुकामोऽब्रवीत्प्रियाम् ॥ ६
गच्छान्यत्र प्रियेश्यामे कुंजमन्यं विलोक्यताम् ।
तदाह सुकुमाराङ्गी मुदा पंकज लोचना ॥ १०
भो नाथाहं न शक्नोमि गंतुं पद्भ्यामितोवनम् ।
नय मा रोचते यत्र तुभ्यं प्राणाधिकप्रिय ! ॥ ११

गू०—तासामिति मदधीनो भगवानिति प्रवृद्धमानस्य प्रशमानार्थं अक्षरस्य या मल्लीलादर्शनापेक्षा पुराजाता सा दृष्टापीदानीं जाग्रदवस्थायां स्मारयितव्येत्येतत्प्रयोजनार्थं चान्तर्दध्याविति दर्शयति ॥ ७ । ८ । ९ । १० । ११ ॥

भा०--इस प्रकारसे गोपियोंके बढ़े हुए मदको देखकर श्रीकृष्णजी समझ गए कि गोपियोंको अपने स्वरूपका गर्व हो गया है अतएव इनके गर्वका ध्वन्स करना चाहिये और अक्रूर ब्रह्मने जो हमारी किशोर लीला देखनेको इच्छा की थी वह देखी तो अवश्य परन्तु उसका स्मरण उनको नहीं हुआ, इसलिये स्मरण भी कराना चाहिये । इस प्रकार विचार कर राधा सहित कृष्णजी गोपियोंके यूथसे पृथक् हो बाहर चले गए और एक अत्यन्त रमणीय एकान्त कुञ्जमें पुष्पोंकी शय्या बनाकर राधिकाजी सहित विहार किया और राधिकाजीके केश-वेश सम्हारनेकी लीला की । तदनन्तर अन्य कुंजमें जानेके लिये राधिकाजीसे कहा कि हे प्रिये ! अन्य कुंज भी देखने योग्य हैं चलो वहांपर चलकर बैठें । तब सुकुमाराङ्गी राधिकानें जवाब दिया कि हे नाथ ! अन्यस्थानपर जानेकी शक्ति मेरे पैरोंमें नहीं रही यदि अपने स्कन्ध पर बैठाकर ले चलो तो जहां कहिये वहां चलनेको राजी हूं परन्तु मुझसे स्वतः चला नहीं जाता ॥ ७-८-९-१०-११ ॥

सुन्दर्य्या व्याहृतं सोराडाकर्ण्याऽऽहमानिनीम् ।
स्कन्धमारुह्यतां श्यामेऽधुनागच्छ यथासुखम् ॥१२
इत्याकर्ण्य प्रभोर्वाचं राधिका मानगर्विता ।
यावदारोढुकामाऽसौ तावत्कृष्णस्तिरोदधे ॥ १३

भा०—इस प्रकार मानवती राधिकाजीका वचन सुनकर परिहास करते हुए कृष्णने कहा कि हे प्रिये ! यदि ऐसा है तो आप मेरे कन्धेपर बैठ जाइये मैं सुख पूर्वक आपको लिये चलता हूं । इस प्रकार कृष्णके कहतेही मानसे गर्वित राधिकाजीने श्रीकृष्णजीके कन्धेपर बैठनेकी इच्छासे पैर उठाया कि तहांतक श्री कृष्णजी अन्तर्ध्यान हो गए ॥ १२-१३ ॥

अन्तर्ध्यानस्य वै व्यक्तिर्यथासीत्सा निरूप्यते ।
संक्षेपतो न सर्वा हि वक्तुं जिह्वा जडायते ॥ १४

भा०—अन्तर्ध्यान होनेकी लीलाको संक्षेपसे व्यक्त करते हैं क्योंकि विस्तार पूर्वक कहनेके लिये जीभ जड़वत् हो जाती हैं अर्थात् अक्षरातीतकी रहस्यपूर्ण लीला होनेसे उसको पूर्ण रूपसे वर्णन नहीं कर सकती। इस लिये संक्षेपमें कहते हैं ॥ १४ ॥

परेशश्चिन्तयामास चेतसीत्थं प्रियाजनाः ।
सुखस्य सागरे मग्नचेतसोऽक्षर एव च ॥ १५

गू०—परेश इति अव्याकृतात्परस्याक्षरस्येशः परेशः प्रियाजनाश्च सुखस्य रासजनितानन्दस्य सागरे मग्नानि चेतांसि यासां ता अक्षरश्चैव रासजनितानन्दसागरे मग्नचेता इत्थं चेतसि चिन्तयामास, समाध्यवस्थायामन्याश्चर्यमयं किञ्चित्परमात्मानुग्रहेण सुखं यदि लभ्यं भवति हि तत्सुखे सर्वथैव मग्नं चेतो स्वयं निःसारयितुं न शक्यते अतश्चित्तस्थिरीकरणावलम्बभूतोऽक्षरातीतो विचारयामास द्रष्टुरक्षरस्य समाध्यवस्थातश्चित्तंबहिः जाग्रदवस्थायां कर्त्तव्यमिति प्रेमणा पंकजे संलग्न चेतसो भ्रमर इवेति बोध्यम् ॥ १५ ॥

भा०—अक्षरातीत परमात्माने देखा कि अक्षरब्रह्म तथा सखीं दोनोंही रास जनित आनन्दरूप सागरमें निमग्न चित्त हो रहे हैं और पूर्वावस्थाका यत्किंचित भी ध्यान नहीं, अतः इनको स्मरण कराना चाहिये ॥

अक्षरेप्सितपूर्त्यर्थ माकृष्यावेशमात्मनः ।
तस्थौ यदाक्षरातीत एकाकीह्यक्षरः पुमान् ॥ १६

गू०—अक्षरेति यदाक्षरातीतो निजावेशमक्षरात्मत आकृष्टवान् तदाक्षरः एकाकी एव तस्थौ यथा योगिनां यावद्धेयं वस्तु अन्तर्तिष्ठते तावदेव समाधिः किञ्चध्यानावलम्बभूते ध्येयवस्तुनि हृदाकाशाद्वहिर्भूते सति एकोध्याता चकित इव जागर्ति तथा ध्याता—अक्षरोऽपि ध्येयेऽक्षरातीतावेशे ध्यानावलम्बभूते स्वहृदाकाशाद्वहिर्निर्गते सति एक एव चकित इव स्थितोऽभूदितिमन्तव्यम् ॥ १६ ॥

भा०—इस प्रकार विचारकर अक्षरातीत प्रभुने अक्षर ब्रह्मकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये अक्षरकी आत्मा पर बैठे हुए अपने आवेशको आकर्षित कर लिया, जिससे अक्षर भगवान् केवल रह गये। जैसे—योगीजन समाधि अवस्थामें परमात्माका ध्यान करते हैं और जब ध्येय परमात्मा उनके हृदयसे निकल जाता है तब केवल जीवमात्र रह जाता है; यही दशा यहांपर अक्षर ब्रह्मकी समझना चाहिये ॥ १६ ॥

स्वधाम्नि प्रतिबुद्धोऽभूच्चकितात्मा तिरोहितः ।
अहो ! मया किंसंदृष्टं वनं वृन्दावनं महत् ॥ १७
तत्रापि यमुना दृष्टा रत्नबद्धतटा नदी ।
दृष्टा रासरसोन्मत्त-चेतसोऽपिसखीगणाः ॥ १८

गू०—स्वधाम्नीति समाध्यवस्थायां दृष्टात् वृन्दावनाद्वहिर्यत् स्वधाम तत्र प्रतिबुद्धो जाग्रदवस्थामापन्नोऽतश्चकित आत्मा यस्य सोऽक्षरस्तिरोहितोन्तर्भूतोन्तर्हितोऽभूत्सामाध्यवस्थायां येनरूपेणकृतलीलो दृष्टलीलोवा वृन्दावने स्थितोऽभूद् जाग्रदवस्थायां तद्रूपशून्योबभूवेत्यर्थः । यथास्वप्नेकश्चिद्देशान्तरे राजरूपमात्मनोपश्यन्नद्राजसुखं भुंजानो यदा जागर्त्ति तदैव देशान्तरे राजरूपादिशून्यः

पूर्वरूपस्थितो भवति तथात्रापि बोध्यमिति स्वधाम्नि प्रति बुद्धोऽक्षरः किंकृतवानिति चेत्तत्राह अहो इत्याश्चर्य्ये । महद्वृन्दावनं नाम वनं दृष्टं तत् किं इत्यपूर्वदृष्टाद्विस्मयः ॥ १७ ॥ तत्रापीति ॥ १८ ॥

भा०—अक्षरात्माके निजधाममें जाग्रत् होतेही रासमण्डलके स्वरूपका तिरोभाव हो गया और जैसे कोई स्वप्नावस्थासे जाग्रत दशाको प्राप्त हो स्वाप्निक पदार्थोंके प्रति आश्चर्य प्रगट करने लगे। उसी प्रकार अक्षरके मनमें विस्मय होनें लगा । अहो! मैंने क्या देखा और अब क्या हो गया। अरे! वह महारमणीय वृन्दावन, यमुना निकुंज, दिव्य वृक्षलतादिसे शोभित वृन्दावनकी रत्नमय भूमिका और परमसुन्दर रासमण्डल, कि जिसको मैं देख रहा था, वह सब कहां गया ?। अरे! रासोन्मत्त सखियोंके वृन्द कि, जो आनन्दित कर रहे थें सबके सब तिरोहित हो गए! इस प्रकार विस्मय परम्परामें निमग्न अक्षरके मनको रासका स्मरण होने लगा ॥ १७-१८ ॥

अहो लीलामृतं पुण्यं तत्सुधावारिधेर्मनाक् ।
निस्सार्य्य प्रभुणा दत्तमद्य स्वादूकृतं मया ॥ १९

गू०—अहो इति पुण्यं पवित्रं लीलैवामृतं पीयूषं अद्य मया-स्वादूकृतं कीदृशं तत् सैव लीलैव वारिधिस्तस्मान्निस्सार्य्यं मनाक् ईषत् प्रभुणाऽक्षरातीतेन दत्तम् ॥ १९ ॥

भा०—अहो ! अमृतमयी लीलाके रसका पान करनेका अवसर मुझे प्राप्त हुआ । अहो! प्रभुनें मुझे अपनी आनन्द लीलाके रसका पान कराकर कृतार्थ किया । अहोभाग्य कि अक्षरातीत प्रभुने कृपाकर अपनी किशोर लीलारूप सागरकी एकबुंदसे मेरेको कृतार्थकर अपना लिया १९

अल्पभाग्योदयात्किम्वा निश्शेषं तन्नपीतवान् ।
कः पिबन्तृप्तिमाप्नोति पीयूषं तद्गुणग्रहः ॥ २०

गू०—पुनः लीलामृतपानापेक्षयाह अल्पभाग्येति किम्वा अल्पभाग्योदयाद् निश्शेषं सर्वं तत् लीलामृतं न पीतवान्, तद्गुणान्गृह्णातीति तथाभूत कः पीयूषं पिबन्तृप्तिमाप्नोति न कोपीत्यर्थः

भा०—परन्तु भाग्यकी अपूर्णताके कारण प्रभुकी आनन्दलीलाकी एक बूँदके पान करनेको भी मैं समर्थ न हो सका, अन्यथा अमृतके पान करनेकी इच्छा किसको नहीं होवे ॥ २० ॥

समाध्यवस्था मे भिन्ना तत्सुखानुभवक्षणे ।
मध्ये जाग्रद्दशां प्राप्तो मन्ये तत्प्रभुणा कृतम् ॥२१

गू०—ननु सर्वं लीलामृतं कुतो नपीतं तत्राह समाध्यवस्थेति तस्याः लीलायाः सुखानि तेषां अनुभवक्षणे प्राप्ति समये मे समाध्यवस्था भिन्ना त्रुटिता किंच मनसीप्सितपूर्त्यर्थावसानाभावे जाग्रद्दशां प्राप्तः तत्सर्वं प्रभुणा स्वामिनाकृतं मन्येजानामि ॥२१॥

इत्युक्त्वासुगिरास्तौषीदक्षरः पुरुषोत्तमम् ।
पूर्णलीलाऽनीक्षणेन न्यूनंमन्यस्तदा विभुः ॥२२

गू०—अक्षरः सर्वलीलावलोकनं तत्तिरोधानं च प्रभुणाकृतं जानन्पुन स्तत्प्रसादेनैव लीलादर्शनं भविष्यतीति मन्वानः पुरुषोत्तमं तुष्टावेत्याह इत्युक्त्वेति तदालीलाया अनीक्षणेन अदर्शनेनन्यूनं मन्यः विभुरक्षरः इत्युक्त्वा पुरुषोत्तमं सुगिराऽस्तौषीत् ॥ २२ ॥

भा०—अहो! आनन्दलीलाके रसास्वादमें निमग्न मेरी चित्तवृत्तिकी

—: भावार्थ :—

बीचमेंही समाधि--अवस्था भंग हो गई और मैं जाग्रत हो गया अतः पूर्ण–आनन्द न ले सका। परन्तु यह भी प्रभुकी इच्छाके आधीन था, इसमें मैं करही क्या सकता था। इस प्रकार अक्षर ब्रह्मने अपनेको असमर्थ समझ तदर्थ अक्षरातीत परमात्माकी पुनः स्तुति करने लगे २१–२२

हे स्वामिनीश्वर! सखीश्वर! देवदेव! हे असमदीश्वर!। अजेश्वर! गेयगेय!॥ हे जेयजेय! जगदीश्वर! धेयधेय! हे नम्यनम्य! प्रणतेश्वर! गम्यगम्य!॥ २३

गु०—हे इति स्वं स्वीयं अस्ति सर्वं अस्येति स्वामी परमात्मा तदन्तःकरणवृत्तिः स्वामिनी तस्या ईश्वरः स्वामिनीश्वरः तत्संबुद्धौ हे स्वामीनीश्वर! पुनः समानतयाख्यायंते इति सख्यः तासामीश्वरः तत्संबोधने हे सखीश्वर! यदा सर्वशक्तियुक्तः पुरुषोत्तमः प्रसीदति तदैव सर्वश्रेष्ठा सिद्धिर्भवति इत्येतदर्थं स्वामिनीश्वर सखीश्वराविति सम्बोधनद्वयमितिबोध्यम्। दिव्यन्तिव्यवहरन्ति जगत्कर्तृकादिषु देवाः ब्रह्मादयः तेषां देवः देवदेवः यद्वा दीव्यन्ति स्वपन्ति रासावसरे पृथक् स्वरूपाभवाद्देव्योऽक्षरसख्यः तासां देवः क्रीडकः देवदेवः

भा०—हे स्वामिनीश्वर! अर्थात् श्री राजजीकी आनन्दाङ्ग—स्वरूप जो श्यामाजी हैं उनके ईश्वर, क्योंकि श्रीराजजीकी प्रसन्नताके बिना आनन्दका उल्लास नहीं हो सकता अतः स्वामिनीश्वर कहा है। हे सखीश्वर! स्वामिनीजीके अङ्गभूत सब सखीं हैं उनके ईश्वर। ब्रह्मादि देवोंके भी देव होनेसे हे देवदेव! कहा है। असदीश्वर–अक्षरसे लेकर यावत् अव्याकृत आदि स्थान हैं सबके ईश्वर होनेसे असमदीश्वर कहा है। हे अजेश्वरगेयगेय! अर्थात् अजा जो माया है उसके ईश्वर अव्याकृतसे

यद्वा दीप्यते स्तूयते जय जयेत्य।दिवाक्यं ब्रुवन्तीभिश्श्रुतिभिर्योऽसौ देवः केवलाख्यः पुरुषः तस्यापि देवः देवदेवः तत्संबोधने हे देव-देव! अस्माकं ईश्वरः तत्संबोधने हे अस्मदीश्वर! अस्माकमिति षष्ठी बहुवचनेन अव्याकृत, महाविष्णु नारायणादीनां संग्रहः अजा माया तस्या ईश्वरः अव्याकृतस्तेन गातुं योग्यः अहं अक्षर-स्तेन गेयः गातुं योग्यः हे अजेश्वरगेयगेय! जेतुं योग्यः जेयः तत्संबोधने हे जेयजेयेति वीप्सायां द्विवचनं जगत ईश्वरः जगदीश्वरः सं० हे जगदीश्वर! धातुं सर्वंधारयितुं पालयितुं वा योग्यः तत्संबुद्धौ हे धेय! डुधाञ् धारणपोषणयोः एतेन धारयितृत्वं पालयितृत्वं स्थापितीकृतमिति बोध्यं। पुनः धातुं पातुं योग्यः धेयः धेट्पाने इत्यस्माद्धातोः अचो यदित्यनेन यत् 'ईद्यति' इत्यनेनाकारस्येकार इति धेयन्तिहि परमात्मानं ध्यानद्वारा परमहंसाः पुष्परसं भृंगा इव अतो युक्तं धेयेतिसम्बोधनं नन्तुं नमस्कर्तुं योग्यो ब्रह्मादिभिर्योन-म्योऽक्षरः यद्वासर्वैनम्याः परमहंसाः तेनतैर्वानम्यः तत्सम्बुद्धौ हे नम्य-नम्य! प्रणता नम्रीभूताजनाः तेषामीश्वरः तत्सम्बोधने हे प्रणतेश्वर गन्तुंयोग्याः गम्यास्सर्वोपनिषत्सारभूताः ब्रह्मविद्यास्ताभिर्गम्यः प्राप्यः तत्सम्बुद्धौ हे गम्यगम्य अस्तिहि ब्रह्म विद्यागम्यत्वं परब्रह्मण इति ॥

—: भावार्थ :—

गान करने योग्य जो अक्षर (मैं हूं) उनके भी गान करने योग्य आप हो। जेय जेय! अर्थात् सबसे उत्कृष्ट। हे जगदीश्वर! सबके पालन करने-वाले हो अर्थात् अपनी आज्ञा मात्रसे सबके धारण पालन करनेवाले। पुनः हे धेय! अर्थात् सबके लक्ष्य रूप आप हो। हे नम्य! प्राणीमात्र द्वारा नमस्कार करने योग्य जो ब्रह्ममुनि हैं उनसे भी नमस्कार करने योग्य हो। पुनः प्रणत जनोंके ईश्वर हो। हे गम्य गम्य! अर्थात्

—: भावार्थ :—

सर्वोपनिषदोंका सारभूत जानने योग्य जो ब्रह्म विद्या है उससे गम्य अर्थात् तदेकवेद्य आप हो ॥ २३ ॥

हे रासमण्डल–महीश्वर ! राधिकेश ! हे केशवेश्वर ! रमारमणेश! केश, हे गोकुलेश्वर ! गवीश्वर ! गोपतीश गोलोकपेश ! रसिकेश्वर ! हे सुधीश ! ॥ २४

गू०—हे रासेति रासमण्डलस्य या महीभूमिः तस्या ईश्वरः तत्सम्बोधने हे रासमण्डलमहीश्वर ! राध्यते साध्यते सर्वं परब्रह्मेप्सितम् यया सा राधा राधसंसिद्धावस्मात्कर्मणिघञ् ततष्टाप्च । रातिददाति परमानन्दं योऽसौ रः अक्षरातीतः तं आसमन्ताद्दधातिधत्तेवाराधा रमिति कर्म्मण्युपदे आङ् पूर्वाद्दधातेर्डः ततस्त्रियांटाप् इति राधैवराधिका तस्या ईष्टे इतीशः तत्संबोधने हे राधिकेश ! कः ब्रह्मा ईशः शिवः तौच केशौ तौ वासयति वसनिवासे यद्वावस्थे आच्छादयति अवस् आच्छादने यद्वातौवासयति प्रकाशयति इति ताभ्यांवातिगच्छतीति वा गतिगंधनयोः यद्वा वेति व्याप्नोतीति गच्छति वा वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु एभ्यः धातुभ्यः केशौकेशाभ्याम्वेतिनामन्युपपदे डः प्रत्ययोभवति तदाकेशव इति स्यात्सच विष्णुः तस्येश्वरस्तत्संबुद्धौ हे केशवेश्वर एतत्सम्बोधनेन त्रिदेवेश्वरत्वं तस्य प्रकाशितं । रमयारमते रमारमणः वैकुण्ठवासी विष्णुः तस्या ईशः एतेनलक्ष्मीसहितस्यापिविष्णोरीशत्वं तत्सम्बोधने हे रमारमणेश ! कं सुखमद्वैतानन्दः तस्येशः तत्सम्बुद्धौ केशः ! गोपिकानां गोलोकवासिनीनां ईश्वरः तत्संबुद्धौ हे गोपिकेश्वर ! गवांधेनूनांवावाणीनां वा इन्द्रियाणां ईश्वरः गवीश्वरः तत्संबोधने हे गवीश्वर ! गवांपतयः

गोपालः तेषामीशः तत्सम्बोधने हे गोपतीश ! गोलोकं मातिरक्षंतीति गोलोकपः गोलोकवासी भगवान् तस्येशः तत्संबोधने हे गोलोकपेश ! रसं जानन्ति ते रसिकाः तेषामीश्वरः रसिकेश्वरः तत्संबोधने हे रसिकेश्वर ! सुष्ठु धीः येषांते सुधियः ब्रह्मप्रियाः तेषामीशः तत्सम्बोधने हे सुधीश इति ॥ २४ ॥

भा०—हे रासमण्डल-महीश्वर ! अर्थात् रासमण्डलकी योगमायामयी भूमिकाके आप ईश्वर हो । आप राधिकाके पति हो । पुनः हे केशवेश्वर ! ब्रह्मा शिवादिकोंको वशमें रखनेवाले केशव (विष्णु) के आप ईश्वर हो । पुनः रमारमण-विष्णुके ईशभी आप कहे जाते हो । विष्णुके तीन स्वरूप होनेसे दुबारा विष्णुका ईश कहा है । हे केश ! अर्थात् अद्वैत आनन्दके ईश । पुनः आप गोपिकेश्वर हैं । पुनः वाणी वा धेनुओंके ईश्वर भी आप हैं । हे गोपतीश—गोपालोंके रक्षक । गोलोकके पति जो कृष्ण हैं उनकेभी ईश्वर आप रासके ईश्वर हो । हे सुधीश ! सुष्ठु धी—सद्बुद्धिवाले ब्रह्मप्रियाओंके आप ईश्वर हो ॥ २४

हे प्राणनायक सुगायक शुद्धवाचां हे तारतम्य मनुदायकरुद्धवाचाम् । पाखण्डसायक सुलायक सर्वशक्तेर्हेमायकेश्वर ! स्वकीय विभूतिकायाः ॥ २५

गू०—हे प्राणेति प्राणान्नयतीति प्राणनायकः तत्संबुद्धौ हे प्राणनायक ! हे शुद्धानां वाचां सुगायक ! मायावरणेन रुद्धावाग्येषां तेषां तारतम्यं मनुं ददातीति तत्संबुद्धौ हे तारतम्यमनुदायक पान्ति-रक्षन्ति जनानिति पाः वेदोक्तसद्धर्म्माः तान्खण्डयंतीति ते पाखण्डाः सद्धर्म्माः तानस्यति नाशयति तत् सम्बोधने हेपाखण्डसायक ! सर्वशक्तिं सुष्ठुलाति गृह्णातीति तथा कर्म्मणि षष्ठी सर्वशक्तेः सुलायक ! स्वकी-

यया विभूतिकाया विभूतेरेव भातीति स्वकीय विभूतिकायाः मायकः तत्संबुद्धौ हे स्वकीयविभूतिकायामायक ! ईष्टे इत्येवंशीलः ईश्वरः निरतिशयाखण्डैश्वर्य्यसंपन्नः तत्सम्बुद्धौ हे ईश्वर इति ॥२५

भा०—हे प्राणोंके नायक ! शुद्धवाणीके गायक ! मायाके कारण रुक गए हैं वचन जिनके, ऐसे निजजनोंको तारतम्य देनेवाले । पाखण्डोंके नाशकर्ता । सम्पूर्ण शक्तिके ग्रहण करनेवाले अपनें ऐश्वर्यके स्वयं ज्ञाता प्रभो ! आप अखण्ड ऐश्वर्ययुक्त हो ॥ २५ ॥

भो वागगम्य ! हृदगम्य गवीडगम्य ! साङ्गैरगम्य ! श्रुतिशास्त्रपुराणवर्गैः। स्वारम्यरम्य ! गुरुगम्य ! त्विषां चयस्य सर्वत्र नम्य ! सुनियम्य ! तमश्चयस्य ॥ २६

गू०—वाग्भिः अगम्यः तत्संबुद्धौ भो वागगम्य भो हृदामनसा अगम्य ! गवामिन्द्रियाणामीशा देवास्तैरगम्यः तत्संबुद्धौ हे गवीडगम्य, साङ्गैः शिक्षादिसहितैः श्रुतयः शास्त्राणि पुराणानिचतेषांवर्गैः समूहैः अगम्यः तत्संबुद्धौ साङ्गैः श्रुतिशास्त्रपुराराणवर्गैरगम्य स्वस्मिन्नासमन्ताद् रन्तुं योग्याः स्वारम्याः परमहंसाः तैः रन्तुं योग्यः तत्संबोधने हे स्वारम्यरम्य, गुरुणासद्गुरुणा गम्यः प्राप्यः तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदिति श्रुतेः तत्सम्बोधने गुरुगम्य, इ सर्वत्रयोज्यं । त्विषां चयस्य वमितुं निःसारयितुं योग्यः एतेन तन्निसृततेजसश्चय एवं सर्वत्र भासते तस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरमिति श्रुतेः तमश्चयस्य अज्ञानसमूहस्य सुनियमयितुं शमयितुं योग्यः तत्संबुद्धौ हे तमश्चयस्यसुनियम्य ! एतेनाज्ञानसमूहस्य नाशित्वं दर्शितमिति ॥ २६ ॥

भा०—हे मन, वाणी और इन्द्रियाधीशोंसे अगम्य ! साङ्गवेद

—: भावार्थ :—

शास्त्र पुराणादिसे अगम्य हे प्रभो! आप अपने आत्मविषयरमण करनेवाले ब्रह्ममुनियोंके भी रमण करने योग्य हो। हे गुरुगम्य! आप गुरुद्वारा प्राप्त होनें योग्य हो "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदिति श्रुतेः" परमात्माके ज्ञानार्थ ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जावे, इत्यादि श्रुति आपको गुरुगम्य वर्णन करती है। हे प्रभो! आपके प्रकाशसे चराचर विकाश पा रहा है। आपही अन्धकारके नाशकरनेवाले हो ॥ २६ ॥

यत्प्रेमलीला-वारीशनिःसृताम्बुकणस्त्वया ।
पायितोऽहं दयासिन्धो पुनर्दातुं त्वमर्हसि ॥ २७

गू०—एवं संबोध्य स्वेष्टं दर्शयति। हे दयायाः सिन्धो! प्रेम लीलैव वारीशः समुद्रः तस्मान्निःसृतो योऽम्बुकणः त्वयाहं पायितः प्रयोज्य कर्म्मणि क्त इति। यद् तत्पुनर्दातुं त्वमर्हसीत्यन्वयः ॥२७॥

भा०—इस प्रकारसे अक्षरातीत परमात्माकी स्तुति पूर्वक याचना करते हुए अक्षर ब्रह्मने ब्रह्मलीलाके रसपान करनेकी पुनः अभिलाषा प्रगट की ॥ २७ ॥

भूयस्तुष्यतु प्राणेशो दर्शयत्वेव पूर्ववत् ।
समाध्यवस्थां मे दद्याल्लीला यद्गोचरी भवेत् ॥२८

गू०—भूय इति प्राणेशः भवान्भूयः तुष्यतु किं मम तोषणे नेति चेत्तत्राह पूर्ववद्दर्शयत्वेव प्रार्थनायां लोट् यथापुरा रासलीला दर्शिता तथाधुनापि दर्शयेति भावः। कथं दर्शयामीति चेत्तत्राह समाध्यवस्थां भवान् दद्यात्पूर्ववदद्यापि योजनीयः यद्यतः लीला-गोचरी भवेत् आदावपि समाध्यवस्थायामेव लीलागोचरी अभूत् तथाधुनापीति प्रार्थना ॥ २८ ॥

भा०—हे प्राणनाथ ! यदि आप मेरेपर प्रसन्न हैं तो जैसी लीला प्रथम दिखाई उसी प्रकार पुनः दिखानेकी दया करें । जैसी समाधि–अवस्था पहले थी, उसी प्रकारकी पुनः प्रदान करें । जिससे वृन्दावन सम्बन्धी रासलीला देखनेमें समर्थ हो सकूं ॥ २८ ॥

पुनर्विचारयामास यद्दृष्टं ध्येयमेव तत् ।
अभविष्यद्दयालुश्चे–द्दर्शयिष्यति मे पुनः ॥ २९

टी०—पुनरिति । पुनः प्रार्थनानन्तरं विचारयामास अक्षर इत्याध्याहारः । यद्वृन्दावनं दृष्टं तद्ध्येयमेव पुनः दयालुः अभविष्यच्चेत्तर्हि मे मम दर्शयिष्यत्येव ॥ २९ ॥

भा०—तत्पश्चात् अक्षर ब्रह्मने विचार किया कि जो लीला अभी देखी थी उसका पुनः ध्यान करना चाहिये; जिससे विस्मृत न हो जावे और यदि अक्षरातीत प्रभुकी कृपा होगी तो दुबारा अपनी लीलाका दर्शन फिर करावेंगे ॥ २९ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य ह्यक्षरस्य महात्मनः ।
वृन्दावनगता लीला त्वखण्डाभून्निजे हृदि ॥ ३०

टी०—एवं चिन्तयतोऽक्षरस्यहृदि वृन्दावनसंबंधिनी लीला त्वखण्डाजातेत्याह एवमिति ॥ ३० ॥

भा०—इस प्रकार चिन्तवन करते हुए अक्षरके हृदयमें अविच्छिन्न स्मृतिद्वारा वृन्दावनकी रासलीला अखण्ड हो गई । इस विषयमें माहेश्वरतंत्रमें महादेवजी लिखते हैं कि—

अक्षरस्य मनोवृत्ति–रावेशरहिता पुनः ।
स्थानं प्राप्ता रासलीला वासना वासिता सती ॥

—: भावार्थ :—

तया विहितविज्ञानो मण्डलस्थमतर्कयत् ।
एवं ददर्श भगवान् रासलीला—रसोदयम् ॥

अर्थः—अक्षर ब्रह्मकी मनोवृत्ति अक्षरातीतके आवेश रहित होतेही अपने स्थान—निज धामको प्राप्त हो गई परन्तु रासलीलाकी वासनासे वासितान्तःकरण होनेसे रासके आनन्दको बारम्बार चिन्तवन करने लगी कि, " अरे मैंने राससीलाके आनन्दको देखा परन्तु पूर्ण न ले सका अहो परमात्माने अपने आनन्दरसका पान तो कराया परन्तु मनोरथ पूर्ण न हो पाया " इस प्रकार रासमण्डलस्थ आनन्दका पुनः पुनः चिन्तवन करते हुए रासलीलाका दृश्य चित्तमें चढ़ गया और अक्षर ब्रह्म रासलीलाके आनन्दका निरन्तर अनुभव करनेलगे ॥ ३० ॥

अन्तर्बुद्धौ तु यद्ध्यान—मन्तर्ध्यानं तदुच्यते ।
अदृष्टायास्तु लीलायाश्चिन्तनं ध्यानमीर्य्यते ॥ ३१

भा०—अपूर्व दृष्टलीलाके चिन्तवनको ध्यान कहते हैं और अन्तःकरणमें निजबुद्धिद्वारा जो चिन्तवन है उसे अन्तर्ध्यान कहते हैं ॥ ३१ ॥

यल्लीलादर्शनापेक्षस्ततताप भगवांस्तपः ।
तस्यास्सन्दर्शने याते लब्धानन्दो बभूव ह ॥ ३२

भा०—अक्षर ब्रह्मने जिस लीलाको देखनेकी इच्छासे परम तप किया था उस लीलाके दर्शनसे परमानन्दको प्राप्त हुए ॥ ३२ ॥

लीलां दिदृक्षवे मह्यं गोचरीकृतवान्प्रभुः ।
इत्येवं भावयामास भगवानक्षरो हृदि ॥ ३३

भा०—अक्तर भगवान् मनमें विचार करते हैं कि मेरी इच्छाको पूर्ण करनेके लियेही प्रभुजीने कृपाकर इस अगोचर लीलाका दर्शन कराया अन्यथा–प्रभुकृपा बिना इस लीलाके देखनेका सामर्थ्य किस प्रकार प्राप्त होता ॥ ३३ ॥

अन्तर्य्यामीदयालुः सः सर्वेशः सर्वविद्विभुः ।
अकिञ्चनप्रियश्शश्वत्पूर्णात्मा भावगोचरः ॥ ३४
अनन्यनाथं मां ज्ञात्वा दर्शयामास वैभवम् ।
स्वस्य प्राणपतिर्नूनमेतद्ध्येयं मया सदा ॥ ३५

भा०—सबके अन्तरकी जाननेवाले परमदयालु पूर्ण परमात्मा जिनको अकिंचन (गरीब) जन प्रिय हैं, मेरे ऊपर कृपा क्यों न करते । हे प्राणनाथ ! प्रभो ! आपने मुझे अनन्यशरण और अनाथ समझकर अपने वैभवका दर्शन कराया अतः मैं अपनेको भाग्यशाली समझता हूं । अरे प्रभो ! आपकी लीलाका यह दर्शन तो मुझे सदाकाल ध्यानमें रखना चाहिये, इस प्रकार रासलीलाको भगवानने ध्यानस्थ बना लिया ॥३४–३५

वृन्दावने रासलीला निश्चलाक्तर संविदि ।
तत्रैव निश्चला याता व्रजलीलाक्तरात्मनि ॥ ३६

गू०–इदानीमक्षरस्य हृदि यथावृन्दावनस्थारासलीलाखण्डा तथा तत्रैवव्रजलीलापीति दर्शनार्थं मुक्तमनुवदति वृन्दावनमिति ॥ ३६ ॥

भा०—जिस प्रकार वृन्दावनकी लीला अक्तरके हृदयमें अखण्ड हुई उसी प्रकार व्रजलीलाका ध्यान चित्तमें चढ़ आनेके कारण अक्तरके चित्तमें व्रजलीला भी अखण्ड हो गई ॥ ३६ ॥

अक्षरस्य हृदाकाशे नित्यं वृन्दावनं विदुः ।
महर्षयस्तु नान्ये वै विषयासक्त–चेतसः ॥ ३७

गू०—नन्वक्षरस्य हृदि वृन्दावनस्य स्थितत्वमुक्तं तत्के जानन्तीतिचेत्तत्राह अक्षरस्येति महर्षयोनिर्मलबुद्धयो विदुर्नान्ये विषयिण इति नन्वक्षरस्यहृदिस्थितं नित्यं वृन्दावनमित्यत्र किं प्रमाणमितिचेच्छृणु भवत्युक्तं वृहद्वामने श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वंलोकं प्रकृतेः परं केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगमिति तथैवोक्तं पुराणसंहितायाम् " वृन्दावनाश्रया लीला साधु सर्वत्र दुर्लभा । गुह्याद्गुह्यतमागम्या नित्याऽक्षरहृदि स्थिता " ॥ ३७ ॥

भा०—अक्षर भगवानके हृदयमें यह लीला किस प्रकार और किस लिये अखण्ड हुई, इस बातको केवल महर्षि–परमहंस ब्रह्मप्रियाजनहीं समझते हैं, विषयासक्तचित्त मायाके विषयी जीव नहीं, क्योंकि विषयासक्त पुरुष ब्रह्मलीलाके रहस्यको समझनेका अधिकार नहीं रखता । प्रश्न–अक्षरके हृदयमें नित्य वृन्दावनके होनेका प्रमाण क्या है ? उत्तर–देखो ! बृहद्वामन पुराणमें लिखा है कि–

श्रुत्वैतद् दर्शयामास स्वंलोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्द–मात्रमक्षर—मध्यगम् ॥

अर्थः—वेदोंके स्तुति करने पर कृष्णने प्रकृतिसे पर अपने लोकको दिखाया । जो केवल अनुभवैकवेद्य आनन्दमात्र धाम अक्षर ब्रह्मके मध्य–हृदयमें वर्तमान था । पुराणसंहितामें भी वृन्दावनको अक्षरके हृदयमें ही वर्णन किया है । यथा—

" वृन्दावनाश्रयालीला साधु सर्वत्र दुर्लभा ।
गुह्याद् गुह्यतमागम्या नित्याऽक्षरहृदिस्थिता ॥ "

अर्थः—सब प्रकारसे दुर्लभ वृन्दावनमें होनेवाली लीला गुह्यसेभी गुह्य है। अक्षर ब्रह्मके हृदयमें नित्य वर्तमान वह लीला अगम्या—अर्थात् अगोचर और दुष्प्राप्य है" इत्यादि प्रमाणोंसे अक्षरके हृदयमें वृन्दावनका होना पाया जाता है॥ ३७॥

वृन्दावनस्य नित्यत्वं घटते नान्यथा क्वचित्।
पाञ्चभौतस्य नाशित्वाज्जगतोऽसत्यरूपिणः॥ ३८

गू०—अक्षरस्य हृदयमन्तरेणान्यत्र वृन्दावनस्य नित्यत्वं न संजातं घटतीत्याह वृन्दावनस्येति॥ ३८॥

भा०—अन्यथा इस जगतमें नित्य वृन्दावनका होना सम्भव नहीं क्योंकि पञ्चभौतिक मायाजन्य असत् जड़ दुःखरूप यह विश्व नाशवान है और नाशवान जगतमें नित्य वृन्दावन हो नहीं सकता अतएव उपरोक्त प्रमाणानुसार नित्यवृन्दावनको अक्षरके हृदयमेंही मानना योग्य है॥३८॥

वियोगवह्निसंतप्ता स्वामिन्येकावने स्थिता।
विललाप रुदन्ती सा चित्रधाथसती प्रिया॥ ३९

गु०—इदानीमन्तर्ध्यानविषयं व्यक्तीकृत्याथ यदुक्तं 'यावदारूढकामासौ तावत्कृष्णस्तिरोदधे इति' तत्र कृष्णेन्तर्हिते सति वनेस्थितैका श्रीश्यामा किं कृतवतीति चेत्तत्राह वियोगवह्नि संतप्तेति॥ ३९॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकारसे अन्तर्ध्यानका निरूपण किया अब वृन्दावनके उस वृत्तान्तको दिखाते हैं जो श्रीकृष्णके अन्तर्ध्यानके पश्चात् वियोगरूप अग्निसे संतप्त हो राधिकाजी तथा सखियोंने विलाप करते हुए किया है। कृष्णके वियोगसे विकल हो राधिकाजी अकेली बनमें विलाप करने लगती हैं॥ ३९॥

अथेतः प्रेष्ठविरहक्लान्त-चित्तास्तु गोपिकाः ।
रुदन्त्यः सुस्वरं सख्यः पप्रच्छुर्हि तरून्प्रति ॥ ४०

भा०—इधर सखियोंने अपने वृन्दमें कृष्णको न देखा तो वियोगसे विकल हो उच्चस्वरसे विलाप करती हुई वृक्षादिकों से पूछने लगीं।

हे लतास्तरवोऽत्रत्या दृष्टो वो नन्दनन्दनः ।
प्रियया सहितोऽस्माकं मनो हृत्वागतः क्वचित् ।।४१

गु०—भगवद्विरह क्लान्तचित्तत्वात्तरून्संबोध्य भगवत्पदवीं पृच्छन्त्योगोप्य ऊचुः हेलता इति । किन्तु विह्वलमानसानामियमेव-रीतिर्लोकसिद्धेति असौ जानाति न जानातिवेति न विचारयन्ति पुरा सीतावियोगजनितदुःखक्लान्तचित्तेन रामेणापि ये समीप वर्तिनस्तरवः सीतापदवीं पृष्टा इति वाल्मीकीय रामायणे प्रसिद्धं अपि च यत्तरून्प्रति प्रश्नोऽवर्णि, सच भगवद्वियोगदुःखेनाति विह्वलत्त्वं दर्शितमिति अथवा, वृन्दावनतरूणां गोपिका प्रश्नेन चेतनत्वं सूचितं भवति, सतिचेतनावत्वे कथं तरुभिरुत्तरं न दत्त-मिति चेद्बाढं पूर्णब्रह्मपदवीमजानन्तो मूका इवाऽभवन् 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति श्रुतेः' अथवा युष्माकं मध्यवर्त्ती कृष्णोयुष्माभिर्न दृष्टः कथं दूरीभूताः वयं जानीमः इत्याश्चर्य्येण ते मूका इवाभवन् इति बोध्यम् ।। ४१ ।।

भा०—सखियां विरह विह्वल हो वृक्षोंसे पूछती हैं कि हे वृक्षो ! हे लताओ ! तुमने हमारे मनको हरणकर ले जानेवाले राधिका सहित नन्दनन्दनको देखा है ? तुम तो सदाकाल मार्गमें खड़े रहते हो तुमनें तो जाते हुए अवश्य देखा होगा, इस प्रकार व्याकुल हो जड़ चेतनका

—:भावार्थ:—

विचार किये बिनाही वृक्षोंसे पूछने लगीं। प्रश्न—क्या गोपीजन यह नहीं जानती थीं कि वृक्ष जड़ हैं? अतः ये कृष्णके जानेके विषयमें कुछ नहीं कह सकते पुनः वृक्षोंसे गोपियोंने किसलिये पूछा? इसके उत्तरमें कुछ लोगोंका कहना है कि कृष्णके वियोगजन्य दुःखके कारण उनके चित्त इतनें व्याकुल हो गये थे कि उन्हें जड़ चेतनका ज्ञान ही नहीं रहा इसीलिये जड़ वृक्षोंसे पूछने लगीं थी। जिस प्रकार सीताके वियोगमें रामचन्द्रजी व्याकुल चित्त होकर बन २ में पेड़ोसें पूछते हुए मारें २ फिरते थे इसी प्रकार गोपियोंकी दशा समझनी चाहिये। परन्तु वस्तुतः कृष्णके अन्तर्ध्यान पीछे सखियोंने जो प्रश्न वृक्षोंसे किये हैं उनका उपरोक्त तात्पर्य नहीं था। यद्यपि कृष्णके वियोगसे गोपियोंके चित्त व्याकुल हो जड़ चेतनका ज्ञान भूल गए थे, यह बात यथार्थ है परन्तु वृन्दावनके वृक्ष जड़ नहीं थे। वृन्दावनके वृक्ष तो कल्पनामात्रसे इच्छा पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षके समान कामदुध थें। उन्हें जड़ कहना अज्ञानता है। क्योंकि योगमायामय बृन्दावनकी भूमिका, वृक्षादि सभी चेतन थे, ऐसा लिखा है। बृहद्भागवतामृतमें वर्णन आता है कि-

यस्यैकवृक्षोपि निजेन केनचिद्द्रव्येण कामांस्तनुतेर्थिनोऽखिलान्।
तथापि तन्नैव सदा प्रकाशयेदैश्वर्यमीशः स्वविहार विघ्नतः॥

अर्थः—जिस वृन्दावनका एकही वृक्ष अपनी किसी वस्तुसे सबकी इच्छामात्र पूर्णकर सकता था तथापि कृष्णके रासविहारमें अथवा उनकी स्वकीय लीलामें किसी प्रकारका विघ्न न हो जावे, ऐसा समझकर अपने सामर्थ्यको वृक्षोंने प्रकाशित नहीं किया" इत्यादि प्रमाण बृन्दावनके वृक्षोंको ज्ञानयुक्त वर्णन करते हैं इसलिये "गोपियोंनें जड़ वृक्षोंसे क्यों प्रश्न किये?" ऐसा प्रश्नही नहीं उपस्थित

—: भावार्थ :—

होता। प्रश्न—यदि वृन्दावनके वृक्ष चेतन एवं ज्ञानयुक्त थे तो सखियोंको प्रत्युत्तर क्यों न दिया? । उत्तर—देखो जी! पूर्णब्रह्म परमात्माकी पदवी (मार्ग) सबको दुर्लभ है "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" श्रुति वर्णन करती है कि 'परमात्माके स्वरूपका पता लगाना, इस लिये कठिन है कि उसे मन सहित वाणी दौड़ा कर भी नहीं पाया जा सकता? जब मन सहित वाणीही परमात्माको नहीं पा सकती तब वृक्ष किस प्रकार वर्णन करते। अपने मौन सेवन द्वारा वृक्ष इस बातका संकेत करते थे कि सदाकाल कृष्णके साथमें लीलाविहार करने वाली, उनके स्वभाव तथा गतिसे परिचित, जब आप लोगही उनके मार्गको नहीं जान सकतीं तब वृक्षसंज्ञावाले हमलोग कि जो सदाकाल उनसे दूर रहते हैं, उनके मार्गको किस प्रकार जान सकें, ऐसा समझ वृक्षोंने कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

पृच्छन्त्यो वै प्रियं श्याम–मित्थं नानाद्रुमान्वने।
राधिकासहितस्यास्य पादचिह्नं विलोक्य ताः ॥४२
ऊचिरे पश्यतेमानि पदानि परमात्मनः।
एवं ब्रुवन्त्यो गच्छन्त्यो ददृशुस्तल्पमुत्तमम् ॥ ४३

गू०—एवं भगवत्पदवीं विचिन्वन्त्यः सख्यो योगिन इव कुत्रचिद् राधिका सहितस्य भगवतः पादचिह्नमालोक्य परस्परमिदमूचुः। पादचिह्नानुसारेण वनानन्तरं गच्छन्त्यक्वचित्तल्पं पुष्पपत्ररचितं भगवन्निवासचिह्नान्वितं दृष्ट्वोचुः परस्परमित्याहार्द्धेन ४२–४३

भा०—वनके नाना वृक्षोंसे श्याम सुन्दरको पूछती हुई राधा सहित

—: भावार्थ :—

कृष्ण चिह्नको देखकर एक दूसरीसे परस्परमें कहती हैं कि देखो, सखियो ! कृष्ण राधिका इसी मार्गसे गए हैं, तभी तो पादके चिह्न बने हैं। इस प्रकार कृष्ण राधिकाके पादचिह्नोंका अन्वेषण करती हुई उस कुंजमें पहुंचती हैं, जहांपर पुष्पशय्या बनाकर राधिकाजीके साथ कृष्णने विहार किया था ॥ ४२-४३ ॥

तत्राहुर्दृश्यतां सख्यो रेमेऽत्र कान्तया प्रभुः ।
स्थित्वासक्तुद्धरिस्तल्पे वनिता-प्रियमुद्वहन् ॥ ४४

भा०—पुष्प कुञ्जको देखतेही कुतूहलयुक्त एक सखी दूसरीसे कहती है । अरी ! देख ! श्यामसुन्दरने यहांपर राधिकाजीके साथ विहार किया है । अहो ! राधिकाजीके बड़े भाग्य हैं, हम सबसे प्रीति छोड़कर चले गए है; किन्तु राधिकाजीका साथ नहीं छोड़ा । श्यामकी उनके साथ बड़ी प्रीति है ॥ ४४ ॥

ततोऽपि गहने दूरे कुञ्जे द्रुमलताकुले ।
वियोगदुःखसंतप्तां स्वामिनीं ददृशुः प्रियाः ॥४५

भा०—इसके अनन्तर जब सखी और आगे बढ़ीं तो देखती हैं कि एक अत्यन्त सघन कुंजमें श्यामके वियोगसे व्याकुल होकर श्यामाजी भी विलाप कर रही हैं ॥ ४५ ॥

भो प्रिये ! क्वास्ति प्राणेशो लक्ष्यसे खिन्नमानसा ।
त्वां त्यक्त्वा कुत्र गतवान्निशायामम्बुजेक्षणः ॥४६

गू०—दृष्ट्वा च तां पप्रच्छुरित्याह भो प्रियेति! प्राणेशः प्राणे-

श्वरः अस्माभिर्लक्ष्यसे खिन्नमानसात्वमिति, अस्मान्संत्यज्यत्वत्सन्निधौ प्राप्तः त्वां त्यक्त्वा कुत्रजातः इत्यभिप्रायेण त्वामित्याहुः ॥ ४६ ॥

भा०—राधिकाजीको विरहव्याकुल देखकर सखी पूछती हैं कि हे प्रिये ! प्राणोंके नाथ कृष्ण कहां गए । अरे ! प्राणसे भी प्रिय तुमें छोड़कर चले जानेंवाले कृष्ण कहां हैं ? ॥ ४६ ॥

तदाह राधिका सख्यः श्रूयतामिति मे वचः ।
रसाम्बुधिनिमग्नां मां रहस्त्यक्त्वा तिरोऽभवत् ॥४७
एकाकिनी वनेऽहं तु विलपामि भृशं प्रियाः ।
अधुना भवतीनां वै संगलब्धसुखा मनाक् ॥ ४८

भा०—इतना सुनतेही राधिकाजी कहती हैं, हे सखियो ! मेरी दशा सुनो, रससागरमें निमग्न छोड़कर जबसे निर्मोही श्याम अन्तर्ध्यान हुए हैं, तबसे वनमें अकेली बारम्बार विलाप करती हुई असह्य दुःखको प्राप्त हो रही हूं । परन्तु तुम सबके आजानेसे थोड़ासा सुख मिला, यही बड़े भाग्यकी बात है । वियोगमें आप लोगोंके मिलनेसे कुछ धैर्य तो प्राप्त हुआ ॥ ४७-४८ ॥

अन्विष्यतां प्रियोऽस्माभिर्गम्यतां माचिरं प्रियाः ।
मिलिष्यति न संदेहो रसिकः श्यामसुन्दरः ॥ ४९

गू०—स्वयमुद्यतास्वामिनी भगवदन्वेषणंप्रति सर्वाः आज्ञापयति मिलिष्यत्येव श्यामसुन्दर इति अन्विष्यतां विमृग्यताम् ॥४९॥

भा०—अच्छा हुआ कि अब सबजनी मिलकर शीघ्रही श्यामका अन्वेषण कर सकेंगी । चलो श्यामको ढूंढ़ें, क्योंकि श्याम तो रसिकविहारी हैं, वह अकेले नहीं रह सकते, अतः अवश्य मिल जायंगे ॥

राधावाणीं निशम्यैवं तथा चक्रुः सखीजनाः ।
तयासाकं विपृच्छन्त्यो द्रुमान्प्रति वनाद्वनम् ॥५०

भा०—इस प्रकार राधिकाजीके कहने पर सब सखीं मिलकर वृक्षोंसे पूछती हुई वन वनान्तरोंमें जा जा कर अनेक प्रकारसे कृष्णको ढूंढ़नें लगीं ॥ ५० ॥

वृन्दावनं मृग्यमाणा यावच्चन्द्रः प्रकाशते ।
अग्रतस्तु तमो दृष्ट्वा निवर्त्तन्तेस्म दुःखिताः ॥ ५१

गू०—वृन्दावनमिति। ननुचन्द्रमसः प्रकाशस्यनिश्शेषरात्रिपर्य्यन्तप्रकाशकरत्वात्कथं तमसः प्रवेशोऽभिहितः नच लतादिविहितोदरे कस्मिंश्चिद्वने प्राप्ताः सख्यो वृक्षलतादिछायाजन्यं तमः आलोक्य निवृत्ता इति वाच्यं वृन्दावनभूमिकायाश्चिन्तामणिमयत्वात् तत्र तत्र गच्छन्तीनां ब्रह्माङ्गनानां कोटिसूर्य्यचन्द्रसम—भूषणाम्बरजुटित रत्नमयूषोदयाच्च अथ किं तावत्तमोमन्तव्यमिति चेच्छृणु योगमायान्तर्गतवृन्दावनं यत् तावच्चन्द्रप्रकाशोबोध्यः वृन्दावनाद्बहिर्यत्कालमायामयमण्डलान्तर्गत व्रजादिः तत्रापि भगवदन्वेषणमिच्छन्त्यो गोप्यः तमसोऽन्धकारभूतं विश्वं अप्रकाशात्मकं योगमायास्वरूपं वा दृष्ट्वा निवृत्ताः हरेरन्वेषणादिति विभाव्यम् ॥ ५१ ॥

भा०—जहांतक चन्द्रमाका प्रकाश दृष्टिगोचर होता रहा और कुंज निकुंज देखनेमें आते रहे ढूंढ़ती रहीं, परन्तु जैसेही वृन्दावनके आगे बढ़कर ढूंढ़नेको जानें लगीं तो देखनेमें आया कि आगे अन्धकार है इस लिये निराश होकर लौट आईं । यथा—

ततोऽविशन् वनं चन्द्र ज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः [भा० १०–३०–४२]

—: भावार्थ :—

अर्थात् जहांतक चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना देखनेमें आती थी वहांतक नमें आगे प्रवेश करती गईं परन्तु जब आगे अन्धकारको देखा तो गोपी पीछे लौटें आईं " इस प्रकार लिखा है। शङ्का–पूर्णमासीका चन्द्र तो स्वतः पूर्ण और रात्रिभर प्रकाशित रहता है तब तो अन्धकार न होना चाहिये। कदाच कहा जाय कि वनकी गहनताके कारण वृक्ष लताओंकी छायासे अन्धकार प्रतीत हो सकता है तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि वृन्दावनकी चिन्तामणिमयी भूमिका होनेसे उसका प्रकाश ही कोटिन चन्द्र सूर्यको निस्तेज कर सकता था, और गोपियोंके आभूषण भी योगमायामय रत्नजटित होनेसे लौकिक सूर्यके प्रकाशको कान्तिहीन करते थे; ऐसी दशामें अन्धकारका होना कैसे सम्भव माना जाय ? । समाधान—देखो जी ! योगमायामय वृन्दावनमें जहांतक रासमण्डल था वहांतक तो चन्द्रका प्रकाश था अतएव सखीं ढूंढ़ती रहीं, परन्तु जब कृष्णको न पाया तो विचार किया कि कृष्णमहाराज व्रजमें चले गए होंगे, इसलिये चलो व्रज गोकुल आदि स्थानोंमें ढूंढें, इस प्रकार निश्चय कर व्रजकी ओर आगे बढ़ीं, किन्तु कालमायामय ब्रह्माण्डका तो नाश हो गया था केवल + अन्धकार दिखाई पड़ा अतः पीछे लौट आईं ॥ ५१ ॥

टिप्पणी

+ वस्तुतः जिसे देखकर गोपिका पीछे लौट आईं वह अन्धकार योगमायाका ही था क्योंकि योगमायाका स्वरूप प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भेदसे दो प्रकारका माना गया है।

पुरः प्रकाशः पश्चात्तु शून्यमासीद् व्रजस्त्रियः ।
प्रविष्टा मण्डलं सर्वा योगमायिक मुत्तमम् ॥

पुनः पुलिनमायाता यामुनं स्वामिनीमुखाः ।
अत्रापि दुःखसंमग्न चेतसो राजसीगणाः ॥ ५२

भा०—इस प्रकार अन्धकार देखकर लौट आईं और कृष्णको ढूंढ़ते हुए भी जब न पाया तो यमुना किनारे आकर विलाप करने लगीं। इस अवसर पर सबसे अधिक राजसी सखियोंको दुःख प्राप्त हुआ।

सात्विकीभिस्तु प्रथमं दुःखस्यानुभवः कृतः ।
तथात्र राजसीभिर्वै दृष्टं दुःखं वियोगजम् ॥ ५३

भा०—सात्त्विकी सखियोंने तो व्रजको छोड़नेसे प्रथम ही दुःख देख लिया था। राजसियोंके हृदयमें कामना अधिक होनेके कारण इन्होंने अन्तर्ध्यानके समय वियोगजन्य दुःखका अधिक अनुभव किया। क्योंकि कामना (वासना) ही दुःखका कारण है। राजसी सखियोंमें जिस प्रकार कृष्णके साथ रमनेकी भावना अधिक थी, उसीप्रकार वियोगका दुःख भी अधिक हुआ ॥ ५३ ॥

टिप्पणी.

वंशीनाद सुनकर जब व्रजवाला रासमण्डलकेलिये घरसे चलीं तो आगे २ प्रकाश और पीछे अन्धकार देखनेमें आया। कहनेका आशय यह है कि योगमाया-मण्डलके अतिरिक्त भागमें योगमायाका ही अप्रकाशात्मक स्वरूप था। यथा—

बहिः प्रकाशं विच्छिद्य ह्यन्तराकाशते यथा ।
योगमायेति विख्याता जाग्रत्स्वप्नमयीशितुः ॥

माहेश्वरतन्त्रमें शिवजी पार्वतीके प्रति योगमायाके स्वरूपको बताते हैं कि हे प्रिये ! बाहरकी ओरसे प्रकाशको रोककर रासमण्डलके मध्यमें पूर्ण प्रकाश करदेनेवाली और शेषभागमें अन्धकाररूपसे वर्तमान

पुलिनं तु समासाद्य तामस्यो वाक्यमब्रुवन्।
प्रेमलभ्योऽस्ति श्रीकृष्णः प्रेम्णः प्राधान्यमुच्यते।

गू०—सर्वाः यमुनापुलिनमासाद्यैकीभूताः प्रतिद्दढमानसास्तामस्यो वाक्यमूचुरिति दर्शयति पुलिनमिति त्रिभिः॥ ५४॥

भा०—यमुनाके तटपर एकत्रित हो तामसी सखी कहने लगीं; कि हे सखियो! हमारे अन्तर्गत प्रेमका अभाव होनेंसे श्रीकृष्णजी अन्तर्ध्यान हो गये हैं। इसलिये प्रेम-बढ़ाना चाहिये क्योंकि उनका नामही प्रेमविहारी है और वे प्रेमसे ही प्राप्त होवेंगे॥ ५४॥

हे सख्योऽथानुकर्त्तव्या बाल्यलीलादितः प्रभोः।
रासलीला ततः प्रेम्णा मिलिष्यति न संशयः॥५५

गू०—हे सख्य इति। प्रभोः श्रीकृष्णस्य बाल्यलीला आदितोऽनुकर्त्तव्या ततो रासलीला प्रेम्णा अनुकर्त्तव्या अतः कृष्णो मिलिष्यति नात्र संशयः॥ ५५॥

भा०—हेसखियो! जन्मसे लेकर अद्यपर्यन्त जो लीला कृष्णने की हैं उनका अनुकरण करना चाहिये। इस प्रकार व्रजलीला और रासलीलाका अनुकरण करनेसे प्रेममें अधिकता होगी और प्रेमाधिक्यसे अवश्यही श्रीकृष्णजी आकर दर्शन देवेंगे॥ ५५॥

टिप्पणी.

कृष्णकी योगमायानामक शक्ति जाग्रत्स्वप्नमयी है अर्थात् वृन्दावनके मध्य रासमण्डलमें जाग्रदवस्था और शेषभागमें स्वप्नावस्थामें वर्तमान थी इसीलिये इसे जाग्रत्स्वप्नमयी शक्तिके नामसे वर्णन किया है। इस परसे सिद्ध होता है कि गोपिका जिस अन्धकारको देखकर लौटीं वह योगमायाका ही अप्रकाशात्म स्वरूप था। क्योंकि कालमायाका तो तिरोभाव हो गया था—

दूरस्थोऽपि न दूरस्थः समीपस्थोऽसमीपगः ।
अज्ञानावरणश्चैनं पश्यन्तं वै न पश्यति ॥ ५६

गू०—दूरस्थ इति प्रेम्णि भिन्नेसति दूरस्थः अपीति निश्चितं प्रेम्णि वृद्धेसति न दूरस्थः प्रेमणा सद्यो लभ्यत्वात् समीपस्थोऽस्म-त्समीपवर्त्ती कृष्णः मूलभूमिस्थितत्वात् कृष्णस्त्वधुना असमीपगः न समीपवर्त्तीव ज्ञायते यवश्चाज्ञानावरणो जनसमीपे पश्यन्तमेनं न पश्यतीति भावः ॥ ५६ ॥

भा०—हे सखियो! हमारे अन्दर किसी प्रकार प्रेमकी न्यूनता होनेसे इस समय कृष्णके दर्शन नहीं होते। परमात्मा दूर होते हुए भी प्रेमीके लिये उसके निकट वर्तमान हैं और प्रेमके अभावमें तो समीपमें विद्यमान होनेपर भी प्रभुका दर्शन नहीं होता। क्योंकि वे तो प्रेमकेही भूखे हैं। यद्यपि वे बाहर भीतर सब देखनेवाले हैं अर्थात् हम चाहे जो कुछ भी करें उनसे छिप नहीं सकता परन्तु हमारेही हृदयमें अज्ञानका आवरण हो गया है अतः हमी उनको नहीं देख पातीं ॥

टिप्पणी

कालमाया हता तूर्णं तयान्तश्चित्स्वरूपया ।
तत्कार्यमात्रमखिलं लीनं स्थावरजङ्गमम् ॥

योगमायाकी प्रकाशात्मिका चित्स्वरूपा शक्तिने कालमायाके स्वरूपको यहांतक अन्तर्हित कर दिया था, कि कार्यात्मक यावत् स्थावर जङ्गम जगत है, सब लीन हो गया अतः मानना चाहिये कि अन्धकार योगमायाकाही था। दूसरी बात—अखण्ड वृन्दावनमें कालशक्तिका प्रवेश ही नहीं हो सकता तब कालमायाका अन्धकार तो किस प्रकार जा सकता है अतः योगमायाके अप्रकाशात्मक स्वरूपको देखकर लौटीं यही मानना चाहिये।

एवं तासां गिरं श्रुत्वा सर्वा नार्य्यो मुदान्विताः ।
उत्थाय तरसा गोप्यस्ता लीला अनुचक्रिरे ।। ५७

गू०—एवं दृढनिश्चयानां तामसीसखीनां गिरं प्रेम्णा मिलिष्यतीति वाचं श्रुत्वा अतो मुदान्विताः ता भगवत्कृतलीला अनुचक्रिरे "मच्चित्ता मद्गतप्राणाबोधयन्त्यपरस्परं । कथयन्तश्चमां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्तिचेति" च गीतोक्तानुशासनात् ।। ५७ ।।

भा०—इस प्रकार तामसी सखियोंके वचन सुनकर सबको बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ । जो राजसी सखीं जड़वत् मूर्छित पड़ी थीं और सात्त्विकी सखी कि जो विलाप कर रहीं थीं; तत्काल उठकर श्रीकृष्णकी बाललीलाका अनुकरण करने लगीं ।। ५७ ।।

पूतनामनुकुर्वन्त्याः कस्याश्चिद्धि पपौ स्तनम् ।
कृष्णायमानालिः काचिद् विषलिप्तं यथातथम् ।।५८

भा०—एकने पूतनाका रूप धारण किया और स्तनोंमें विष लगाकर कृष्णको स्तनपान कराने चली । दूसरीने श्रीकृष्णका बालरूप धारण कर पूतनाके विषलिप्त स्तनका पान किया ।। ५८ ।।

एवमादि चरित्राणि हरिणा यानि चक्रिरे ।
तानि सर्वाणि गोपीभिरन्वकारिषताशु च ।। ५९

गू०—एवमिति यानिचरित्राणि हरिणा चक्रिरे कृतानि तानि-गोपीभिरन्वकारिषत अनुकृतानि ।। ५९ ।।

भा०—इसी प्रकार शकटोत्क्षेपण, माँटीभक्षण, तृणावर्त्तवध, कालीय नागदमन, गोवर्धन-धारण आदि जो २ लीला श्रीकृष्णने व्रज और गोकुलमें की थीं, उन सब चरित्रोंका अनुकरण करने लगीं ।।

कृष्णायमाना काचिद्धि यामुनं तटमागता ।
वेणुं तु क्वणयामास कृष्णदर्शनलालसा ॥ ६०

गू०—दृढचित्ताभिस्तामसीसखीभि र्बोधिताः अपराः कृष्णचरितबाल्यलीलामनुकृत्येदानीं रासलीलामनुचिकीर्षां चक्रुः तत्र तासां कृष्णवेशधरा काचित्कालिन्दी तीरमासाद्य वेणुं वादयामासेत्याह कृष्णायमानेति। कृष्ण इवाचरतीति कृष्णायमाना काचित्सखी वेणुं क्वणयामास वादयामास ॥ ६० ॥

भा०—इस प्रकार व्रजलीलाका अनुकरण जब समाप्त हो गया तो एक सखीने कृष्णका वेश धारणकर कृष्णके दर्शनकी इच्छासे यमुना तटपर आकर वंशीनाद किया ॥ ६० ॥

तद्वेणुरवमाकर्ण्य सख्योऽन्याः प्राप्तमंगलाः ।
प्रेमवारिधिसंमग्न–मानसाः प्रययुस्त्वरा ॥ ६१

गू०—अन्यायूथीभूताः तस्याः कृष्णमानायाः वेणुरवमाकर्ण्य श्रुत्वा प्राप्तं मंगलं प्राप्तिरूपं याभिस्तास्त्वरा प्रययुः ॥ ६१ ॥

भा०—वंशीनादको सुनतेही सखियोंनें समझा कि कृष्णजी आकर हमें बुला रहे हैं, इस प्रकार प्रेमसागरमें निमग्न होती हुईं, जैसे पहले दौड़ी थीं, उससे भी अधिक वेगसे दौड़ने लगीं ॥ ६१ ॥

क्वास्ते स नन्दसूनुर्वै येन वेणुध्वनिः कृतः ।
इत्येवं प्रेमकृष्टात्मा तासामाविरभूत्प्रभुः ॥ ६२

गू०—यान्त्य ऊचुरित्याह क्वेति। एवं प्रेम्णाकृष्ट आत्मा यस्य सः प्रभुः तासां गोपीनां क्वास्ते क्वास्ते वेणुनादकर्त्ता कृष्ण इत्युक्त्वाधावन्तीनां मध्ये आविरभूत प्रकटीबभूवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

भा०—अरे ! वंशी बजानेवाले कृष्ण कहां हैं, इस प्रकार कुतूहल पूर्वक पुकारती हुई दौड़ने लगीं । सखियोंके प्रेमसे आकृष्ट हो दौड़ती हुई सखियोंके वृन्दके मध्यसे अकस्मात् कृष्ण महाराज प्रगट हो गए ॥

आविर्भावः प्रभोरेवं विज्ञेयोऽस्ति मनीषिभिः ।
अक्षरस्यापि तृप्त्यर्थं प्रियावर्गस्य वै तथा ॥ ६३

भा०—इस प्रकार अक्षर ब्रह्म तथा प्रियाजनोंके मनोरथको पूर्ण करनेकेलिये परमात्माने पुनः प्रगट हो सबको आनन्दित किया, इस रहस्यको विद्वान लोग ही समझते हैं ॥ ६३ ॥

दयालुः पूर्ववद्रासलीलां कर्त्तुं मनोऽन्वधात् ।
परमात्मा पुनस्तत्र स्वाकृष्टावेशमात्मनः ॥ ६४
भूयः समाधिं प्राप्तस्य ह्यक्षरस्य दधौ हृदि ।
यत्नाल्लब्धसमाधिस्तु भगवानक्षरस्तदा ॥ ६५

भा०—एक ओरसे सखियोंके पूर्णप्रेम और दूसरी ओरसे अक्षर भगवान्की पुनः देखनेकी इच्छाको देख दयासागर परमात्माने पुनः पूर्ववत् रासलीला करनेकी इच्छा की । तदनन्तर अक्षरातीत प्रभुने पुनः समाध्यवस्थाको प्राप्त अक्षरब्रह्मके हृदयमें अपना आवेश-जिसे प्रथम खींच लिया था-पुनः स्थापित कर दिया ॥ ६४-६५ ॥

दिव्याम्बरधरः कृष्णस्तासां प्रेमविवर्द्धनः ।
प्रभोरावेश-सहितो वने प्रादुर्बभूव ह ॥ ६६
किरीटी कुण्डलधरः पीताम्बरलसत्कटिः ।
वनमाली करेवेणु-श्चलद्भ्रूर्हसिताननः ॥ ६७

आलोच्य तं सखीवर्णा भगवन्तं कृपानिधिम् ।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ६८

गु०-तं विलोक्य त्रुटितमात्र विप्रलंभेन बहुयुगान्तरितंकालं मन्याः सख्योयुगपदेकदैवोत्तस्थुः प्रियालिंगनार्थमित्याह आलोच्येति । आलोच्य आलोक्य तत्र दृष्टान्तोयं तन्वः सेन्द्रियशरीराणि आगतं प्राणं प्राप्योत्तिष्ठन्ति यथा तथा गोप्यः कृष्णं प्राप्येत्यर्थः ॥ ६८ ॥

भा०—पुनः समाध्यवस्थाको प्राप्त अक्षरभगवान् परमात्माके आवेश सहित वृन्दावनमें श्रीकृष्ण रूपसे प्रगट हुए । कानोंमें कुण्डल तथा सिरपर किरीट मुकुट धारण किये, कटि प्रदेशपर पीताम्बर ओढ़े, कण्ठमें बनमाला और हाथमें बंशी लिये हुए, चंचलनेत्र तथा मधुर हास्ययुक्त कृपानिधि भगवान कृष्णको देखकर—मानो शरीरमें पुनः प्राण आ गए हों, इस प्रकार एकसाथ उठ खड़ी हुईं ॥ ६६–६७–६८ ॥

परिषस्वजिरे नाथं बाहुभ्यां काश्चन प्रियाः ।
चुचुम्बुः काश्च कृष्णस्य सुन्दरं गण्डमण्डलम् ॥६६

काश्चिच्चरणयोः पेतुः जगृहुः काः कराम्बुजम् ।
काश्चित्पीतांशुकप्रान्तं निधाय व्यजहुर्व्यथाम् ॥७०

गू०—श्रीस्वामिनी पतिं प्राप्य सख्यः किं कृतवन्त्य इति चेत्तत्राह त्रिभिः परिषस्वजिरे इति । काश्चन प्रियाः नाथं पतिं बाहुभ्यां परिषस्वजिरे आलिङ्गयामासुः भ्वादेः आत्मनेपदिनः ष्वजपरिष्वंगे इत्यस्माद्धातोः परोक्षेलिट् प्रथम पुरुषस्य बहुवचनं स्फुटमन्यत् ॥ ६९ ॥

भा०-कृष्णको देखते ही कोई भुजाओंसे आलिङ्गन करने लगीं, तो कोई श्यामसुन्दरके गण्डस्थलका चुम्बन करने लगीं। कोई चरणोंमें जाकर गिरपड़ीं, तो किसीने हस्तकमलको पकड़ लिया। कोई पीताम्बरको पकड़ कर ही अपने विरहको शान्त करने लगीं ॥ ६९-७० ॥

एवमानन्द-पाथोधौ चरन्मीन-सुमानसाः ।
कृष्णानुमोदिताः सख्यो ह्यकुर्वन्रासमद्भुतम् ॥ ७१

गू०--एवमिति एवममुनाप्रकारेण आनन्द एव पाथोधिरर्णवस्तस्मिंश्चरन्ति मीना इव सुष्ठु शोभनानि मानसानि यासां ताः आनन्दाम्बुनिधौ मीना इव तरन्मानसा इत्याशयः सख्योऽद्भुतं रासमकुर्वन् इति भावः ॥ ७१ ॥

भा०-इस प्रकार आनन्दसागरमें निमग्नमन सखियोंने कृष्ण महाराजकी इच्छानुसार अद्भूत रासमण्डलकी पुनः रचना की ॥ ७१ ॥

नानावाद्यान्यवाद्यन्त गुर्वी तेषामभूद् ध्वनिः ।
नूपुराणाञ्च काञ्चीनां कङ्कणानां तथैव च ॥ ७२

गू०--नानेति नाना अनेक प्रकाराणि वाद्यानि अवाद्यन्त वाद्यन्ते स्म तेषां वाद्यविशेषाणां ध्वनिर्गुर्वी बड़ी अभूत् तथैव वाद्यगुर्वीध्वनिवन्नूपुरादीनां ध्वनिरभूत् ॥ ७२ ॥

भा०-नाना प्रकारके वाद्य, यन्त्र आदिके शब्द तथा नूपुर, कटिभूषण एवं कङ्कण आदि आभूषणोंकी ध्वनिके सहकारसे अद्भुत रासमण्डलकी शोभा और भी मनमोहक हो गई ॥ ७२ ॥

गायन्तीनां हस्ततालीं ददानानां रसस्वरा ।
मूर्च्छना चन्द्रविंशत्या षट् त्रिंशद्रागसंयुता ॥७३

गु०—गायन्तीनामिति । हस्ततालीं ददते इति ददाना अत्र-डुदाञ्दाने इत्यस्माद्धातोः कर्त्तरि शानच् प्रत्ययः तासां गायन्तीति गायन्त्यस्तासां रसः षड्विधः षड्जादिः स्वरोयस्यां सा मूर्च्छनानां चन्द्रविंशतिरेकविंशतिः संख्या तया सहितेति शेषः षट्त्रिंशद्रागैस्संयुता एवं विशिष्टा ध्वनिरिति पूर्वेणान्वयः ॥ ७३ ॥

भा०—हाथोंकी ताली दे दे कर कृष्णका यशोगान करती हुई सखियोंके नृत्यरसमें आरोह, अवरोह, गतियोंके समारम्भसे सात + स्वर सहित षट् राग—(भैरव, मलार, श्रीराग, हिंडोल, मालकोस, और दीपक) ध्वनित होते थे। २१ इकईश मूर्छना और ३६ रागिनियों-युक्त ध्वनिने एक प्रकारके अपूर्व रसका प्रादुर्भाव कर सबको मुग्ध बना दिया था ॥ ७३ ॥

हिमांशुकिरणानाञ्च भूषणाम्बररोचिषा ।
चिन्तामणिमयीभूमेर्भासासीद्युद्धमद्भुतम् ॥ ७४

टिप्पणी.

+ सातस्वर—षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद, इस प्रकार माने गए हैं। जिसका संक्षिप्त स्वरूप—" सा, रे, ग, म, प, ध, नी, " इस प्रकार है

नासां कण्ठ-मुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन् ।
षड्जः स जायते यस्मा-त्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ॥

अर्थः—नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जीभ और दाँत, इस प्रकार छः स्थानोंका स्पर्श करते हुए निकलनेके कारण इसे षड्ज कहते हैं। वैज्ञानिक लोगोंका मत है कि किसी पदार्थमें २५६ बार कम्प होनेपर षड्ज और २८८,२/३ बार कम्प होने पर ऋषभ एवं ३२० बार होने पर गान्धार स्वर उत्पन्न होता है; और इसी प्रकार बढ़ते बढ़ते ४८० बार कम्प

गु०—हिमांशुकिरणानामिति। हिमांशोश्चन्द्रस्य किरणानां-रश्मीनां भूषणाम्बररोचिषा भूषणवस्त्र प्रकाशेन चिन्तामणिमयी-भूमेर्भासा च महाद्भुतं युद्धमभूत् तद्भूमिरुत्थितकिरणपुञ्जाः सखी-वस्त्राभरणोत्थित—किरणपुञ्जाश्च आकाशस्थ चन्द्रकिरणपुञ्जैः प्रतिवादिभिरिव महद्युद्धंचक्रुरिति किरणप्रकाशाधिक्यादिदर्शयिषये-ति भावः ॥ ७४ ॥

भा०—चन्द्रमाकी किरण, गोपियोंके आभूषण तथा वस्त्रोंकी ज्योतिके साथ चिन्तामणिमयी भूमिकाकी किरणोंका द्वन्द्वयुद्ध हो रहा था कि जिससे रासमण्डलके प्रकाशमें एक प्रकारकी अलौकिकता देखनेमें आती थी और प्रकाशकी प्रतिद्वन्द्वताके कारण रासमें अलौकिक आ-नन्दका अनुभव और भी बढ़ता चला जाता था ॥ ७४ ॥

सुषमा नृत्यतो रास-मण्डलेशस्य वर्ण्यते ।
नभूमेर्वनितानां च शीतांशोः शाखिनां क्वचित् ॥

टिप्पणी.

होनेपर निषाद स्वर निकलता है । तात्पर्य यह कि कम्पन जितनाही अधिक और जल्दी जल्दी होता है, स्वर भी उतनाही ऊंचा चढ़ता जाता है। इस क्रमके अनुसार षड्जसे निषाद पर्यन्त सातों स्वरोंके समूहको सप्तक कहते हैं । एक सप्तकके उपरान्त दूसरा सप्तक चलता है। जिसके स्वरोंकी कंपन संख्या इस संख्यासे दूनी होती है । यदि प्रत्येक स्वरकी नियत संख्यासे कंपनसंख्या आधी कम हो जावे तो स्वर बराबर नीचे होते जायँगे और उन स्वरोंका समूह नीचेका सप्तक कहलावेगा । स्वर शास्त्रमें यह भी माना गया है कि, सातो स्वर क्रमशः "मोर, गौ, बकरी, क्रौञ्च, कोयल, घोड़े और हाथी" के स्वरसे लिए गए हैं अर्थात् ये सब प्राणी क्रमशः इन्हीं स्वरोंमें बोलते हैं; और इन्हींके

गु०—सुषमेति । रासमण्डलेशः कृष्णः तस्य वनितानां भूमेः शाखिनां शीतांशोश्च सुषमा परमा शोभा न वर्ण्यते वर्णितुं न शक्यते ७५

भा०—इस समय रासमंडलके मध्य नृत्यलीला करते हुए श्याम और सखियोंकी शोभा, चिन्तामणि भूमिका और चन्द्रमाकी शोभा एवं वृक्ष लतादिकोंकी शोभा, जिस प्रकार दिव्यरूप धारणकर रही थी, उसको वर्णन करनेके लिये वाणी समर्थ नहीं है ॥ ७५ ॥

भूषांम्बरेषु गोपीनां जटितानर्घ्यरत्नकैः ।
मार्त्तण्डतारकेशानां कोटयोऽप्यधरीकृताः ॥ ७६

गु०—भूषाम्बरेष्विति। गोपीनांभूषाश्चाम्बराणि च तेषु जटितानि अनर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि तान्येव जटितानर्घ्यरत्नानि स्वार्थे कः तैः कर्तृभिर्मार्तण्डाश्च तारकेशाश्च तेषां कोटयः कोटिसंख्याकाः न अधराः अनधराः सम्पद्यमाना इत्यधरीकृताः तिरस्कृता इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

टिप्पणी.

अनुकरण परसे स्वरोंकी यह संख्या नियत की गई है । इस विषयमें नारदजी लिखते हैं कि—

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दति चर्षभम् ।
अजाविकौ तु गान्धारं क्रौञ्चो नर्दति मध्यमम् ॥

अर्थः—मोर षडज, गाय, ऋषभ भेड़ बकरी गान्धार और क्रौञ्चपक्षी मध्यम स्वरसे बोलते हैं । इसी प्रकार हाथी निषाद, कोकिला पञ्चम और घोड़ा धैवत स्वरसे बोलते हैं । भिन्न २ स्वरोंके उच्चारण स्थान भी पृथक् २ कहे गए हैं । जैसे—नासिका, कण्ठ, उर, तालू, जीभ, और दाँत " इन छः स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण पहला स्वर षड्ज कहलाता है । जिस स्वरकी गति नाभिसे सिर तक पहुंचे

भा०—गोपियोंके वस्त्र तथा आभूषणोंमें जटित जो अमोल और दिव्य रत्न थे उनके प्रकाशके सामने कोटिन सूर्य और चन्द्रका प्रकाश निस्तेज हो जाता था अत एव उसका वर्णन करना कठिन है॥ ७६ ॥

सहस्रजिह्वोऽपि स्यां चेत्ताण्डवो रसरूपिणः ।
गोपिकामण्डलीशस्य नेरितुं शक्यते मया ॥ ७७

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति पण्डित कृष्ण-मणिशर्म्मसूरि विरचितस्यानन्दसागरस्य पञ्चमस्तरङ्गः ॥ ५ ॥

गु०—रसरूपिणो भगवतस्ताण्डवो वक्तुमशक्योऽतो संक्षेपतः प्रदर्शयेदानीमुपसंह्रियते सहस्रजिह्व इति चेत्सहस्रजिह्वोऽपि स्यामहं रसरूपिणोगोपिकानां या मण्डल्यस्तासामीशस्य ताण्डवो नृत्यविशेषः ईरितुं वक्तुं मया न शक्यते इत्यन्वयः ॥ ७७ ॥

इति श्री निजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायां पञ्चम स्तरङ्गः ॥५॥

टिप्पणी

उसे ऋषभ कहते हैं । इसी प्रकार अन्य भी समझना । ये सब स्वर कण्ठसे तो निकलते ही हैं, परन्तु वाजोंसे भी उसी प्रकार निकलते हैं । सातो स्वरोंमेंसे 'सा' और 'प' तो शुद्ध स्वर कहे जाते हैं क्योंकि इनका कोई भेद नहीं होता, परन्तु शेष पांचो स्वर कोमल

भा०—उपरोक्त प्रकारसे वर्तमान अक्षरातीत परमात्माकी रहस्यक्रीड़ाके वर्णन करनेको वाणीकी असमर्थता दिखाते हुए ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि, अभी तो मेरे एकही जिह्वा है, कदाच में सहस्र जीभवाला हो जाऊं तो भी श्रीकृष्णकी दिव्य रासलीलाके नृत्यका वर्णन करना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। क्योंकि जब शेष, शारदा आदि उसका वर्णन नहीं कर सके तो मनुष्य रूपधारी मैं किस प्रकार सम्पूर्ण वर्णन कर सकूं ॥ ७७ ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्थ—पञ्चम—तरङ्गस्य पं० कृष्णदत्तशास्त्रिकृता
भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ ५ ॥

टिप्पणी.

और तीव्र दो प्रकारके होते हैं। प्रत्येक स्वर दो दो, तीन तीन भागमें बँटा रहता है; जिसके प्रत्येक भागको 'श्रुति' कहते हैं।

इतिश्री-आनन्दसागरस्थपञ्चम-तरङ्गस्य पं० कृष्णदत्तशास्त्रिकृता
तरङ्गदीपिका टिप्पणी समाप्ता ॥ १ ॥

षष्ठस्तरंगः

इत्येवं रममाणास्ता वल्लव्यो मुरलीभृता ।
स्वधामगतवत्यो वा ह्यनिच्छन्त्योऽनुमोदिताः ॥ १

गू०—एवं कृष्णेन सह रममाणास्सख्यो गन्तुमनिच्छन्त्योऽपि अशान्तपूर्णाभिलाषत्वात्स्वधाम ययुरित्याह द्वाभ्यां इतीति । मुरलीं बिभर्तीति तथा तेन कृष्णेन सहेत्यध्याहारः । रममाणास्ता वल्लव्योऽनिच्छन्त्योऽपि स्वधाम निजं धाम यत आगता इत्यर्थः, तद्गतवत्योजग्मुरित्यन्वयः । ननु कथं एवं रासे क्रियमाणेऽपि तासामिच्छापूर्त्तिर्नासीदिति सत्यं यत्पूर्णं ब्रह्माभिहितं संसारदुःखानि याचमानानां प्रियाणां त्रिनिषेधावसरे मत्स्वरूपं परित्यज्य मृत्पाषाणादिकृत्रिमां मूर्त्तिं विधाय पुष्पाद्यैर्यूयं वै पूजयिष्यथेति गुरुकर्म्म-

भा०—इस भांति नाना प्रकारसे कृष्णके साथ रमण विलास करती रहीं । जब रास समाप्त हुआ और कृष्ण निजधामको जाने लगे तो सखियोंके मनमें निजधाम जानेकी इच्छा न हुई, परन्तु कृष्णके अनुमोदनसे मनोरथ शेष रहने पर भी निजधामको गई । शङ्का—नानाविध रासलीलाका आनन्द भोग चुकने पर भी निज धाममें जानेकी इच्छा सखियोंको क्यों न हुई ? । समाधान—दुःख देखनेका मनोरथ पूर्ण न होनेसे । क्योंकि मिथ्या जगतका दुःख देखनेको सखियोंनें मांगा था और परमात्माने निषेध करते हुए यह कहा था कि—" तुम लोग

परा यूयमित्यादि 'अहंचेत्सद्गुरुर्भूत्वेत्यादि तत्रभगवदुक्त सांसारिक-दुःखजालं नास्माभिरनुभूतं तत्कीदृशमिति मन्यमानाः सख्यो निजधाम गन्तुं नेच्छंतिस्मेति बोध्यं। यथा मोक्षपदवीं प्राप्ता अपि योगिनः कस्याश्चिदपि स्वेच्छायाःपूर्त्यभावात्पुनरागन्तुकामाः भवन्ति तद्वदिति। ननु कथमिच्छापूर्त्तिमन्तरेण तत्र गता सर्वं मनसीप्सितं समाप्यैव गन्तुमर्हत्वात् सत्यं भगवतिबद्धचित्तास्सख्यः यान्तमनुगता न तु स्वेच्छयेति यथा द्वारिकां गन्तुमुद्यतः कश्चित् पथिमथुरादिकंप्रतियान्तं प्राप्य तन्मैत्र्याकृष्टचित्तः प्रीतिभङ्गं दुःखदं मन्यमानस्तत्सङ्गान्मथुरादिदेशान्तरं याति अनन्तरं ततो निवृत्तः स्वेष्टसिद्धये

—: भावार्थ :—

संसारमें जातेही हमें भूल जावोगी और पत्थर, पानी, अग्नि आदिको अपना पति मानकर पूजोगी और कहोगी कि हमारा ईश्वर यही है, इस भांति नाना पाखण्ड मतमें पड़कर अपने मूलस्वरूपको भूल जावोगी" इस प्रकारसे कहा था; परन्तु व्रजमें आनेंके बाद सखियोंका कृष्णके प्रति इतना प्रेम बढ़ गया था कि खाते पीतें; उठते बैठते, क्षणमात्र भी कृष्ण विसरते नहीं थे, और रासमें तो कृष्णके अतिरिक्त कोई था ही नहीं; इसलिये संसारिक दुःख देखनेकी इच्छा पूर्ण न हुई। क्योंकि कृष्णके प्रति प्रेमाधिक्य होनेसे सखी जगतमें रहीं तो अवश्य परन्तु लिप्त न हो पाईं अतः दुःख देखनेंकी ईच्छा शेष रह गई। जब परम धाममें प्राप्त हुईं तो विचार करने लगीं कि प्रभुजी तो हमें डर दिखाते थे कि तुम विश्वमें जाकर भूल जावोगी और मिथ्या माता पिता, पति पुत्रको अपना मानोगी एवं पत्थर, पानी अग्नि आदिको परमात्मा समझ उसीका पूजन करोगी, परन्तु यह सब कुछ तो हुआ ही नहीं" इस प्रकार मनोरथ शेष रह गया। प्रश्न—जब उनकी इच्छा पूर्ण न हुई तब तो

द्वारकां याति तथात्र बोध्यं मूलेऽप्यनुमोदिता इति विशेषणेन कृष्णा-नुमोदेनैव तासां गतिः सूचितेति । ऋग्वेद मन्त्रेणापीदं व्यज्यतेस्म, तद्यथा ‘ कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतंति त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते इति ” मन्त्रार्थः नियानं निश्चयेन याति रासानुयोऽसौ तं अत्र या प्रापणे इत्यस्माद्धातोः नन्दादित्वात्कर्त्तरि युः तस्यानादेशस्तदा सिद्धमेतन्नियानं । स्व-धाम यान्तं कृष्णं प्राप्येति शेषः । अपो वसाना अपशब्दवाच्यं प्रेम-तस्यापि जलवन्नाना क्लेशतप्तानां पुंसां शैतल्यादिमदत्वात् अपः

—: भावार्थः —

नहीं जाना था । क्योंकि वहांसे इच्छा पूर्ण करनेके लियेही आईं थीं और पूर्ण होनेपर ही जाना चाहिये था । इच्छा पूर्ण किये बिना क्यों गईं ? । उत्तर—देखो जी ! जब उनके प्राणपति श्री कृष्णजी चलने लगे तब उनके साथ उनको भी अवश्य जाना चाहिये; क्योंकि न जानेसे प्रेम वन्धनके टूटनेका भय था ।

जैसे किसीको द्वारका पुरी जाना है और मार्गमें मथुरा पुरीका यात्री अपना कोई मित्र मिल जावे तो, उसके प्रेमकी पूर्तिके लिये प्रथम मथुराके लिये ही चल देता है और मथुरा पुरी जानेके पश्चात् अपने अभीष्ट प्रदेश द्वारकापुरीको जाता है । इसी प्रकार ब्रह्मप्रिया प्रेम टूटने के भयसे परमात्माके साथ निज धामको चली गईं परन्तु मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ था अतः पुनः इस नश्वर जगतमें आना पड़ा । इसका उल्लेख भागवत [१०–३३–३९] में स्पष्टरूपसे किया है यथा—

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान्भगवत्प्रियाः ॥

अर्थात् इच्छा न होने पर भी कृष्णका अनुमोदन पाकर अपने

वसाना आच्छादयन्त्यः सर्वाङ्गेषु प्रेमाण इत्यर्थः । सुपर्णः सुष्टु-पर्णो ज्ञानं येषां ते हरयः हरन्ति परमात्ममीत्यर्थमात्मानं प्रापयन्तीति तथा स्वात्मार्पणतत्परा अङ्गनागणाः कृष्णदारा दिवं क्रीडास्पदं निजधाम उत्पतन्ति उत्पत्य गच्छन्तीत्यर्थः । ते एव ऋतस्य सत्यस्य सदनाद्धाम्नः आववृत्रन् कलौ शिष्टमनोरथत्वात् आगमिष्यन्ति छन्दसिकालाऽनियमः । आदित् अस्मात्कारणात्तदागमनात् घृतेन घृतवत्कौमलत्वादि गुणयुक्तेन प्रेम्णा पृथिवी व्युद्यते प्रेमशून्येयं पृथिवीतिदृष्ट्या प्रेम्णार्द्री भविष्यतीत्यर्थः । एतन्मन्त्रेण ब्रह्माङ्गनानां रासानन्तरं कृष्णानुगमनं पुनः कालान्तरेण ततो निजधाम्नः स्वेच्छापूर्त्यर्थं विवर्त्तनं च विज्ञापितं भवति यद् ब्रह्माङ्गनानामागमनं प्रमाणसिद्धमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

—: भावार्थ :—

गृह (धाम) को गोपी चली गई । तृतीय स्कन्धमें विदुरजीके प्रति उद्धवजीने भी इसे " स्थितकृत्यशेषाः " (गोपियोंका कार्य शेष रह गया) इस पदसे स्पष्ट किया है । पुराण संहितामें शिवजी व्यासके प्रति वर्णन करते हैं कि—

" तदपूर्त्या निजे धाम्नि न प्रबुद्धा मुनीश्वराः "

हे व्यासजी ! ब्रह्मप्रियाओंकी कामना पूर्ण न हुई अतः परमधाममें प्रबुद्ध दशा (जाग्रदवस्था) को प्राप्त न हो सकीं । निम्नलिखित ऋग्वेदका मन्त्र भी इस बातका वर्णन करता है । यथा—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

[ऋग्वेद मं० १ सू० १६४–४७]

अन्वयः—नियानं कृष्णं अपः वसानाः सुपर्णाः हरयः दिवम्

—: भावार्थ :—

उत्पतन्ति । ते ऋतस्य सदनात् आववृत्रन् आदित् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

भावार्थः—(नियानं–निश्चयेन याति रासानुयोऽसौ तं स्वधाम यान्त मित्यर्थः) रासलीलाके पश्चात् निजधामके प्रति जाते हुए (कृष्णं–प्राप्य इति शेषः) कृष्णको प्राप्त होकर (अपः वसानाः–अप शब्द वाच्यं प्रेम तस्यापि जलवन्नानाक्लेशतप्तानां पुंसां शैतल्यादि प्रदत्वादतः ' अपः वसाना आच्छादयन्त्यः सर्वाङ्गेषु प्रेमपूर्णा इत्यर्थः) अप–जो प्रेमरूप जल है उसको सर्वाङ्गोंमें धारण किये हुए अर्थात् प्रेमानुरक्त, (सुपर्णाः शोभन विवेक शीलाः) सब प्रकारसे ज्ञान सम्पन्न (हरयः+हरन्ति परमात्म–प्रीत्यर्थमात्मानं प्रापयन्ति स्वात्मार्पणतत्परा इति यावत् कृष्णांगना इति शेषः) परमात्म–परायणा सखीं (दिवं–क्रीडास्पदं निजधाम) नित्यलीलास्पद अपने धामको (उत्पतन्ति–उत्पत्य गच्छंन्ति) शीघ्रगतिद्वारा प्राप्त होंगी (ते) वही गोपीं (ऋतस्य सदनात्—सत्य धाम्नः) सनातन ब्रह्मधामसे (आववृत्रन् शिष्ट मनोरथत्वात्कलौ आगमिष्यन्ति ' छन्दसि कालाऽनियमः ') शेषमनोरथ होनेसे कलियुगमें

टिप्पणी.

+ इस मंत्रमें ' हरयः ' शब्द गोपियोंके लिये आया है ' जो यौगिक होते हुए लाक्षणिक है । कुछ भाष्यकारोंने इस मंत्रका सूर्य परक अर्थ किया है । वैदिक मंत्रोंके अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, यह उनकी अपूर्वताका गौरव है । इससे एक अर्थ सत्य और दूसरा अर्थ असत्य है, ऐसा न मान लेना चाहिये ।क्योंकि ' धातूनामनेकार्थत्वात् " धातुओंके अनेक अर्थ माने गए हैं और वेदमें प्रायः यौगिकार्थही लिया जाता है; इस लिये अनेक अर्थ होना किसी प्रकार हानिकारक नहीं । स्वयं सायणाचार्यने भी एक २ मन्त्रके भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं और वे सभी मान्य भी हैं ।

—: भावार्थ :—

पुनः आवेगीं (आदित्) और तब (घृतेन—घृतवत्कौमल्यादि गुण-युक्तेन प्रेम्णा) घृतरूप प्रेमसे (पृथिवी) पृथिवीतल (व्युद्यते) पूरित हो जावेगा अर्थात् उन गोपीरूप ब्रह्म मुनियोंके आगमनसे यावज्जगत् प्रेममय हो अखण्ड पद पावेगा । इत्यादि वेद मंत्र भी इस बातकी पुष्टि करता है कि, रासके पश्चात् ब्रह्मप्रिया कृष्णके साथ ब्रह्मधामको जायँगी परन्तु मनोरथ शेष रह जानेसे पुनः इस लोकमें आवेंगी और पृथिवीके समस्त जीव इनके प्रेमद्वारा मोक्षसुख प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥

अक्षरेशस्य ह्यावेशो स्वामिन्यंशास्तथैव च ।
अक्षरोऽपि तथा धाम्नि जागृता अभवन्निव ॥ २

गू०—अक्षरेशस्येति अक्षरेशस्याक्षरातीतस्यावेशः तथैव स्वामिन्यंशाः स्वामिन्यादिसखीनामंशाः तथाक्षरोऽपि धाम्नि स्वस्मिन्स्वस्मिन् जागृता इवाभवन् स्वधाम्नि स्थिता इवासन्निन्यर्थः तथोक्तं भागवते पञ्चाध्याय्यां " ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिता अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः " नच निजधाम्न एकत्वे स्वगृहानित्यत्र बहुत्वं कथमित्याशंक्यं स्वस्वपरात्माभिप्रायेण बहुत्वोक्तिः संगच्छतेति ॥ २ ॥

भा०—अक्षरातीतका आवेश और अक्षर भगवान् तथा स्वामिनी [श्यामाजी] आदि सखियोंके सब अंश निज धामको प्राप्त हो अपने अपने परात्ममें जाग्रत्के समान प्रबुद्ध हुए ॥ २ ॥

तदा ब्रह्माण्डप्रलय आसीद्रेमे यदा हरिः ।
नचात्र संशयः कश्चिदस्ति शास्त्रोपदेशतः ॥ ३

गू०—तदेति तदा रासावसरे ब्रह्माण्ड प्रलयोऽखण्ड मण्डलं चन्द्र मित्यत्राण्डल विशेषणेनाभिहितो दृश्यते स एवेदानीं षष्ठमतरंगे प्राक्तनीं कथामुद्धृत्य निश्चीयते ॥ ३ ॥

भा०—जिस समय रास हो रहा था; इस नश्वर जगत्का प्रलय हो गया था, जिसकी सूचना चतुर्थ तरंगके १८ वें श्लोकमें सूक्ष्मरूपसे दी जा चुकी है। अब उसीको गाथारूपसे दिखाते हैं। 'रासके समय प्रलय किस भांति हो गया' इस प्रकार संशय न करना चाहिये, क्योंकि इस विषयमें शास्त्रोंके प्रमाण उपदेश कर रहे हैं ॥ ३ ॥

प्राकृतः प्रलयो यातो योगमायोदयो यदा ।
तदा वेदाऽक्षरस्था हि ददृशू रासमुत्तमम् ॥ ४

गू०—प्राकृत इति प्रकृतेः कोऽर्थः प्रकृतिकार्य्यस्य ब्रह्मादि-स्तम्ब पर्य्यन्तस्यायं लयः प्राकृतः स एवापरनाम्ना महाप्रलय इति कैश्चिदुच्यते। भागवते द्वादशस्कन्धे च चतुर्विधाः प्रलया उक्ताः सन्ति तद्यथा 'नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशीति" । तत्रैव प्रलयलक्षणमुक्तं

भा०—जिस समय रासमण्डलके लिये योगमायाका उदय हुआ तो कालमायामय ब्रह्माण्डका प्राकृत प्रलय हो गया था, ऐसा लिखा है। प्राकृत + प्रलय उसे कहते हैं, जिसमें प्रकृति कार्य पर्यन्त नाश हो

टिप्पणी.

+ प्राकृत प्रलय कालिक, अकालिक भेदसे दो प्रकारका होता है। इसे अवान्तर प्रलय भी कहते हैं। जो बिना कालके ही बीचमें हो जावे उसे अकालिक कहते हैं। रासके समय यही अकालिक (अवान्तर) प्रलय हो गया था।

तद्यथा 'प्राकृते प्रलये प्राप्ते नष्टे ब्रह्माण्डमंडले पञ्चभूतेषु लीनेषु भूतादौ कारणे नृप इति' अथ च यदैव योगमायोदयः तदैव काल-मायाकृत प्रपञ्चनाशः 'ज्योतिषा बाधते तमः' ऋङ्मन्त्रेणापि ज्योतिर्मयवृन्दावनोदयेन सा रात्रिर्ब्रह्मरात्रिस्तमः अव्याकृतकार्य्यं बाधते इत्यभिधानात् । बृहद्वामनपुराणे उत्तरखण्डे ब्रह्मणोक्तं भृगुंप्रति "तदित्थं प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगोचरे ॥ १ ॥ अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् ॥ गोलोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्पर" इति चिन्मात्रत्वोक्त्या प्रकाशाद्यनन्तत्वं दर्शितं कालमायातिगोचरत्वोक्त्या कालमायाऽभावत्वं आदि शब्देन तत्कार्य्यस्याभावत्वञ्च दर्शितमिति बोध्यम् । अक्षरस्था वेदा मण्डलोत्तमं ददृशुरिति । वेदानामक्षरस्थत्वे यजुर्मन्त्रः प्रमाणं ऋचो अक्षरे परमे व्योमनिति ॥४॥

—: भावार्थ :—

जावे अर्थात् मायाकृत कार्यका नाश हो जाना । प्रकृतिजन्य जगतका तिरोभाव हो जानेसे अपनें महाकारण स्वरूप उत्तम स्थानमें स्थित अक्षरके हृदयस्थ वेदोंने उत्तम रास देखा । प्रश्न—प्रलय कितने प्रकारके होते हैं ? । उत्तर—चार प्रकारके । जैसे–नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक । भागवतके द्वादशस्कन्ध [१२–४–३८] में स्पष्टरूपसे प्रलयके भेदोंका वर्णन आता है । जैसे कि—

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥

नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक इस भाँति प्रलयके चार भेद माने गए हैं । जाग्रदवस्थामें स्वप्नसृष्टिके नाश हो जानेको

—: भावार्थ :—

अथवा प्राणियोंकी मृत्युको नित्य प्रलय कहते हैं। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा-जीके एक दिनके बाद हुआ करता है अर्थात् ब्रह्माजीके एक दिनमें जो कल्पान्त होता है और उसके बाद उतनेही कालकी ब्राह्मी रात्रि + भी होती है, जिसमें सृष्टिका अभाव रहता है, उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। प्राकृत प्रलयमें पांच तत्व और अहंकार एवं महत्तत्त्व [मोहतत्त्व] आदि प्रकृतिजन्य कार्यका लय होनेंसे उसे प्राकृत नामसे पुकारते हैं। इस अवधिमें ब्रह्माकी द्विपरार्द्ध * आयु व्यतीत हो जाती है।

टिप्पणी.

+ भागवतमें नैमित्तिक प्रलयका स्वरूप इस प्रकारसे लिखा है—

चतुर्युग—सहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते ! ॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥

[भा० १२–४–२+३+४]

चार हजार चौकड़ी युग व्यतीत होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है। इस अवधिमें १४ इन्द्र और १४ मनु व्यतीत हो जाते हैं। तदनन्तर प्रलय हो उतने ही समय तक ब्रह्माकी रात्रि रहती है। इसीको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इसमें तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं।

* प्राकृत प्रलयका वर्णन इस प्रकारसे मिलता है। यथा—

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयस्सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥
एष प्राकृतिको राजन् ! प्रलयो यत्र लीयते ।
अण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥

[भाग० १२–४–५+६]

—:भावार्थ:—

महात्मा पुरुषोंकी दृष्टिसे संसारके निकल जानेको आत्यन्तिक * प्रलय कहते हैं। इसका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने भी किया है। यथा—'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् [योग० पा० २-२२] अर्थः—कृतार्थ महात्माओंकी दृष्टिमें जगतका नाश हो जाता है परन्तु अन्य साधारण पुरुषोंके लिये तो बना ही है। इस प्रकारसे प्रलयके चार भेद माने गए हैं। प्रश्न—रासमंडलके समय जगतका प्रलय होना किसीसे नहीं सुना और न प्रलय होनेका समय ही आया था; तब प्रलय होना कैसे मान लिया जावे?। उत्तर—देखो जी! रास मण्डलके समयमें प्रलय होनेका वर्णन पीछे (चतुर्थ तरंगके १८ वे श्लोंककी टीकामें) विस्तरशः किया जा चुका है अतः दुबारा नहीं करते, वहां पर देख लेना। यहां पर तो संक्षेपमें अन्य प्रमाण लिखते हैं। नीलकण्ठसूरिने ऋग्वेदकी प्रतीक देकर अपनी भागवतकी टीकामें लिखा है कि—"ज्यो

टिप्पणी

* आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन शुकदेवजीने निम्न लिखित प्रकारसे किया है यथा—

यदैवमेतेन विवेक हेतिना मायामयाहंकरणात्मबन्धनम्।
छित्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यान्तिकमङ्ग! संप्लवम्॥

अर्थः—हे राजन्! ज्ञानरूपी तलवारसे मायामय अहंकाररूप ममता मोहको नाशकर परमात्माके आनन्दानुभवको प्राप्त हो जानेको ही आत्यन्तिक महाप्रलय कहा जाता है। इसमें निमेषसे लेकर द्विपरार्द्ध पर्यन्त कालकी गणना नहीं है, एवं जगत, ईश्वर, सत्त्व, रज, तम गुण नहीं हैं और न प्रधान, प्रकृति, षड्विकार आदिकी ही सम्भावना है। केवल सत्, चिद्, आनन्द, अनन्त और अद्वैतके अतिरिक्त अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

—ः भावार्थः —

तिषा बाधते तमः" रासरात्रिके समय योगमायाके प्रकाशसे तम (कालमायामय जगत) का बाध-नाश हो गया था। किसी पदार्थके अभाव या तो नाशके लिये 'बाधते' का प्रयोग होता है। धात्वर्थ देखनेसे भी उपरोक्त अर्थकी ही पुष्टि होती है। 'छन्दसि कालाऽनियमः' इस भाष्यसे 'बाधते' में वर्तमान काल नहीं कहा जा सकता। बृहद्वामन पुराणमें भी लिखा है कि—

प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा।
शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगोचरे॥
अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्।
गोलोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः॥

अर्थः—ब्रह्माजी अपने पुत्र भृगुजीसे कहते हैं कि, हे पुत्र! अखण्ड रासलीलाके समय प्राकृत प्रलय हो जानेके कारण जितने भी व्यक्त कार्य थे सब अव्यक्तमें लीन हो गए और कालमायाके तिरोहित होनेपर केवल प्रकाशरूप परमात्मा ही अवशिष्ट रह गया था। उस समय परम अक्षर ब्रह्म—जो वेदोंका उत्तम [नित्य] स्थान है, वहां पर ही स्थित होकर बेदोंने परात्पर गोलोकवासी कृष्णकी स्तुति की है और कृष्णजीके प्रसन्न होने पर अपने साथ भी रासरमण करनेका वर मांगा है। ऋग्वेदमें भी वेदोंका स्थान अक्षर ब्रह्मको बताया है यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।

[ऋग्वेद मं० १-सू० १६४ मं० ३९]"

अर्थः—सर्वोत्कृष्ट सर्वगत अक्षर ब्रह्ममें ऋचा-वेदोंका निवास है, जिसमें देव और सब लोक स्थित हैं।

इत्यादि परसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुतियोंने जिस समय रास लीलाको देखकर स्तुति की है, उस समय प्राकृत प्रलय हो गया था अतः यावत् व्यक्त कार्य अव्यक्तमें लय पा चुके थे; केवल एक कृष्ण ही शेष रह गए थे, जो अपने अखण्ड वृन्दावनमें रासलीला कर रहे थे। यह प्रलय कालिक अकालिक दो प्रकारका होनेसे बिना समयके भी हो सकता है ४

अक्षरस्य स्वभावो यः केवलाख्य उदीर्य्यते।
तत्र वृन्दावनं दिव्यं योगमाया-प्रकल्पितम्॥ ५

गू०—अक्षरस्य त्रयः स्वभावाः सन्ति केवल सबलिकाव्याकृत नामानः त एव नामन्तरेणाधिदैवाध्यात्माधिभौतिका इति कथ्यन्ते। तत्राव्याकृत प्रतिबिम्बितं रासं ददृशुरिति दिदर्शयिषया अक्षरस्येत्यादीन् त्रीन् श्लोकान्ब्रूमः ननु स्वभावत्वे किं प्रमाणमिति चेत् 'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते' इति गीतायां भगवदोक्तत्वादक्षरस्य स्वभावो युक्त एवेति। स्वभावो नाम स्वाभिन्नान्तःकरणैकवृत्तिः। केवलाख्य इति। कमित्यानन्दः 'कं सुखं जलमाख्यातमित्येकाक्षरात्' के सुखे ब्रह्मानन्दे स्वात्मानं वलते-वलयति आच्छादयति योऽसौ केवलः नाम्नि उपपदे वलसंवरणे एतस्माद्धातोरच् तत्रानन्दमयी वृन्दावनलीलेति दिक्॥ ५॥

भा०—अक्षर ब्रह्मका जो केवल स्वाभाव है, उसीमें योगमाया निर्मित नित्य वृन्दावन है; जिसे अक्षर ब्रह्मने अखण्ड कर लिया है। अक्षर भगवानके केवल, सबलिक और अव्याकृत, इस प्रकार तीन स्वभाव हैं। उन्हींको नामान्तरसे अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत भी कहते हैं। गीतामें भी इसका उल्लेख किया है। यथा "अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते (गी० ८-३) स्वभाव अन्तःकरणकी

—: भावार्थ :—

वृत्तिको कहते हैं। "के ब्रह्मानन्दात्मकसुखे स्वात्मानं वलते वलयति—आच्छादयति योऽसौ केवलः 'वल' संवरणे इति धातो रच् प्रत्ययः" केवल पदका शब्दार्थ—'क' नाम सुखका है। ब्रह्मानन्दात्मक सुखमें आच्छादित रहे अथवा आच्छादित करे, उसे केवल कहते हैं। क शब्द उपपद रहते वल संवरणे धातुसे अच् प्रत्यय करने पर केवल शब्द सिद्ध होता है। इसे अक्षर ब्रह्मका एक स्वभाव माना गया है ॥ ५ ॥

सबलाख्यो द्वितीयोऽस्ति तत्रापि प्रतिबिम्बितम्।
तत्रापि राजते कृष्णो ललनारत्न-संयुतः ॥ ६

गु०—सबलाख्य इति सः पूर्वोत्तराभ्यां केवलाव्याकृताभ्यां मिलित्वा गच्छितीति सबलः उभय मध्यवर्त्तित्वात् यद्वा समानमक्षरसदृशं बलं यस्य स एव साबलः स्वार्थेऽण् आद्यचोवृद्धि। सबलिकः इति वक्तव्ये समानं यद्बलं सृष्टिकर्त्तृकत्वादिकं तदस्यास्तीति मत्वर्थे इक प्रत्ययः केवल साहचर्य्यात् तत्प्रतिविम्बप्रतिबिम्बोऽत्र शुद्धेस्फटिक इव सबलिकाख्यपुरुषे प्रतिबिम्बो भवति यथा ब्रह्मानन्दलवः केवले प्रतिबिम्बरूपेणायाति एवं आनन्दलवोऽपि शुद्धाकारे सबलिके प्रतिबिम्बरूपेणायाति एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः ॥ ६ ॥

भा०—अक्षर ब्रह्मके दूसरे स्वभावका नाम सबलिक है। इसमें भी वृन्दावनकी अन्तःकरणीय लीला प्रतिबिम्बित हैं। यहांपर रासलीला हुआ करती है ॥ ६ ॥

अव्याकृतस्वभावो यस्तृतियोऽक्षरसंभवः।
तत्रापि प्रतिबिम्बोऽस्तु वर्त्तते सबलान्वयात् ॥ ७

गू०—अव्याकृत इति अव्याकृतो नाम तृतीयोऽक्षर स्वभावो मूलप्रकृतिः 'तद्धेदंतर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते इति श्रुतेः मूलप्रकृतिरविकृति र्महदादि प्रकृति विकृतयस्सप्तेति कारिकोक्तेः तत्रापि सबलिकान्वयात् तत्प्रतिबिम्बभूता ब्रह्मानन्दलवाश्रिता लीला वर्तते इति तत्राव्याकृतात्परः सबलिकस्तत्परः केवल इति तथोक्तं वज्रसूच्यां "विश्वरूपं च चैतन्यमेतन्मायास्वरूपकं । मायापरं भवेद् ब्रह्मतत्परं ब्रह्म केवलमिति' तत्र मायापरनामकमव्याकृतमिति तत्परं सबलिकाख्यं ब्रह्मेति तत्परं केवलं ब्रह्मेतिबोध्यम् । तत्र त्रिष्वेव ब्रह्मानन्दलवस्थबिम्बेणानन्दलीला वर्तते । आनन्दमन्तरेण जीवनाद्यसम्भवात् तथेयं श्रुतिः " को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ' तथा 'आनन्देन जातानि जीवन्ति' इति श्रुत्यन्तरमित्यलम् ॥

भा०—अक्षर ब्रह्मके तृतीय स्वभावका नाम अव्याकृत है। यहांपर भी सबलिक पुरुषके संसर्गसे प्रतिबिम्बरूप वृन्दावनकी लीला होती है। इसका दूसरा नाम मूल प्रकृति भी है । इसी स्वभावसे जगतकी उत्पत्ति हुआ करती है । यही बात निम्न लिखित बृहदारण्य [४-७] श्रुतिमें लिखी है " तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते " सृष्टिके पूर्व यह विश्व अव्याकृतस्वरूप था,उसीसे नामरूपात्मक व्यक्तरूपमें प्रगट हुआ है इत्यादि । शिव संहितामें भी " मूलप्रकृति अव्याकृतनामा " इस प्रकार अव्याकृतको मूल प्रकृति करके लिखा है । वज्रसूची वेदान्तमें शङ्कराचार्यजी भी लिखतें हैं कि—

विश्वरूपं च चैतन्य-मेतन्मायास्वरूपकम् ।
मायापरं भवेद्ब्रह्म तत्परं ब्रह्म केवलम् ॥

अर्थः—यावत् चेतन विश्वरूप है, वह सब मायात्मक है अर्थात् मूल प्रकृति जो अव्याकृत है उससे उत्पन्न होनेवाला है । मायासे पर

—: भावार्थ :—

जो सबलिक ब्रह्म है, उससे भी पर केवल ब्रह्मका धाम है। अक्षर ब्रह्मके उपरोक्त तीनों स्वभावोंमें ब्रह्मानन्दलीलाका प्रतिबिम्ब पड़ता है, इससे ये भी ब्रह्मके आनन्दरूप ही माने गए हैं। क्योंकि ब्रह्मके बिना आनन्द नहीं रह सकता। श्रुतिमें लिखा है कि—"को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् (तै० उ० २–७) ब्रह्मके बिना अन्य कौन जीवित रह सकता है। अरे! यदि यह आकाशके समान अनन्त ब्रह्म न होय तो कौन सुखी कर सकता है। " एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ० ४–३–३२) आनन्दस्वरूप ब्रह्मके ही आधारसे अन्य लोग आनन्द पा रहे हैं। इत्यादि श्रुति भी ब्रह्मके सब आनन्दोंको ब्रह्मस्वरूप ही प्रतिपादन करती हैं॥ ७॥

अव्याकृतस्थं यद्रम्यं मण्डलं वीक्ष्य विस्मिताः।
तुष्टुवुः परमानन्दं तत्रत्यं श्यामसुन्दरम्॥ ८

गू०—तत्र प्राकृते प्रलये अव्याकृतस्थं सबलिकानन्दलीलाप्रतिबिम्बभूतं रम्यं रासलीलामण्डलं वीक्ष्य वेदास्तुष्टुवुस्तत्रत्यं कृष्णमिति तथोक्तं भागवतेदशमोतरार्द्धे 'स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सहशक्तिभिः तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परमिति अस्यायमर्थः—स्वसृष्टं स्वेच्छयोत्पादितं इदं ब्रह्माण्डं कालमायामयं स्वाप्निकं आपीय पीत्वा योगमाया मण्डलोदये सर्वं संहृत्य शक्तिभिर्ब्रह्माङ्गनाभिः सह मिलित्वा शयानं समाध्यवस्थापन्नमक्षरं परं श्रुतयो वेदर्चः

भा०—प्राकृत प्रलयके समय वेदोंने अक्षर ब्रह्मके इसी स्वभावमें प्रतिबिम्बरूपसे स्थित वृन्दावन मण्डलको एवं रासलीलाको देखकर स्तुति

तदन्तेशयनान्तेसमाध्यवस्थान्तावसरे रासावसाने इत्यर्थः। तमेव स्वान्तःकरणैकरूपाव्याकृते प्रतिबिम्बरूपेणस्थितमित्यर्थः। तल्लिङ्गैः तस्य चिह्नैस्तस्य नाना गुणाख्यानैः बोधयांचक्रु र्विज्ञापयामासुः स्वाशयमिति। प्राकृते प्रलये वेदानामपि लयः श्रूयते कथं स्तोतुं ते क्षमाः भवन्ति तथाहि "तर्हिं न सन्न चासदुभयं नच कालजवः किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदेति" 'कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद-संज्ञिता मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः' इति भागवते। दशमोत्तरार्द्धे चैकादशस्कन्धे वेदानामभावः प्रलयकाले विज्ञायते। भगवद्गीताकारेणापि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन" इत्यत्र तेषां त्रैगुण्यविषयत्वमुक्तं सतिचैवं त्रिगुणादीनां विनाशे तद्विषयरूपाणां वेदानामपि विनाशप्रसङ्गः। वाढमुक्तं, वेदानां च चत्वारि रूपाणि। स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण भेदेनेति। तत्र स्थूल-

—: भावार्थ :—

की है। इस बातको शुकदेवजीने भागवत (१०–८७–१३) में संकेतरूपसे इस प्रकार लिखा है। यथा—

स्वसृष्ट–मिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रु स्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥

अर्थः—(स्वसृष्टम्) अपनी इच्छासे उत्पन्न किये हुए (इदम्) इस कालमायामय स्वाप्निक ब्रह्माण्डको (आपीय) पानकर अर्थात् योग-मायाके उदय होते ही सबको संहारकर (शक्तिभिः सह) अपनी शक्ति (कुमारिका) सहित (शयानम्) समाध्यवस्थाको प्राप्त (परम्) परम पुरुष अक्षरको देखकर (श्रुतयः) वेदोंने (तदन्ते) समाध्यवस्थाके अन्तमें अर्थात् रासलीलाके अवसान समयमें (तत् लिङ्गैः–तस्य कृष्ण-स्वरूप परमात्मनः लिङ्गानि स्वरूपबोधकानि चिह्नानि तैः) कृष्णस्वरूप

रूपं वेदानां ऋगादिरूपेण प्रसिद्धम् । सूक्ष्मरूपं तु चतुर्मुखस्य हृदिस्थितं 'यो वै वेदांश्चप्रहिणोति तस्मै' इति 'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती, वितन्वताजस्य सतींस्मृतिं हृदि' इति 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः' इति भागवताच्च कारणरूपं नारायणान्तर्भूतं तच्छ्वासरूपेण बहिर्निगच्छन्तीति। अरेऽस्य महाभूतस्यनिश्वसितमेतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इत्यादि बृहदारण्योक्तत्वात् । अथ च महाकारणरूपं अक्षरस्थं तथा च ऋग्वेदस्य श्रुतिर्वक्ति ' ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुरिति;'ते अक्षरस्थाः श्रुतयस्त्व-

—: भावार्थ :—

परमात्माके गुण बोधक वचनोंसे (बोधयाञ्चक्रुः) स्तुति की । तात्पर्य यह है कि, जब अक्षर ब्रह्म स्वप्नरूप जगतको तिरोहितकर सोए हुए की भांति समाध्यवस्थाको प्राप्त हो रासलीला देखनेमें निमग्न हुए तो अक्षरातीतने अपने आवेशको हटा लिया, तब रासलीलासे अन्तर्ध्यान हो अपने मूलस्वरूपमें चेतन हुए और ध्यानद्वारा रासलीलाको अखण्ड कर लिया । वही रासलीला तीनों अन्तःकरणोंमें प्रतिबिम्बरूपसे स्थित हुई है । अव्याकृतमें स्थित इसी प्रतिबिम्ब लीलाके रासकर्ता कृष्णजीकी स्तुति वेदोंने की है । शङ्का—प्राकृत प्रलयमें तो वेदोंका नाश होना लिखा है । जैसे कि—किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा [भा० १०–८७–२४] " जब परमात्मा शास्त्रको आकर्षणकर सोता है, तब कुछ भी शेष नहीं रहता ।

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥

इत्यादि भागवत[११–१४–३]में लिखा है । गीतामें भी "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" ! वेदोंको त्रिगुणमय वर्णन किया है । तब प्रलयमें

खण्डाः प्राकृते प्रलये न विनश्यन्तीति। ता एव बोधयांचक्रुः परं पुरुषमिति विभावनीयं, अन्यासां श्रुतीनां प्राकृतलयान्तर्गतत्वादर्वाक्स्थितत्वाच्च, तत्र प्रवेशासंभव इति। ननु अव्याकृतस्थं पुरुषं स्तुवन्तीत्युक्तं तच्च मूलप्रकृतिरेव, प्राकृते प्रलये तु मूल प्रकृत्यपरनाम्न्या मायाया विनाशोऽनुमीयते। सत्यं, अव्याकृतकार्य्यस्य ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तस्य जगत एव नाशः नत्वव्याकृतस्याक्षरान्तःकरणैकवृत्तित्वात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति" श्रुत्यादौ तस्यसद्रूपाभिधानात् 'सत्वाच्चावरस्येति' ब्रह्मसूत्रेणाथैवमभिधानाच्चेति समीचीनम्

—: भावार्थ :—

वेदोंने स्तुति कैसे की होगी ?। समाधान—देखो जी ! शास्त्रोंमें वेदोंके चार स्वरूप माने गए हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। उनमें व्यक्तका नाश होता है, अव्यक्तका नहीं। स्थूलरूप तो ऋग्वेदादि नामसे प्रसिद्ध हैं और सूक्ष्मरूप ब्रह्माके हृदयमें स्थित है। यथा—"योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"। प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती" जो वेदोंको प्रदान करता है। जिसने प्रथम सरस्वतीरूप शब्दराशिको प्रेरित किया। "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः [भा० १—१—१]" इत्यादि प्रमाण ब्रह्माजीके हृदयमें वेदका होना वर्णन करते हैं। कारणरूप वेद नारायणजीके अन्तर्भूत है, जो श्वासरूपसे प्रगट होता है। जैसाकि निम्न लिखित बृहदारण्य (४—१०) श्रुतिमें लिखा "अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस" इति। अरे ! इस महापुरुष नारायणके निःश्वासभूत चारों वेद हैं। वेदोंका महाकारण स्वरूप अक्षर ब्रह्मके अन्तर्भूत है। जैसा कि "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" इत्यादि ऊपर बताया जा चुका है। अक्षर भगवानके हृदयमें स्थित वेद अखण्ड हैं। उनका महाप्रलयमें भी नाश नहीं होता। इन्हीं वेदोंने रास देखकर स्तुति

—: भावार्थ :—

की है। क्योंकि अन्य श्रुतियोंका तो प्राकृत प्रलयमें नाश हो गया था। प्रश्न—प्राकृत प्रलयमें अव्याकृतस्थ पुरुषकी श्रुतियोंनें स्तुति की है, ऐसा आप कहते हो और अव्याकृत मूलप्रकृतिका नाम है और प्राकृत प्रलयमें तो प्रकृति पर्यन्त नाश हो जाता है तब अव्याकृत किस प्रकार शेष रहा होगा? । उत्तर—देखो जी ! अव्याकृत अक्षर भगवानके अन्तःकरणकी एक वृत्तिका स्वरूप है, जो ब्रह्मादि कीटपर्यन्त इस नश्वर विश्वका कारण होते हुए भी अविनाशी है। उससे उत्पन्न होनेवाला विश्व प्राकृत प्रलयमें नष्ट हो जाता है परन्तु वह तो अपनी अव्यक्त दशामें नित्य अविनाशी है। जैसा कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् [छान्दोग्य ६–२–१] इत्यादि श्रुतिमें लिखा है। वेदान्तके " सत्त्वाच्चावरस्य [२–१–१६] इस सूत्रमें भी जगतके कारणरूप अव्याकृतको अविनाशी ही वर्णन किया है।

स्तुत एवं स भगवानूचे ब्रूतेप्सितं वरम् ।
ऊचुस्तदा श्रुतिगणा वरमेतत्प्रदीयताम् ॥ ९
रूपे नारायणादीनां वस्तुत्वं नैव विद्यते ।
सगुणत्वात्स्वाप्निकत्वाद्विनाशित्वाच्च भो प्रभो ! १०

गू०—तदाज्ञप्ताःश्रुतयआहू रूपे इति। नारायणादीनां रूपे वस्तुत्वं न तत्र त्रयो हेतवः सगुणत्वा त् स्वाप्निकत्वादक्षरस्वप्नोद्भवत्वात् विनाशित्वाच्च। बृहद्धामनेप्येवं तेषां वस्तुत्वं वारितं तद्यथा 'नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ! सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तु बुद्धिर्न तेषु नः' इति प्रकटीकृतं तस्याक्षरस्वप्नोद्भवं द्वितीय तरंगेऽतोऽत्र न विस्तारयामः

भा०—जय ! जय ! इत्यादि अनेक प्रकारसे श्रुतियोंके स्तुति करने पर प्रसन्न हो कृष्णभगवान बोले कि—हे श्रुतियो ! जो तुमारि इच्छा हो,

—ः भावार्थः —

वर मांगो ! तव श्रुतियोंने यह वर मांगा कि, भगवन् ! नारायणादि यावत् स्वरूप सगुण और स्वप्नमय विनाशी होनेसे उनमें तो हमारी वास्तविक बुद्धि नहीं है अर्थात् उनमें ब्रह्म बुद्धि न होनेसे हमारे हृदयमें वास्तविक प्रेम उत्पन्न नहीं होता । 'यह बात यहां संक्षेपमें लिखी गई है। इसका विस्तरशः वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराणके कृष्णजन्म खण्डमें और बृहद्वामन पुराणके उत्तर खण्डमें आता है । वहांपर लिखा है कि—

नारायणादि रूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ! ।
सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥

ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिः यद् रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥

आनन्दमात्रमिति यद् वदन्तीह पुराविदः ।
तद् रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥

श्रुत्वैतद् दर्शयामास स्वलोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्द–मात्र–मक्षर मध्यगम् ॥

अर्थः—नारायणादि देव सगुण (नाशवन्त) होनेसे इनमें हमारी नित्यवस्तु बुद्धि नहीं है अतः यदि आपको वर देना है तो, जो मन, वाणीसे पर है और जिसे निर्गुणसे भी पर कहा जाता है, उस रूपका दर्शन कराइये । इस प्रकार श्रुतियोंकी स्तुति सुनकर श्रीकृष्णजीने प्रकृतिसे पर अपनें लोकका दर्शन उन्हें कराया । जो अक्षर ब्रह्मके मध्यवर्ती और आनन्दस्वरूप था ।

निर्गुणं ब्रह्म यत्किञ्चित् प्रवदन्तीति वादिनः ।
वाङ्मनो गोचरातीतं तस्मात्तन्न प्रतीयते ॥ ११

गू०—निर्गुणमिति। निराकारं रूपादिशून्यं। ननूभयरूप परित्यागे किं प्रमाणमिति चेत्सत्यं शृण्वेतद् यजुर्वेद संहिता मंत्रेणैतत्प्रतिपाद्यते तद्यथा "अंधं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः" इति येऽसम्भूतिं संभूतिशून्यं सर्वसंपद्रहितं निराकारमुपासते ये च संभूत्यां प्राकृतैश्वर्य्यसमन्विते नारायणादि-रूपे रताः ते उभये अन्धं तमः प्रविशन्ति इति मन्त्रार्थसूचना तथैव वज्र-सूच्यां 'साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यत्वाच्छून्यस्य-चावस्तुत्वादुभयपक्षविभिन्नं वस्तुज्ञानं मोक्षः' तथाभिहितं भागवते द्वितीयस्कन्धे 'एतद् भगवतो रूपमित्युपक्रम्य 'अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते, उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः" इति एव-मादि प्रमाणतः सगुण निर्गुणातीतं ब्रह्मेत्युक्तिस्संगच्छते इति ध्येयम्।

भा०—जिसे वादी लोग निर्गुण ब्रह्म कहा करते हैं और जो मन, वाणी तथा इन्द्रियोंसे पर है, वह तो शून्य होनेसे प्रतीति करने योग्य नहीं, अतः सगुण निर्गुण दोनोंसे पर आपका जो स्वरूप हैं, उसका द-र्शन कराइये। प्रश्न—उपरोक्त कथनसे सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपोंसे पर ब्रह्मका तृतीय स्वरूप प्रतीत होता है, तो क्या निर्गुणसे पर भी कोई ब्रह्मका स्वरूप है, कि जिसे शास्त्रोंने प्रतिपादित किया हो ?। उत्तर—जी ! हां, सगुण निर्गुण दोनोंसे पर जो ब्रह्म है, वह शुद्ध स्वलीलाद्वैत सच्चि-दानन्दस्वरूप है। इस विषयमें श्रुतिस्मृतियोंके अनेकशः प्रमाण हैं। यजुर्वेद (अ० ४० मं० ८) में लिखा है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

अर्थः—(ये) जो कोई पुरुष (असम्भूतिम्) व्यक्त ऐश्वर्य रहित

—: भावार्थ :—

अव्याकृत, कारण-प्रकृति अथवा निराकार की (उपासते) उपासना करते हैं (अन्धं तमः) अदर्शनात्मक (तमः) अन्धकारमें (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, और (ये) जो कोई (सम्भूत्याम्) कार्य ब्रह्म हिरण्य-गर्भ, नारायण, विष्णु आदिमें (उ) ही (रताः) रत हैं अर्थात् इन्हींको ब्रह्म मान उपासना करते हैं (ते) वे (ततः) उससे भी (भूयः) अधिक (इव) ऐसे (तमः) गाढ़तम-अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। कहनेका आशय यह कि, साकार निराकारकी उपासना करने-वाले दोनोंहीं अन्धकारात्मक गर्तमें पतित होते हैं। अपने वज्रसूची वेदान्तमें शङ्कराचार्यजी भी लिखते हैं कि—

"साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यत्वा-
च्छून्यस्य चावस्तुत्वादुभयपक्षविभिन्नं वस्तुज्ञानं मोक्षः"

अर्थः—साकार सावयव यावत्पदार्थ हैं, वे तो नश्वर हैं और निराकार शून्य होनेसे कोई वस्तु नहीं माना जा सकता। इसलिये साकार निराकार दोनों पक्षोंसे भिन्न वस्तु ज्ञान मोक्ष है। भागववतमें शुकदेवजीने भी इस बातकी पुष्टि की है। "एतद्भगवतो रूपं" इस वचनसे प्रारम्भ कर भगवानके सगुण निर्गुण, दोनोंही स्वरूपोंका वर्णन किया है और फिर अन्तमें बतलाया है कि, ये दोनोंही स्वरूप मायाजन्य हैं और परमात्मा इनसे भिन्न है। यथा—

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥
(भा० २-१०-३५)

अर्थः—शुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! यह दोनों-साकार

—: भावार्थ :—

और निराकार–भगवानके रूप, जिनका कि मैंने वर्णन किया हैं, मायाजन्य हैं अतः विद्वान लोग इनको ब्रह्म नहीं मानते अर्थात् मायाजन्य होनेके कारण साकार निराकार दोनोंही ब्रह्म * नहीं हो सकते। कहनेका अभिप्राय यह है कि, परमात्मा सगुण निर्गुण दोनोंसे भी पर है। इसलिये सगुण निर्गुण दोनोंसे पर आनन्दरूपके लिये श्रुतियोंका स्तुति करना प्रमाण सिद्ध है ॥ ११ ॥

आनन्दमात्रं यद्रूपं दर्शनीयं वरं हि नः ।
निशम्यैतद्वचः कृष्णो दर्शयामास तत्परम् ॥ १२

टिप्पणी.

* ब्रह्मसूत्रमें व्यासजीने ब्रह्मके दोनों स्वरूप होनेका निषेध किया हैं। " न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं हि सर्वत्र (ब्रह्म सू० ३–२–११) श्रुतियां ब्रह्मको साकार निराकार दोनों रूपसे वर्णन करती हैं तो क्या ब्रह्म दोनों प्रकारका है या एक प्रकारका ? इस सूत्रमें इस भांति प्रश्न कर अन्तमें निर्णय किया है कि—" उपाधीनां चाऽविद्याप्रत्युपस्थापित्वात् । अतश्चान्यतर लिङ्ग परिग्रहेपि समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं, न तद्विपरीतम् "। साकार निराकार दोनों ही अविद्योपस्थापित उपाधि हैं अतः ब्रह्मके स्वरूपको दोनों उपाधियोंसे रहित निर्विकल्प सच्चिदानन्दस्वरूप ही मानना चाहिये, न कि उसके विरुद्ध, ऐसा लिखा है।

न्यायनिर्णय टीकाकार भी इसका अर्थ करते हैं कि—उपाधिवशादविद्योभयलिङ्गत्व—योगेपि न तात्त्विकमुभयलिङ्गत्वं कूटस्थस्य ब्रह्मणो वास्तवरूपान्तरायोगात् " उपाधिवशात् अविद्याकल्पित दोनों स्वरूपोंका प्रतिपादन होने पर भी तत्त्वतः देखा जाय तो अविनाशी ब्रह्मके दोनों स्वरूप नहीं हो सकते। कारण कि परमात्माके वास्तविकरूपमें रूपान्तरका योग नहीं हो सकता।

गू०—आनन्दमात्रमिति आनन्दमात्रं आनन्दाकारमात्रं यद्रूपं तदेव दर्शनीयं दर्शयितुं योग्यमिति हि नोऽस्माकं वरमिति तदैवमुक्तो- भगवान्स्वीयलीलासामग्री—संपन्नं तत्परं स्वरूपं आनन्दमात्रं 'तद्वि- ज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभातीति' श्रुति प्र- सिद्धं रूपं दर्शयामास ॥ १२ ॥

भा०—हे प्रभो! आनन्दमय जो आपका स्वरूप हैं, उसीका दर्शन हमें मिले, यही वर दीजिये। इस प्रकार श्रुतियोंके वचन सुनकर श्री कृष्णजीने धाम सहित अपने आनन्दस्वरूपका दर्शन कराया ॥ १२ ॥

वृन्दावनं यत्र वनं कालिन्दी सरिताम्वरा ।
यत्र रासरसोन्मत्तः कृष्णो गोपी गणावृतः ॥ १३

भा०—जहांपर वृन्दावन नामका वन और यमुना नामकी सरि- द्वारा है। वहां पर गोपियोंके गण सहित श्री कृष्णजी रास रम रहे हैं ॥ १३

तदाह ब्रूत भोः प्राज्ञाः! प्रियं किं करवाणि वः ॥
वेदा ऊचुस्तु भो ब्रह्मन्! दर्शितो लोक उत्तमः ॥ १४

यथा भवान्गोपिकाभी रमते सुन्दराकृतिः ।
तथाजनि रिरंसा नः रम्यतां यदि मन्यसे ॥ १५

गू०—एवं स्वाभिन्नानन्दसामग्रीसंपन्नं स्वरूपं दर्शयित्वा भग- वानुवाचार्द्धेन तदेति। पुनरर्द्धेन वेदा ऊचुः। वेदा इति ॥ १४ ॥

गू०—किमूचुस्तदपेक्षायामाह यथेति। तथैव नोऽस्माकं रन्तुमि- च्छाजनि जाता यदि कृपया भवान्मन्यतेऽस्मान्तर्हि गोपिकाभिरिवा- स्माभी रम्यतामिति ॥ १५ ॥

भा०—ऐसे उत्तम लोकको दिखाकर श्री कृष्णजी बोले कि–हे श्रुतियों ! बोलो अब तुमारी क्या इच्छा है ? । तब वेदोंने कहा कि–हे ब्रह्मन् ! आपकी कृपासे आपका तथा आपके दिव्य लोकका दर्शन तो किया । अब तो केवल यही इच्छा है कि, जिस प्रकार आप गोपियोंके साथ विहार करते हो, हमारे साथ भी कीजिये । यदि आपको वर देना है, तो हमारी इच्छाको पूर्ण कीजिये ॥ १४–१५ ॥

तदाह भगवानित्थं दुर्लभो वो मनोरथः ।
तथाप्यत्राधिकारोऽस्ति नान्यासां गोपिकां विना ॥

गू०--तदाह भगवान्द्वाभ्यां तदेति गोपिकां विनात्र रमणाधिकारस्तु अन्यासां कासामपि नास्ति ॥ १६ ॥

भा०—इस प्रकार प्रार्थना सुनकर कृष्णजीने कहा कि—हे श्रुतियो ! यह तुमारा मनोरथ बहुत दुर्लभ और दुर्घट है । क्योंकि इस मण्डलमें गोपियोंके अतिरिक्त अन्य किसीको रमनेका अधिकार नहीं है ॥१६॥

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे व्रजे गोप्यो भविष्यथ ।
तदा रिरंसा भवतां सेत्स्यतीति न संशयः ॥ १७

गू०—आगामि ब्रह्माण्डे पृथिव्यां भारते क्षेत्रे व्रजो नामग्रामस्तत्र यूयं गोपीरूपेण भविष्यथ तदा भवतां रिरंसा सेत्स्यति नात्रसंशयः ॥

भा०-परन्तु आगामी सृष्टिमें भरतखण्डके मध्य व्रज मण्डलमें तुम लोग गोपीरूपसे प्रगट होवें वहां पर तुमारी इस इच्छाकी पूर्ति हो जावेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा विरते कृष्णे कालमाया मयं जगत् ।
प्रादुरासीद्यथापूर्व-मनष्टमिव चाभवत् ॥ १८

गू०—इत्युक्त्वा कृष्णे विरते सति पुनः कालमायामयं जगत् यथापूर्व प्रादुरासीत् 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथवीं चान्तरिक्षमथोस्वरिति श्रुतेः । किञ्चानष्टमिवाभवत् ॥१८॥

भा०–उपरोक्त प्रकारसे वरदान पाकर वेद अपने स्थानको प्राप्त हुए और उधर रासलीलाकी समाप्ति होते ही कालमायामय–जगत पुनः प्रगट हुआ। जैसी पदार्थरचना, पूर्व जगतमें थी उसी प्रकार जैसाका तैसा मानो कि–नष्ट ही न हुआ हो—जगत उत्पन्न हुआ। यही बात ऋग्वेदके मंत्रसे भी स्पष्ट होती है। यथा–

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः [ऋ० १–१०–१०]

अर्थः–सम्पूर्ण विश्वको धारण पालन करनेवाले परमेश्वरने सूर्य चन्द्र, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग आदि यथापूर्व अर्थात्–जैसे पूर्वमें थे, उत्पन्न किये ॥ १८ ॥

यथा ब्रह्मादयो देवा यथासन्मानुषादयः ।
यथासन्पशवः सर्वे पक्षिणोऽप्यपरे यथा ॥ १९

गू०---पूर्ववज्जगदासीदिति स्पष्टयति। यथेतिपञ्चभिः ॥ १९ ॥

भा०---जैसे पूर्व सर्गमें ब्रह्मादि देव तथा मनुष्य थे और जैसे पशु पक्षी आदि जीव थे--उसी भांति सब प्रगट हुए ॥ १९ ॥

यथा लोकाः समुद्रा वै यथा नद्योऽद्रयो यथा ।
व्रजे यथाऽवसन् गोपा यथासीद्यमुना पुरा ॥ २०

गू०---यथा लोका इति नद्यः सामान्यान्याः सरितः अद्रयः व्रजोऽपि पूर्ववत् तत्र गोपा यथा अवसन् यमुनापि यथापूर्वमासीत् ॥

भा०—जैसे–लोक, समुद्र, नदी, गिरि, पर्वत, एवं व्रजवासी गोपालबाल थे, उसी प्रकारके सब देखनेमें आए ॥ २० ॥

यथा वत्सा यथा बाला यथा गावस्तथाऽभवन् ।
यथासन्पशवोऽन्येपि सर्वे पूर्ववदास्थिताः ॥ २१

भा०–व्रजादि स्थानोंमें जिस गायका जैसा बछरा था और जैसी जिसकी गाय थीं वा अवस्था स्वरूप थे, सबके सब उसी प्रकार प्रगट हुए अर्थात् यावत् स्थावर जङ्गम सब पूर्व सर्गके समान उत्पन्न हुए ॥ २१ ॥

तदैव श्रुतयस्ता वै गोपिका अभवन्व्रजे ।
तथैव नन्दसूनुर्वै स्वगृहे प्रातरुत्थितः ॥ २२

गू०—तदेति प्राप्तवराः श्रुतयो गोपिकारूपिण्यो व्रजेऽभवन तथैव कृष्णोऽपि जात इति ॥ २२ ॥

भा०—जब सम्पूर्ण विश्व पूर्ववत् प्रगट हुआ तो, वर मांगनेंवाली श्रुतियां भी गोपिका रूपसे प्रगट हुईं । उधर अक्षरातीतका आवेश और अक्षर ब्रह्मकी आत्मा अपने मूलस्वरूपको प्राप्त हुए तो, इधर श्रीकृष्णका पूर्ववत् कलेवर नारायणकी आत्मा, अक्षरका आवेश लेकर गोलोकी ऐश्वर्ययुक्त प्रातःकाल नन्दजीके घरसे नित्यकी भांति उठा । सब सामग्री यथास्वरूप और पूर्ववत होनेसे किसीको इस रहस्य–लीलाका पता नहीं लगा । इसलिये कृष्णको तथा गोपी, ग्वालोंको पूर्ववत् समझते रहे । जैसे नित्यप्रति अपनें २ घरसे सब लोग प्रातःकाल उठा करते थे, उठे अतः किसीको भेद विदित न हुआ । होता भी कहांसे? सब जगत ही जब नूतन जैसा हुआ तो पहलेकी बातको कहे अथवा समझे कौन? इसलिये किसी प्रकारका भेदभाव नहीं माना गया ॥ २२ ॥

यथाशीलं गुणो वित्तं वपुस्थौल्यादिकं यथा ।
स्वभावो पुत्रपौत्रादि यथासन्न विपर्य्ययः ।। २३

भा०—रासलीलाके प्रथम व्रजमें गोपियोंके जैसे स्वभाव, शील तथा गुण थे एवं जैसे स्थूल, कृश शरीर थे, श्रुतिरूपा गोपियोंने भी उसी प्रकार धारण किये । पुत्र पौत्र आदि कुटुम्ब परिवारमें भी किसी प्रकार स्वरूप-भेद नहीं पड़ने पाया, सब जैसेके तैसे, उठ खड़े हुए ।। २३ ।।

यथा हृता ब्रह्मणा वै वत्सा बालाश्च सर्वशः ।
प्रभुणा मायया क्लृप्तास्तथात्रापि न संशयः ।। २४

गु०—अत्र दृष्टान्तेनैतत्स्पष्टयति । यथा ब्रह्मणा वत्साः बालाश्च हृताः कृष्णेन तत्सदृशाः क्लृप्ताः सहसंवत्सर पर्य्यन्तं विजह्रे तेषां कल्पित पूर्वीयवत्सादीनां चागमनावसरे–भवनं केऽपि न विदुरिति । तथा कालमायामय–ब्रह्माण्डप्रलयो मध्ये योगमायामय–ब्रह्माण्डोदय इति न बहिर्दृष्टयो विदुरिति । पुनः कालमायाब्रह्माण्डोदयं भागवते श्रीवादरायणिर्भगवान् प्रदर्शितवान् तद्यथा 'कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः पुरुषेणात्म भूतेनवीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवानिति' ।।२४।।

भा०—जिस भांति–' ब्रह्माजीने गोवत्स, बालकोंको हरलिया था तब श्रीकृष्णजीने उसी प्रकारके सब उत्पन्न कर एकवर्ष पर्यन्त लीला की और जब ब्रह्माजी सब गौ, वत्स तथा गोपाल बालकोंको लेकर शरणार्थी हुए तो, अपनी मायासे बनाए हुए गोवत्स, ग्वालबालोंको तिरोहित कर लिया; परन्तु इस भेदको–लीलारहस्यको–किसीने समझ नहीं पाया । उसी प्रकार रासलीलाके समय ब्रह्माण्डका प्रलय होना, रासलीलाके बाद अक्षरात्मा तथा अक्षरातीतके आवेशका चला जाना और ब्रह्म प्रियाओंका

—: भावार्थ :—

मूलस्वरूपमें पहुंचना एवं पुनः ब्रह्माण्डका प्रगट होना और पूर्व गोपियोंके कलेवरमें श्रुतिरूपा गोपियोंका आना तथा प्रतिबिम्बके कृष्णका अन्य [नारायणात्मा, गोलोकी वैभव तथा अक्षरावेशका] होना, किसीने नहीं जाना । यह सब कुछ प्रभुकी मायाशक्तिके लिये कुछ आश्चर्य जनक नहीं, किन्तु करतल मात्र था ॥ २४ ॥

गोपालाः प्रातरुत्थाय ददृशुः स्वान्तिकेऽङ्गनाः ।
नन्दादिभिश्च ददृशे पर्य्यंकात्कृष्ण उत्थितः ॥ २५

गु०—योगमायावसाने पुनस्स्वप्नोद्भवे व्रजे गोपालाः प्रात उत्थाय स्वान्तिकेऽङ्गनाः श्रुतिरूपागोप्यो ददृशुः न च ते कालमायाया लुप्तत्वात् सखीभिः सह कृष्णाचरितरासलीलां ज्ञातवन्तः इत्याशयः नन्दादिभिरपि प्रभाते पर्य्यंकादुत्थितः कृष्णोददृशे दृष्टस्तेऽपि रास-लीलां न विदुरिति ॥ २५ ॥

भा०—जब प्रातःकाल सब गोप ग्वालोंने अपनेंको पूर्ववत पाया तो, यह किसीने नहीं जाना कि रात्रिको रास हुआ था ॥ २५ ॥

ततोर्वाक् कृष्ण आगत्य यमुनातटमुत्तमम् ।
शारदं चन्द्रमालोक्य वंशीनादं चकार ह ॥ २६

गु०—ततः तस्मादर्वाक् पश्चात् कृष्णः उत्तमं यमुनातटमाग-त्य शारदं चन्द्रमालोक्य वंशीनादं चकार हेति स्फुटम् ॥ २६ ॥

भा०—तदनन्तर श्रीकृष्णजीने शरदके पूर्णचन्द्रको देखकर यमुना-तटपर पुनः वंशीनाद किया । जिसे सुनकर श्रुतिरूपा गोपियोंने अपने २ गृह पुत्र कलत्रादि त्याग दिये और कृष्णके साथ रास रमनेके लिये चल दीं ॥

रासलीला तदा ह्यासीद् महती श्रुतिभिस्सह ।
हरिणा वेणुनादेनाऽऽहूताभीरासमण्डले ॥ २७

गु०—तदासीदिति । तदातस्मिन्काले श्रुतिभिस्सह महती रासलीला आसीत् 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु रिति भागवतेऽप्युक्तं भवत्येवमेव ॥ २७ ॥

भा०—जिस प्रकार प्रथम रासलीलाके लिये किसीने तन त्यागकर तो किसीने उलटे सीधे आभूषण धारण कर प्रयाण किया था, उसी प्रकार श्रुतिरूपा गोपियोंने भी सर्वस्व त्यागकर प्रियतमके मिलनेके लिये व्रजसे प्रयाण किया । इस बातको शुकदेवजीने संकेतरूपसे + लिखा है कि—" मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः " उसी प्रकार श्रुतिरूपा गोपिका भी अपने मनोरथके अन्तको प्राप्त हुईं अर्थात् उनके मनोरथ पूर्ण हुए ॥

टिप्पणी.

+ कृष्णकी रासलीलाके विषयमें बहुतसे मतभेद हैं । परन्तु रासलीलाके बाद पुनः जगत प्रगट हुआ और तदनन्तर श्री कृष्णजीने दुवारा रासलीला की, इस विषयमें स्पष्टरूपसे किसीने नहीं लिखा । इसका कारण यह है कि, शास्त्रोंमें जो रासलीलाका वर्णन आता है, वह इसी प्रतिबिम्ब लीलाका आता है, प्रथम रासलीलाका नहीं । प्रथम रासलीलाको तो किसी २ महान पुरुषने संकेतरूपसे लिखा है । स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें लिखा है कि—कृष्णकी रासलीला दो प्रकारकी है । एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी । यथा—

रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते ।
प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलाऽन्यैरनुभूयते ॥

इस रासलीलाका रहस्य प्रकृतिसे भी पर है, अतः उसका वर्णन नहीं हो सकता । जब प्रभु प्रकृतिके साथ खेलते हैं, तब इनका खेलना दूसरी लीलाके द्वारा अनुभूत होता है । वह किस प्रकारसे है ? अब यह अग्रिम श्लोकसे दिखाते हैं—

ताभिस्ससप्ताह पर्य्यन्तं रेमे स भगवान् किल ।
वियुज्य मथुरां यातो बलदेवेन संयुतः ॥ २८

शु०—ताभिस्सप्ताहपर्य्यन्तं रेमे किल ततः ताभिर्वियुज्य मथुरां-गतः तदुक्तं पुराणसंहितायाम् 'वृन्दावनं मधुवनं तयोरभ्यन्तरे विभुः ताभिस्सप्तदिनं रेमे वियुज्य मथुरां गत इति ॥ २८ ॥

भा०—श्रुतिरूपा गोपियोंके साथ कृष्ण भगवानने सात दिवस पर्य्यन्त वृन्दावन मधुवन आदि स्थलोंमें विहार किया और तत्पश्चात् गोपियोंसे विछुड़कर बलदेव सहित मथुरापुरीको चले गए। पुराण संहितामें भी इस प्रकारका वर्णन आता है। जैसे कि—

वृन्दावनं मधुवनं तयोरभ्यन्तरे विभुः ।
ताभिस्सप्त दिनं रेमे वियुज्य मथुरांगतः ॥

श्रुतिरूपा गोपियोंके साथ सात ही दिन विहार किया और तद-

टिप्पणी.

सर्गस्थित्यप्यया यत्र रजः सत्त्व तमोगुणैः ।
लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी ॥

इस लीलामें सत्त्व रज तम-गुणोंके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है। यह लीला भी दो प्रकारकी है—वास्तवी और व्यावहारिकी।

वास्तवी तत्स्वसंवेद्या, जीवानां व्यावहारिकी ।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित् ॥

अर्थः—वास्तवीलीला तो स्वसंवेद्य है अर्थात् तारतम्यज्ञानके द्वारा ही जानी जा सकती है और व्यावहारिकी लीलाको भाग्यशाली जीव जान सकते हैं। परन्तु वास्तवीलीलाके समझे बिना व्यावहारीकी लीलाका

—: भावार्थ :—

नन्तर मथुराको चले गए, इस परसे भी यही स्पष्ट होता है कि, रासलीलाके वाद प्रगट होनेवाला कृष्णका स्वरूप तथा गोपिका अन्य थीं। यदि प्रथमके ही सब होते तो श्रुतिरूपा गोपियोंके साथ सात ही दिन विहार किया, ऐसा क्यों लिखते ? ॥ २८ ॥

अक्रूरानीतमारुह्य स्यन्दनं सपरिच्छदम् ।
जगाम गोपीस्संबोध्य ह्यागमिष्यामि वोऽन्तिके ।२९
एव-माश्वासनं दत्त्वा न पुनश्चागतः प्रभुः ।
विरहव्याधितप्ताङ्गास्तत्पदं श्रुतयो ययुः ॥ ३०

गू०—गमनं वर्णयति अक्रूरानीतमिति । विरहेति विरहो वियोगस्स एव व्याधिर्मानसं दुःखं तया तप्तान्यङ्गानि यासां ताः श्रुतयस्तत्पदं तद्धाम ययुरिति भावः॥ २९ ॥

टिप्पणी

वास्तविक स्वरूप समझमें नहीं आता और व्यावहारिकी लीलाके समझे बिना वास्तवीलीलाका रहस्य हृदयमें प्रविष्ट नहीं होता । इन दोनोंका परस्पर अन्योऽन्याश्रय जैसा सम्बन्ध है। इसलिये दोनों ही प्रकारकी लीला होती है और दोनों ही लीलाके वास्तविक स्वरूपको समझनेकी आवश्यकता है ।

तस्मिन्नास्वाद्यमाने तु सच्चिदानन्दरूपिणी ।
प्रकाशते हरेर्लीला सर्वतः कृष्ण एव च ॥

अर्थः—इस लीलाका अनुभव होतेही प्रकृतिसे पर जो सच्चिदानन्दरूपिणी लीला है, उसका प्रकाश आत्मामें हो जाता है । " इत्यादि परसे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि, रासलीला दो प्रकारकी है । इन दोनोंसे भिन्न और प्रकृतिसे पर एक तीसरी लीला भी है, जो नित्य अखण्ड

भा०—कृष्णको मथुरा ले जानेकेलिये अक्रूरजी रथ लेकर आए थे। किन्तु कृष्णका मथुरा जाना गोपियोंके लिये असह्य था अतः उन्हें तीन दिनमें लौट आनेका आश्वासन देकर बलदेव सहित आप मथुरा पधारे। अवधि पूरी होनेपर जब श्रीकृष्णजी नहीं आए तो उनके वियोगजन्य विरहको न सहन करती हुईं श्रुतिरूपा गोपी श्रीकृष्णके पदको प्राप्त हुईं ॥ २९-३० ॥

तत्रापि तुर्य्यदिवसैः कंसादीनहनत्परः।
तत आगत्य गूढार्च्चि गोपीनां हृदयेऽविशत् ॥३१

गू०—तत्रेति तुर्य्यदिवसैः कंसादीनां वधमकरोत् तथोक्तं पुराणसंहितायां 'चतुर्भिर्दिवसैरीशः कंसादीननयत् परं। तत आदाय तद्धाम गूढं गोपीहृदि स्थितः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी.

होती है और उसे सच्चिदानन्दरूपिणी कहते हैं। इस लीलाके विषयको आलमन्दार संहितामें और भी स्पष्टरूपसे वर्णन किया है। यथा—

शृणु पार्वति ! यत्नेन लीलानां तृतयं महत्।
यस्मिन् ज्ञाते जीवसृष्टि र्भवाब्धिं प्रतरेत्सुखम् ॥

नास्य ज्ञानं ब्रह्मसृष्टिं विना कस्यापि जायते।
अक्षर-ब्रह्महृदये वास्तवीं विद्धि शंकरे ! ॥

नित्यं वृन्दावने या च सा स्मृता प्रातिभासिकी।
व्रजभूम्यां च या लीला सा प्रोक्ता व्यावहारिकी ॥

भावार्थः—महादेवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि—गिरिजे ! रासलीलाके तीनों भेदोंको यत्नपूर्वक सुनो। जिस लीलाभेदके ज्ञानसे जीव सृष्टि-मायाके जीव भी संसारसागरको सुखपूर्वक तर जाते हैं। परन्तु उस (रासलीला) का ज्ञान ब्रह्मसृष्टिके बिना प्रथम किसीको उत्पन्न नहीं

भा०—मथुरापुरीमें जाकर चार दिनके अन्दर कंसादि दुष्टोंको मारा और तदनन्तर उग्रसेनको राजगादी दी । उसके बाद नन्दजीके हाथ अपना ग्वालवेश [बंशी लकुट, मोर मुकुट आदि] देकर आपने राज-वंशीय वेशको धारण किया है । जो वस्त्र, वंशी, लकुट आदि नन्दजीके हाथ वृन्दावनको भेजे थे, उन्हींके साथ गोलोकीय शक्तियुक्त अक्षरावेश चला आया और गुप्तरूपसे गोपियोंके हृदयमंदिरमें विराजमान हो गया । इसलिये गर्गसंहितामें लिखा है कि—" गोपवेशकृता लीला माथुरी नचा· माथुरी " गोपवेशधारी कृष्णकी लीला मथुरा तक ही थी, अमाथुरी—द्वार-

टिप्पणी.

होता अर्थात् ब्रह्मसृष्टिद्वारा ही जीवोंको प्राप्त हो सकता है । अक्षर ब्रह्मके हृदयमें जो लीला अनादिकालसे वर्तमान है, उसे वास्तवी कहते हैं और नित्य वृन्दावनमें जो रासलीला होती है, उसे प्रातिभासिकी कहते हैं अर्थात् वास्तवीलीलाका प्रतिबिम्बरूप होनेसे उसे प्रातिभासिकी कहा जाता है । इस जगतके मध्य व्रज भूमिकामें जो रासलीला हुई है, उसे व्यावहारिकी लीला कहते हैं । इस प्रकारसे रासलीलाके तीनों भेद पृथक् २ लिखें हैं । परन्तु शुकदेवजीने इस बातको पृथक् २ न लिखकर " मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः " इतनेसे ही दोनों लीलाओंको समाप्त कर दिया है अर्थात् प्रथम गोपियोंकी भांति दूसरी रासलीलामें श्रुतियोंके भी मनोरथ पूर्ण हो गए । दूसरी रासलीला प्रतिपदाको हुई है परन्तु इसका होना पूर्णमासीकी रात्रिमें ही माना गया है । इस लिये दोनों लीलाओंका पृथक् २ भेद नहीं प्रतीत होता । पूर्णमासीकी रात्रिमें होना इसलिये लिखा है कि—जब प्रथम रासलीलाके लिये वंशी बजाई और योगमायाका उदय हुआ तो इस कालमायाके जगतका तो तिरोभाव हो गया था अत: पूर्णमासीकी रात्रि बाकी रह गई और जब कालशक्तिके जगतका पुनः उदय हुआ तो सब लोग प्रातः काल अपने २ घरसे उठे । इस कारण प्रातः उठनेके बाद जो रासलीला हुई उसकी गणना पूर्णमासीकी (पूर्वशेष) रात्रिमें ही की गई है ।

का आदिकी लीला गोपवेशधारीकी नहीं, किन्तु क्षत्रीय वेशधारी विष्णुकी है। पुराणसंहितामें भी उपरोक्त वर्णन आता है। यथा—

चतुर्भिर्दिवसैरीशः कंसादीननयत्परम्।
तत आदाय तद्धाम गूढं गोपीहृदि स्थितः॥

अर्थः—प्रतिबिम्बके कृष्णने सात दिवस पर्य्यन्त तो वृन्दावन आदिमें लीला की और तदनन्तर मथुरा पधारे। वहांपर चार दिवसमें कंसादिका—वध किया और तत्पश्चात् अपने तेजको लेकर गुप्तरूपसे गोपियोंके हृदयमें स्थित हुए, इस प्रकार लिखा है॥ ३१॥

चतुर्थे दिवसे कृष्णः कंसं हत्वा सुरद्विषम्।
पित्रोर्बन्धं लोहमयं मुमोच हरिरीश्वरः॥ ३२
गोपानां वसतौ गत्वा नन्दादीनाह गोपराट्।
व्रजे भवद्भिर्गन्तव्यं सुखं तत्रोष्यतां सदा॥ ३३

गू०—गोपानामिति गोपेषुराजते शोभते यद्वा गोपान्राजयति स्वजन्मनाऽसौ यद्वा गाः इन्द्रियाणि पान्ति विषयेभ्यो रक्षन्तीति गोपाः वीतरागाः तान्राजयति स्वसत्तास्फूर्तिप्रदानेनासौ गोपराट् कृष्णः आह व्रजे गत्वा तत्र उष्यतां निवासः क्रियताम्॥ ३२॥

भा०—चौथे दिवस मथुरामें कंसका वधकर वसुदेव देवकीको बन्धनमुक्त किया। तदनन्तर अपने निवासस्थान अर्थात् जहांपर ठहरे हुए थे—जाकर नन्दादि गोपोंसे कहने लगे कि—आप सब लोग व्रजको जाओ और वहीं पर सुखपूर्वक निवास करो॥ ३१–३२॥

इत्युक्त्वा मुकुटं स्वीयं मुरलीं गोपवेषधृत्।
वासांस्याभरणादीनि चादाय प्रददौ पितुः॥ ३३

गू०—इत्युक्त्वेति । गोपवेशं विभर्त्तीति गोपवेशभृत् एतद्विशेषणेनाद्यावधि भगवता गोपवेशोधृत इति सूचितं भवति गोपवेषो यावद्धृतः तावदेव स्वयं भगवत्वं अनन्तरं यदुवंशवेषधरस्त्वन्यः विष्णुरिति बोध्यम् । तथा च स्मृतिर्वक्ति ' गोपवेषकृता लीला माथुरी न चामाथुरीति अत्र केचिद्वदन्ति गोपवेषधृत् यदुवेषधृच्च एक एव न विशेषस्तेषामग्रेऽयं पृष्टव्य एकश्चेत्तर्हि वियोगदुःखतप्तांगाः व्रजसुन्दर्य्यः मथुरायां द्वारिकायां वा स्थितं यदुवेषधारिणं कृष्णं कुतो न प्रत्यागताः । लोकापवादभियेतिचेन्न बद्धस्नेहादिना रासावसर एव कुल वेदलोकलज्जादिकं त्यक्तं अतो नैतद्युक्तं दूरत्वात् द्वारिकायायास्तत्र न गता इत्यपि न प्रयुक्तं बद्धचित्तानां कृष्णं

भा०—इस भांति नन्दजी तथा अन्य गोपोंको समझाकर अपना मुकुट, मुरली, वस्त्र तथा आभूषण—जो आप धारण करते थे—उतारकर नन्दजीको दे दिये और तदनन्तर यदुवेष धारणकर लिया । गोपालवेषके साथ भगवानका अंश भी चला आया, और यहांसे विष्णुका अवताररूप हुए। इसके बाद जो चरित्र किए हैं, वे विष्णुरूप कृष्णके माने जाते हैं। मथुराकी जो लीला थी, वह गोपवेषधारी कृष्णकी थी और मथुराके आगे द्वारका आदिकी लीला विष्णु अवतार की हैं। इस बातको सूचित करनेके लिये ही स्मृतिमें लिखा है कि—"गोपवेषकृता लीला माथुरी नचामाथुरी" गोपवेशधारी कृष्णकी लीला केवल मथुरापुरी पर्यन्त ही थी, उसके बादकी नहीं अर्थात् मथुरामें भी गोपवेशधारी कृष्णकरके की हुई लीला वैकुण्ठवासी विष्णुकी नहीं, किन्तु प्रतिबिम्बस्वरूप गोलोकवासीकी है। कुछ लोगोंका कहना है कि गोपवेशधारी तथा यदुवेशधारी कृष्ण एकही थे, भिन्न नहीं । परन्तु यहांपर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि गोपवेशधारी और यदुवेशधारी कृष्ण एकही थे तो कृष्णके वियोग-

विना शरीरपुत्रादित्यागमपि चिकीर्षन्तीनां नास्ति दूरतरा द्वारिका मथुरा वा 'कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनां' इत्युक्तेः 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छतीति गर्गसंहितायामुक्तं जागर्ति तत्रायं विरोधः स एव गतश्चेद्द्वारिकायां कथं तावद् वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छतीति उक्तिः कथं संगच्छते। पुनः 'यत्राधा च तत्राहं नावयोर्विरहः क्वचिदिति, पुराणसंहितोक्तेः राधाकृष्णशक्ति मद्भावसंबन्धं दर्शयति अतः परित्यज्य शक्तिं कथं शक्तिमानन्यत्र याति नच सा भिन्ना शक्ति रितिचेन्न अग्नेर्दाहकतेव चन्द्रस्याह्लादकतेव तदभिन्नासहजा शक्तिः व्यक्तिमात्रेण रूपद्वयं दृश्यते इति 'एकस्य व्यक्तिर्युगलं स्वामिनी कृष्ण एव च। स्वामिनी किरणा एव सख्योऽन्याः परिकीर्तिता इति पुराणसंहितोक्तेः 'स एवात्मा द्विधा भवति पतिश्च पत्नी चेतिश्रुतेः, 'परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-

—: भावार्थ :—

जन्य दुःखसे व्याकुल व्रज सुन्दरीं यादवेन्द्र कृष्णके पास मथुरा द्वारका आदि स्थानमें जाकर उनसे क्यों न मिली ?। कदाच कहो कि लोकापवादके भयसें न गई होंगी तो, यह भी कहना संगत नहीं। क्योंकि रासके समयसे ही कृष्णके प्रति बद्धस्नेह होकर गोपीं लोक, वेद, कुल, कुटुम्ब, लाज मर्याद, मार्गभय आदिको तिलाञ्जलि दे चुकी थीं। दूर होनेके कारण नहीं गई होंगी, अगर यह कहा जाय तो भी उचित नहीं। क्योंकि श्रीकृष्णके लिये जिन्होंने शरीर तक त्याग दिये थे, उनके लिये मथुरा या द्वारका जाना कठिन नहीं था। "किं दूरं व्यवसायिनाम्" व्यवसायी पुरुषोंकेलिये कुछभी दूर नहीं। वृन्दावनसे मथुरा तीनही कोशपर है, कोशोंतक घूम २ कर दही बेचनेवाली ग्वालिनीं प्राणसे भी अधिक प्रिय कृष्णके लिये मथुरा तक न जा सकें और बारह २ कोश दूर तक गाय चरानेवाले

क्रिया चेति श्वेताश्वतरीय श्रुतेश्च । ऋङ्मन्त्रोऽपि व्रजसुन्दरीणां तत्स्त्रीत्वं वदति तद्यथा 'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न विचेतदंधः कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्सपितुष्पितासत्' एतन्मन्त्रस्य नीलकण्ठसूरिणा कृता व्याख्या लिख्यंते 'स्त्रियोगोप्योऽपिसतीः अविच्युतधर्मा एव यतः तान् ताः पुंस्त्वमार्षं 'ता उ मे इति तैत्तिरीयाः स्त्रीत्वमेवात्र दर्शयंति' ताः स्त्रियः महापुरुष संबन्धिनीरेवाहुः जगदात्मना कृष्णेन सह रममाणानां तासां न पातिव्रत्यभङ्गोऽस्ति इत्यर्थ एवं पश्यन् अक्षण्वान चक्षुष्मान्, न विचेतत् एतदजानन् अन्ध एव यः कविरेकान्तदर्शी भगवल्लीलातात्पर्याभिज्ञः स ईमाः इमानि सर्वाणि भूतानि चिकेत जानीते यश्च ताः विजानात् विजानीते स पितुष्पिता गुरोरपि गुरुः सन् असत् दीप्यते इति एवं प्रभृति बहुतरप्रमाणेभ्यः राधापुरस्सखीनां परित्यागः

—: भावार्थ :—

कृष्णजी मथुरासे वृन्दावन तक [तीन कोश भी] न आकर, उद्धवजीको भेज गोपियोंको ज्ञान उपदेश करावें, यह स्वरूपभेद हुए बिना सम्भव नहीं, इससे सूचित होता है कि, वृन्दावनविहारी कृष्ण अन्य थे और द्वारका मथुरावासी अन्य। यदि व्रजके कृष्ण और यादवेन्द्र कृष्ण एक ही होते तो गोपिका अवश्य मथुरापुरी जाकर विरहतापको शान्त करतीं। जातीं भी किस लिये ? गर्गसंहितामें लिखा है कि—"वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति" कृष्ण तो वृन्दावनको छोड़कर कहीं कदम धरते ही नहीं तो कृष्णका द्वारकापुरी जाना कैसे माना जाय ? कदाच मानें तो उपरोक्त वाक्यसे विरोध होगा। पुराण संहितामें भी लिखा है कि— "यत्र राधा च तत्राहं नावयोर्विरहः क्वचित्" जहां पर राधिकाजी हैं, वहीं पर मैं रहता हूं। हम दोनोंका कभी वियोग नहीं रहता। इस

न संजाघटीति किन्तु गोपवेषधरो राधारमणः गूढभावेन तत्समीप-वर्त्येव विज्ञायते यदुवेषभृत्त्वन्य एव। अथ च वनगोपी प्रेमादिदर्शयिषणा यादवेन्द्रेणैकान्तभक्ताभिमानी उद्धव एकदा वियोग शान्तिकरज्ञानप्रदानापदेशेन व्रजे प्रेषितोऽभूत् स च स्वोक्त तत्त्वोपदेशे प्रत्युक्ति श्रुत्वा चकित इदमूचे 'आसामहो चरणरेणुजुषां मह स्यां-वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनां। या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यामिति, अत्र वृन्दावने गोपीनां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां मध्ये अहो अहमपि किञ्चित्स्यां इत्युद्धवेन स्वेष्टदेवं प्रति प्रार्थना क्रियतेस्मेति विज्ञायते। तत्रेथं शङ्काः—उद्धवस्तु यदुवेषधारिणः एकान्तभक्तः सखा च तस्य कृष्ण चरणारविन्दरेणवः सर्वदैव सेव्याः सन्ति कथं वृन्दावनवासिनामाभीर-कुलोत्पन्नानां त्यक्तवेदादिमार्गाणां गोपीनां चरणरेणु प्रतिपत्त्यर्थं

—: भावार्थः —

परसे भी शक्ति शक्तिमानका सम्बन्ध ज्ञात होता है अर्थात् राधा शक्ति हैं और कृष्ण शक्तिमान हैं। तब तो शक्तिको छोड़कर शक्तिमान कहीं नहीं जा सकता; तब वियोग कैसा ?। कदाच कहा जाय कि राधिकाजी भिन्ना शक्ति होंगी, तो वह भी नहीं। क्योंकि राधिकाजी अभिन्नसहजा शक्ति हैं। जैसे अग्नि और दाहकता। वह कभी भिन्न नहीं हो सकते। पुराणसंहितामें लिखा है कि—

एकस्य व्यक्ति युगलं स्वामिनी कृष्ण एव च।
स्वामिनी किरणा एव सख्योऽन्याः परिकीर्तिताः॥

अर्थः—एकही ब्रह्म पुरुषके कृष्ण और राधिका दोनों स्वरूप हैं। स्वामिनीकी अन्य सखीं किरण समान हैं। एक पुरुष परमात्मा ही युगल

लतौषधीनां स्थावरजातिमध्ये स्वोत्पत्तिमैच्छत् । दुर्लभतममनुजशरीरं सुरादिभिरपि प्रार्थितं तत्कथं वा निन्द्यममन्यत कथं वा पूर्वजन्मोपार्ज्जित-महत्पापेन लभ्यं स्थावरत्वमियेष यस्य समीपवर्ती साक्षात् कृष्ण एव तस्य कृष्णभक्तस्य गोपीचरणरेणु प्राप्त्यर्थं स्थावरेषु जन्मप्रार्थना न युक्तेति । एतच्छंकासमाधानसामंजस्ये तु गोपवेषधारिणः कृष्णस्य यादवेन्द्रकृष्णात्पार्थक्यं पूर्णब्रह्मेति मीमांसमानः गुरुभ्य इव गोपीभ्यो प्राप्तलौकिक सिद्धान्तगुह्य प्रेमा अद्यावधि मज्जन्म वृथैव जातमिति आत्मानं धिक्कुर्वाणः पूर्णब्रह्मण्येव प्रेमलक्षणया बद्धचित्तानां गोपीनां चरणरेणुप्रतिपत्तये वृक्षादिभावमैच्छदिति बोध्यम् । गोपीचरणरजस्सेवा केनाप्युपायेन मिलिष्यतीतिचेदासां चरणसेवाप्रतापेन तत्प्रेम्णा वशीकृतः कृष्णोऽपि वृन्दावनविहारी कालान्तरेण मिलिष्यत्येवेत्युद्धवापेक्षा ध्वन्यते इति भावः

—: भावार्थ :—

व्यक्ति (राधाकृष्णरूप) है । अन्य सखी स्वामिनीजीकी किरणरूप हैं । बृहदारण्य ब्राह्मण श्रुति भी परमात्माको युगलरूप वर्णन करती है । यथा—' स एवात्मा द्विधा भवति पतिश्च पत्नी च ' एक ही परमात्मा पति पत्नी दो रूप धारण करता है । इस प्रकार बृहदारण्य श्रुति भी परमात्माका युगलरूप होना वर्णन करती है । "परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते " इत्यादि श्वेताश्वतरश्रुति परमात्माकी अनन्त शक्तियोंका वर्णन करती है । नीचे लिखा वेदमंत्र भी परमात्माकी अनन्त शक्तियोंका सखीरूप होना प्रतिपादन करता है । यथा—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिताऽसत् ॥
[ऋग्वेद म० १-अ० २२ सू० १६४-१६]

—: भावार्थ :—

अर्थः—(स्त्रियः) स्त्रीरूप गोपिकाएँ (सतीः) अविच्युतधर्मा साध्वीं हैं (तान्—ताः स्त्रियः—अत्र पुंस्त्वमार्षं उ मे पुंसः आहुः) उन्हींको विद्वान लोग पुरुष सम्बन्धिनी—शाश्वती समा—कहते हैं। अथवा (मे) परमेश्वरकी (स्त्रियः) व्रजमें गोपिकारूपसे उत्पन्न होनेवाली शक्तियां "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते "—इति श्रुतेः। (सतीः) अविच्युतधर्मा साध्वी हैं (तान् उ 'अत्र पुंस्त्वमार्षं) उन्हीको विद्वान लोग (पुंसः आहुः) पुरुष सम्बन्धिनी—शाश्वती समा—कहते हैं "शाश्वतीभ्यः समाभ्यः इति श्रुतेः " कृष्ण परमात्माके साथ विहार करते हुए इनका पतिव्रतभङ्ग नहीं हुआ, जो इस प्रकार (पश्यन्) समझाता है (अक्षवान्) वही चक्षुवाला ज्ञानी है अथवा (तान् अक्षवान पश्यत्) उनके यथार्थ स्वरूपको चक्षुवाला ज्ञानीही देखता है (न विचेतत् अन्धः एव) जो ऐसा नहीं समझता अर्थात् गोपियोंको व्यभिचारिणी मानता है, वह अन्धा है अर्थात् अन्धा—अज्ञानी पुरुष उनके विशेषरूपको नहीं जान सकता (यः) जो (पुत्रः) आत्मज्ञ पुरुष (कविः) क्रान्तदर्शी—भगवल्लीलाके तात्पर्यका पूर्णज्ञाता है (सः ईम् आ चिकेत) वही उस तत्त्वको पूर्णतया जानता है (यः ताः विजानात्) जो उन शक्तिरूप गोपियोंको + विशेषरूपसे जान लेता है [सः पितुष्पिता असत्] वही

टिप्पणी

+ उपरोक्त वेद मन्त्रने गोपियोंके सम्बन्धमें बहुत ही महत्वपूर्ण उपदेश दिया है और उनके सनातन सम्बन्धको भी सूचित किया है। जो गोपियोंके विषयमें दोषारोपण करते हैं, उन्हें अन्धा बताकर गोपियोंके मानकी रक्षा की है। इस मंत्रकी व्याख्या नीलकण्ठसूरिने भागवतकी टीकामें दी है। नीलकण्ठसूरिका ऋग्वेद भाष्य भी सुना जाता है परन्तु प्रचलित भाष्योंमें आजकल मिलता नहीं। भाष्यकारोंने इस मन्त्रके अन्य अर्थ भी किये हैं।

—ः भावार्थ ः—

पिताका भी पिता होनें योग्य है अर्थात् यथार्थ ज्ञानवान होनेसे वृद्धपिताके तुल्य आदरणीय है । उपरोक्त प्रमाणोंके कथनसे राधिका आदि गोपियोंका कृष्णके साथ अलौकिक पुरातन सम्बन्ध निश्चित होता है । जिससे शक्ति शक्तिमानका परमार्थतः वियोग सिद्ध नहीं होता । इसलिये गोपवेशधारी कृष्ण द्वारका नहीं गए; किन्तु गुप्तरूप गोपियोंके हृदयमें ही विराजमान होगए थें । द्वारका आदिमें चरित्रकरनेवाले कृष्ण चतुर्भुजविष्णुके स्वरूप थे, न कि गोलोकवासीके। एक समय यादवेंद्र कृष्णने अपने एकान्तभक्त उद्धवजीको गोंपियोंके अपूर्व प्रेमको दिखानेकी इच्छासे—गोपियोंको सान्त्वना देनेके बहानें—व्रजमें भेजा । कृष्णकी आज्ञा पाते ही उद्धवजी व्रजमें गए और गोपियोंको ज्ञानयोगद्वारा सान्त्वना—आश्वासन—देने लगे । जब गोपियोंने ज्ञानयोगका खण्डनकर अपने प्रेममार्गका परिचय दिया तो, उद्धवजीके हृदयकपाट खुल गए और लगे पछताने। कि, अरे ! मैं कृष्णकी भक्तिका अभिमान कर अपनेको कृतार्थ समझता था, परन्तु कृतार्थ होनेका मार्ग तो इन गोपियोंके पास है । जिस कृष्णके पादसेवनसे मोक्ष मिलता है, उनसे तो मैं सहस्रों कोश दूर हूं। धन्यतो ये गोपीं हैं ।

आसामहोचरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्

(भाग० १०-४६-६२)

अर्थः—हे नन्दनन्दन ! बस अब तो यही याचना है कि—इन गोपियोंकी चरणरज प्राप्त होनेकेलिये वृन्दावनकी किसी गुल्मलता आदिमें मेरा जन्म हो, जिससे मैं कृतार्थ हो जाऊं। दुस्त्याज्य कुल कुटुम्बको लात मारकर श्रुतिविमृग्य मुकुन्दकी पदवीको भजनेवाली इन गोपियोंकी चर-

—: भावार्थ :—

णरजका प्राप्त होना हमारे लिये धन्य भाग्य है। अब विचार करनेकी आवश्यकता है कि, उद्धवजी तो कृष्णकी साक्षात् सेवा करते थे और कृष्णके परमसखा थे। साक्षात् कृष्णको छोड़कर नीच जातिकी गोपियोंकी चरणरजके लिये नारकीय योनिके जड़जीवोंमें जन्म लेनेकी प्रार्थना क्यों की ? क्या वे नहीं जानते थे कि, जिस [illegible]की सेवासे गोपी पवित्र बनी हैं, मैं भी तो उन्हींका भक्त और परमसखा हूं, फिर इतनी दीनता किसलिये ? जिस मनुष्य शरीरको देवता भी तरसते रहते हैं और अतिदुर्लभ है, उसे निंद्य समझा और तामसी योनिके वृक्षोंमें जन्म लेना चाहा। कितने आश्चर्यकी बात है कि कृष्णके मित्र होकर कृष्णको तुच्छ समझें और नारकीय योनिमें जन्म चाहें? यह तो तभी सम्भव हो सकता है, जब व्रजवासी कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण भिन्न होवें। उद्धवजीको विदित हो गया था कि, नन्दपुत्र कृष्ण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे। अतः उनके लीलास्थलमें उत्पन्न होनेसे कभी न कभी कृष्णके प्रेमानुरक्त गोपियोंके चरणकी धूल सिरपर पड़ जावेगी तो मेरा जन्म कृतार्थ हो जावेगा, ऐसा समझकर उद्धवजीने गोपियोंके चरणकी रजके लिये प्रार्थना की है। अरे! उद्धवजी ही नहीं, शिव ब्रह्मादि भी गोपियोंकी चरणरजको तरसतेही रह गए और न मिली। इस विषयमें पीछे पृ [२०४] में विशेष लिखा है, वहां देख लेना चाहिये। उपरोक्त प्रमाण युक्त कथन परसे सिद्ध हो जाता है कि, गोपवेषधारी कृष्ण और यादवेन्द्र कृष्ण भिन्न थे, एक नहीं ॥ ३४ ॥

आनीय गोपाः प्रययुः व्रजं नन्दादयः खलु ।
गोपालज्ञापकं वेष–द्रव्यमन्तःपरांशकम् ॥ ३५

गू०—आनीयेति किमानीय प्रयुयुः? तत्राह गोपालज्ञापकं

गोपालरूपबोधकं अन्तर्निहितः परस्य कृष्णस्यांशो यत्र तत् वेष-द्रव्यं मुरल्यादिकं स्वीयगोपवेषद्रव्येण सहैव मथुरातो भगवदावेशो निवृत्त्य व्रजे गोपीनां हृदि प्रविष्टोऽभूत् । तदुक्तं पुराणसंहितायाम् । तत आदाय तद्धाम गूढं गोपीहृदि स्थित इति ॥ ३५ ॥

भा०—गोपालवेषके बोधक द्रव्य अर्थात् मुरली, मोरमुकुट आदि जो थे, उन्हें लेकर नन्दादि गोप व्रजमें आये । इसी गोपालवेषपर पर-पुरुषका अंश भी निहित था, जो वस्त्रादिके साथ चला आया और गुप्तरूपसे गोपियोंके हृदयमें विराजमान हो गया । इसी बातको "तत आदाय तद्धाम गूढं गोपीहृदि स्थितः" इस वाक्यसे व्यक्त किया है ॥३५॥

वंशीभूषण वासांसि पूजयन्तिस्म गोपिकाः ।
तद्दिनादेव श्रीकृष्णं मेनिरे स्वान्तिकस्थितम् ॥३६

भा०—उसी दिनसे गोपिकाओंने श्रीकृष्णको अपने समीप स्थित मानकर कृष्णकी वंशी, मोर मुकुट तथा वस्त्राभूषणोंकी पूजा करने लगीं। प्रश्न—वंशी आदि गोपालवेषके पूजनकी आवश्यकता क्या थी ? क्योंकि श्रीकृष्णजी तो उनके अन्तरमें विराजमान थे ही । उत्तर—देखो जी ! यद्यपि श्रीकृष्णजी उनके अन्तरस्थ थे तथापि नित्यप्रति स्मरण बढ़ता रहे इसलिये कृष्णकी मुरली आदि धारणकरनेकी शृंगारसामग्रीकी पूजा कर, उसके द्वारा आत्मसमर्पण करती थीं । जैसे रामचन्द्रजीके प्रति प्रेम ब-ढ़ानेकेलिये भरतजी उनकी पादुकाओंकी पूजा किया करते थे ॥ ३६ ॥

तदा नारायणांशो वै कृष्ण आसीन्न सत्वभृत् ।
आयाते तु जरासंधे चिन्तयामास चेतसि ॥ ३७

गू०—तदेति तदा तस्मिन्काले स्ववेषद्रव्येण सह कृष्णावेशो-

व्रजे गते सति नारायणांशो विष्णवंशमात्र एव कृष्ण आसीत् न पूर्णविष्णुः अतो न पूर्णपराक्रमः। यथासूर्य्ये अस्तं गते सति चन्द्रोदयः किञ्चित्कालान्तरेण पूर्णप्रकाशं लभते तथात्रापीति अतः चिन्तयामासेति। तथोक्तं भागवते दशमोत्तरार्द्धे "चिन्तयामास भगवान्हरिः कारणमानुषः। तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनमिति" कारणमानुषः कारणेन कृष्णावेश निर्गुणहेतुना मानुष एव एतेन पूर्णपराक्रमराहित्यं सूचितं भवति॥ ३७॥

भा०—जब कृष्णके कलेवरमेंसे प्रतिबिम्बरूप गोलोकवासीका आवेश नन्दादिकोंके साथ गोपवेषद्वारा व्रजमें चला गया, तब कृष्णमें नारायणका अंशमात्र शेष रह गया अतः पूर्णपराक्रम रहित हो गए। जैसे सूर्यके अस्त होते समय चन्द्रका उदय प्रकाशशून्य रहता है और कुछ समय बाद अपने प्रकाशको प्राप्त होता है। उसीप्रकार गोलोकवासी कृष्णका अंश निकल जानेके बाद नारायणांश निस्तेज हो गया था और कुछ समयके पश्चात् वह विष्णुके स्वरूपद्वारा पूर्ण हुआ, ऐसा लिखा है। जिस समय जरासन्धने मथुरापुरीको घेर लिया तो, नारायणांशको चिन्ता हुई है और फिर विष्णुस्वरूपके आने पर युद्धके लिये समर्थ हुए हैं। यथा—

चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः।
तद् देशकालानुगुणं स्वावतार-प्रयोजनम्॥

अर्थः—भगवान हरिने देशकालानुसार अपने अवतारके प्रयोजनकी चिन्ता की। चिन्ता करनेंका कारण क्या था? उसके उत्तरमें लिखते हैं कि—'कारणमानुष' उस समय गोलोकी तेंजके निकल जानेसे मनुष्यके समान रह गये थे, इसलिये चिन्ता हुई थी। इत्यादिसे सूचित होता है कि उस समय तक वह शक्तिरहित थे॥ ३७॥

तस्य चिन्तयतस्तूर्णं स्यन्दने द्वे समागते ।
वैकुण्ठात्सायुधे नाना–संपदादि–समन्विते ॥ ३८

गू०—तस्येति उक्तं तत्रैव "एवं ध्यायति गोविन्दे आकाशात्सूर्यवर्चसौ रथावुपस्थितौ । सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ । आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छयेति" ॥ ३७ ॥

भा०—जैसे ही कृष्णने चिन्तवन किया कि तत्काल वैकुण्ठसे दो रथ आ गए । जो शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग आदि विविध आयुधोंसे तथा अन्य भी उपयोगी उपकरणोंसे परिपूर्ण थे । भागवत (१०–५०–११) में शुकदेवजी लिखते हैं कि—

एवं ध्यायति गोविन्दे आकाशात्सूर्यवर्चसौ ।
रथावुपस्थितौ सद्यः–ससूतौ सपरिच्छदौ ॥

अर्थात् युद्ध शक्तिका अभाव देखकर जैसे ही भगवानको चिन्ता हुई कि ध्यानमात्रके करतेही वैकुण्ठ धामसे सारथी और साधन सहित दो रथ आकर सामने उपस्थित हो गये, ऐसा लिखा है ॥ ३८ ॥

तदैव भगवान् विष्णुः प्राविशत्सचतुर्भुजः ।
तद्दिनादवतारोऽसौ विष्णुरूपो निगद्यते ॥ ३९

गू०—तदैवेति प्राग्वसुदेवाय दर्शितात्मा चतुर्भुजो विष्णुः पूर्णतया प्राविशत् तद्दिनादेवासाववतारः किञ्च तदैवावसरे अवतार प्रयोजनं चिन्तितं तथोक्तं भागवते 'एतदर्थो ऽवतारो मे' इति । पुनः स्वावतार प्रयोजनमिति च स्वस्य मम विष्णोः वसुदेवगृहे यो ऽवतारोऽभूत् तस्य प्रयोजनं एतदेव भूभार हरणादिकं नत्वन्यत् ३९

भा०—बस, उसी समय विष्णु भगवानका चतुर्भुज स्वरूप उस कलेवरमें प्रविष्ट हुआ है और उसी दिनसे कृष्ण विष्णुके अवतार माने गए हैं। क्योंकि अपने अवतारके प्रयोजनकी चिन्ता [एतदर्थोऽवतारो मे] उसी दिन की है, पहले नहीं, अतः तभीसे विष्णुरूप हुए हैं ॥ ४९ ॥

देवकी-गर्भसम्भूतो भूभारहरणे क्षमः।
चतुर्भुजो दर्शितात्मा स एवासौ विविच्यते ॥ ४०

भा०—जो चतुर्भुज विष्णु प्रथम देवकीके गर्भसे प्रगट हुए थे, पृथिवीका भार उतारनेमें समर्थ उन्ही विष्णुने कृष्णके कलेवरमें प्रविष्ट हो, दैत्योंका संहार किया है ॥ ४० ॥

यदा युधिष्ठिरो विष्णु-मीजे क्रतुवरेण वै।
तदा चक्रेण निहतो वासुदेवेन चेदिपः ॥ ४१

भा०—जिस समय युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञमें विष्णुरूप कृष्णकी पूजा की तो शिशुपाल क्रोधित हो कृष्णकी निन्दा करने लगा। तब वासुदेव भगवानने चक्रसे शिशुपालका वध कर दिया ॥ ४१ ॥

शिशुपालस्यज्योतिर्वै निहतस्यास्यनिर्गतम्।
वैकुण्ठं निलयं गत्वा विना विष्णुं पराङ्मुखम् ॥४२
देवानां मनुजानां च पश्यतां तत्रचाध्वरे।
तस्मान्निवर्त्तितं ज्योतिः प्रविवेश हरेर्मुखम् ॥ ४३

भा०—चक्रसे मारे गए शिशुपालके मुखसे निकली हुई ज्योति वैकुण्ठको गई, किन्तु वहांपर विष्णु नहीं थे अत एव वहांसे लौटी हुई शिशुपालकी ज्योति सबके देखतेहुए कृष्णके मुखमें समा गई। कहनेका अभिप्राय यह है कि शिशुपाल द्वेषवश सदा कृष्णकाही चिन्तवन किया करता था

—: भावार्थ :—

अतः सुदर्शन चक्रसे मारकर शिशुपालको सायुज्य मुक्ति दी थी । परन्तु वैकुण्ठमें विष्णु नहीं थे, अतः विष्णुरूप कृष्णके मुखमें आकर समा-गई । इसपर से भी यही सिद्ध होता है कि द्वारकावासी कृष्ण वैकुण्ठवासी विष्णुके स्वरूप थे ॥ ४३ ॥

ब्रह्माद्यास्तु समागत्य जगुर्भारहरंहरिम् ।
भारोपनीतो भवता गम्यतां निलयं प्रति ॥ ४४
न राजते त्वां विना हि वैकुण्ठं भवनं महत् ।
तथेत्युक्तास्तु ब्रह्माद्यास्स्वालयं प्रययुर्मुदा ॥ ४५

भा०—जब कृष्णजीने पृथिवीका सम्पूर्ण भार उतार दिया तब ब्रह्मादि-देव आकर कहने लगे कि, हे प्रभो! अब तो पृथिवी भारशून्य हो गई अतः आप वैकुण्ठ धामको पधारें । क्योंकि आपके बिना महान वैकुण्ठ धाम शोभित नहीं होता, ऐसा सुनकर कृष्णजीने ब्रह्मादि देवोंके प्रति तथास्तु कहा, ऐसा सुनकर सब देव निज २ स्थानको गए ॥४४—४५॥

उर्व्या भारं क्षयं नीत्वा कृतकार्य्यो हरिस्स्वयम् ॥
पुनर्वैकुण्ठ निलय-मवात्सीद्धि यथा पुरा ॥ ४६

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति पण्डित कृष्णमणि-शर्म्मसूरि विरचितस्यानन्दसागरस्य षष्ठमस्तरङ्गः ।६

भा०—इस प्रकार पृथिवीका भार उतार कर भगवान विष्णु अपने धामको गए और जैसे प्रथम निवास करते थे, करने लगे ॥ ४६ ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्य—षष्ठमतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्तशास्त्रिकृता भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥ ६ ॥

सप्तमस्तरंगः

अथ रासे कृते शश्वत् पूर्णस्य परमात्मनः ।
अङ्गनास्त्वागता धाम निजं सर्वाः स्वरूपगाः ॥ १

गू०—व्रजलीला रासलीला च दर्शिता तत्प्रसंगानुसारेण कृष्णलीला विशेषश्च दर्शितः इदानीं स्वधाम गतवन्त्यो वा अनिच्छन्त्योऽनुमोदिता इति पञ्चमतरङ्गे यत्तावत्संखीनां निजधाम गमनं प्रतिपादितं तासां व्रह्माङ्गनानां दुःखदर्शनापेक्षापूर्त्यभावात् पुनरिदानीं कलौ स्वेष्टपूर्त्यर्थमवतीर्णानां तारतम्यानुकलित तत्ववस्तूपदेशाय श्रीकृष्णवेषांतरेण प्रादुर्भूतः इति दिदर्शयिषया सप्तमतरङ्गारंभस्तत्र तरङ्गारम्भे त्रिभिः श्लोकैः स्वधामगतवन्त्यो वेत्यादि पञ्चमतरंगोक्तं वृत्तान्तमनुस्मारयति अथेति । अथेत्यनन्तरं कृष्णस्वरूपभेदनिरूपणानन्तरं रासेशश्वत् निरंतरतया कृते सति पूर्णस्य सर्वैश्वर्य संपन्नस्य परमात्मनोऽक्षरातीतस्य सर्वास्त्वंगनाः निजपरात्मस्वरूपं प्राप्ताः सन्त्यः निजे धाम्नि आगता इति भावः ॥ १ ॥

अवतरण—प्रसंगानुसार व्रजलीला और रास लीलाके भेदका निरूपण किया और तदनुसार कृष्ण लीलाके स्वरूपभेद अर्थात् त्रिधालीलाका स्पष्टीकरण भी किया, अब पञ्चम तरङ्गमें बताए गए "रासलीलाकर सब सखीं परम धामको प्राप्त हुईं परन्तु सांसारिक दुःख देखनेकी इच्छा पूर्ण न हुई, अतएव कलियुगमें पुनः मनुष्यतन धारणकर प्रगट हुईं और

मोहमय जगमें भूल गईं, तब उन्हें तारतम्ययुक्त यथार्थ वस्तुका उपदेश देनेंके लिये श्रीकृष्णजी परमहंसादि वेष धारणकर प्रगट हुए " इस प्रसंगको दिखानेके लिये सप्तम तरङ्गका प्रारम्भ किया जाता है।

भा०—प्रथम तीन श्लोकोंसे पीछेके वृत्तान्तको स्मरण कराते हैं। रासलीला समाप्त होनेके बाद पूर्णब्रह्म परमात्माकी सम्पूर्ण अङ्गना (ब्रह्म-सृष्टि) अपने २ मूलस्वरूप—परात्मद्वारा निज धामको प्राप्त हुई ॥१॥

स्वामिनी प्रमुखानां यत्तामसीनां मनोरथः।
दुःखस्य दर्शनेनैव न पूर्णोभून्निजान्तरे ॥ २

गू०—स्वामिनी प्रमुखानामिति स्वामिनी पुरस्सराः तामस्यः ताभी रासाद्यवसरेऽपि दुःखं सम्यक्तया न दृष्टं, अतस्तासां यो मनोरथो निजान्तरे जातः सच न पूर्णोऽभूत् ॥ २ ॥

भा०—अपने २ मूलस्वरूपमें सखियोंकी सुरता—चित्तवृत्ति—पहुंची तो अवश्य परन्तु स्वामिनी आदि तामसी सखियोंके दुःखदेखनेका मनोरथ पूर्ण न हुआ ॥ २ ॥

ततः कारणरूपोऽसौ मोहबीजो दुरत्ययः।
न नष्टोऽभूत्प्रियाणां हि हृदिक्षेत्रे स्थितोऽसकृत् ३

गू०—तत इति। ततः तस्माद्धेतोः प्रियाणां सखीनां क्षेत्रसदृशे हृदि असकृत् वारंवारं स्थितं कारणरूपं पुनस्संसारागमनकारणं अतो दुरत्ययं प्रबलतरं मोहबीजं संसारदुःखं द्रष्टव्यमेवेत्थं यो मोहवैचित्र्यं स एव बीजं संसारवृक्षं जनकरूपं बीजमिव बीजम् नष्टं नाभूत् हि तासु निजधाम्नि गतास्वपि मोहबीजस्य स्थितत्वात् क्षणं जागृता अपि पुनः सुषुप्त्याक्रान्तचित्ता आसन्निति भावः ॥ ३ ॥

भा०—इससे ब्रह्म प्रियाओंके हृदयक्षेत्रमें बीजरूपसे स्थित प्रबल मनोरथ (दुखः देखनेका अभिलाष) नष्ट न हो सका ॥ ३ ॥

क्षणं तु जागृतास्तावत् सुषुप्तावभवत्पुनः ।
घोर निद्राम्बुधौ मग्ना नाभूत्स्वप्नस्तदा मनाक् ॥ ४

गु०—क्षणमिति ‘ तावदादौ क्षणं जागृताः पुनः सुषुप्तौ अभवत् ’ अतः यदा घोर निद्रैकाम्बुधिः तस्मिन् मग्नाः सख्योऽभूवन् तदा मनाक् ईषदपि स्वप्नो नाभूदिति तथा च श्रुतिः “यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नस्वप्नं न विजानात्यासुतदानाडीषुसुप्तो भवतीति

भा०—अपने मूलरूपको प्राप्त हो सखियां क्षणमात्र भी जाग्रदवस्थाका अनुभव न करसकीं और तत्काल सुषुप्ति—अवस्थारूप घोर निद्राका अनुभव करने लगीं । इस समय उनको न तो परमधामका सुख ही रहा और न स्वप्नरूप विश्वको देख सकीं । इसलिये इस अवधिको सुषुप्ति नामसे वर्णन किया है अन्यथा ब्रह्मधाममें निद्राका होना सम्भव नहीं । वह सब कुछ तो अक्षरातीतकी लीला मात्र थी ॥ ४ ॥

अत्रत्यानां कलनया चतुरब्द--सहस्रकः ।
कालोऽभूत्क्षणमात्रेण ह्यधिकाब्दशताष्टकः ॥ ५

गु०—सखीवर्गे सुषुप्त्यवस्थाक्रान्तेषु सत्सु यावत्सुषुप्त्यनन्तरं स्वप्नावस्थानासीत्तावदेवास्मदादि मानुषसंख्यया अष्टशताधिकं चतुस्सहस्राब्द—परिमितमिति कालो जातः इति प्रदर्श्यते । अत्रत्यानामिति अत्रभवाः अत्रत्याः मनुष्यास्तेषां कलनया संख्यया अधिकः अष्टशताब्दो यत्र स चतुर्णामब्दानां सहस्रकः कालः क्षणमात्रेण निजधाम निवासिनामभूदित्यर्थः हि ॥ ५ ॥

भा०—यद्यपि ब्रह्मप्रिया परमधाममें एक क्षणमात्रही सुषुप्ति अवस्था जैसी दशामें रहीं, तथापि यहांपर इस विश्वके ४८०० चार हज़ार आठसौ वर्ष व्यतीत हो गए ॥ ५ ॥

चतुर्युग-सहस्रं चेदहरेकं हि ब्रह्मणः।
विधातुश्चेत्सहस्राणि विष्णोस्स्याद्घटिका ततः ६

गू०—निजधामनिवासिनां क्षणेन अत्रत्यानां बहुकालो भवतीति निदर्शनार्थं मानुषकालसंख्योत्तरोत्तराधिको ब्रह्मादीनामपि कालो भवतीत्याह द्वाभ्यां चतुर्युगसहस्रमिति ॥ ६ ॥

भा०—अब यह दिखाते हैं कि, परमधामके क्षणमात्रमें यहांपर ४८०० वर्ष व्यतीत हुए, यह कुछ असम्भव नहीं है। क्योंकि जो जिससे श्रेष्ठ है, उसका दिवस भी उत्तरोत्तर अधिक होता है। जैसे ब्रह्माजीके दिवसमें मनुष्योंके सहस्र चौकड़ी युग (कृतयुग, त्रेता, द्वापर, कलि ये चारो हजार बार) व्यतीत हो जाते हैं और विष्णुकी एकही घड़ीमें ब्रह्माजीकी दिवस संख्यासे उनके चारो युग सहस्रबार व्यतीत हो जाते हैं ॥६

सूर्य्यलक्षाणि चेद्विष्णोः रुद्रस्यार्द्धकला भवेत्।
रुद्रस्यार्बुदसंख्या चेत्सबलब्रह्मणोऽक्षरम् ॥ ७

भा०—विष्णु भगवानकी दिवस संख्यासे जब द्वादशलाख युग व्यतीत होजावें तो रुद्रकी आधी कला होती है, और इसी प्रकार रुद्रकी दिवस संख्यासे जब दशलक्ष युग व्यतीत हो जावें तो सबल ब्रह्म—जिसे अक्षर भगवानका एक स्वभाव कहते हैं, उसके एक अक्षरका उच्चारणमात्र काल होता है, ऐसा लिखा है ॥ ७ ॥

ततः परस्याक्षरस्य दिनसंख्या न विद्यते ।
तस्मात्परतरस्यापि पूर्णानन्दस्य ब्रह्मणः ॥ ८
कथं सङ्कलना कार्य्या दिव्य–ब्रह्मपुरे गृहे ।
नह्याश्चर्यकरं तावत् सहस्राब्द–व्यतिक्रमः ॥ ९

गू०—तत इति तस्मात्सबलात्परस्याक्षरस्य दिनसंख्या नास्ति तस्मात्परस्याक्षरातीतस्य पूर्णब्रह्मणो दिवसस्य संकलना कथं कार्य्ये-त्युत्तरेणान्वयः अतोऽत्र अष्टशतोत्तरचतुःसहस्राब्दमितकालः ब्रह्मपुरनिवासिनां क्षणमात्रेणैव व्यतीतोऽभूदिति ॥ ८–९ ॥

भा०—सबल ब्रह्मसे पर अक्षर ब्रह्मके दिनकी संख्याही नहीं होती तो अक्षरसे भी पर अक्षरातीत पुरुषोत्तमके दिवसकी संख्या कौन कर सकता है। इसलिये ब्रह्मधामके एक क्षणमें यहां पर सहस्रों वर्षका व्य-तीत होजाना कुछ आश्चर्य युक्त नहीं है ॥ ८–९ ॥

पुनरत्र समायाता दुःखदर्शन–लालसाः ।
नानादेशेषु ह्यन्योन्या वियुक्ता ब्रह्मणः प्रियाः ॥ १०

गू०—पुनरिति अथ कृष्णांगनाः सुषुप्त्यवसाने स्वप्नद्वारा पुनरपि व्रजागमनवत्समायाताः तत्रायं विशेषः इदानीं नैकत्रजाताः किन्तु वियुक्ता एव। ननु यथा व्रजे गोप्यो सर्वा एकत्रैवासन् तथेति चेन्न अथ च गोपीजनानां पुनरागमने इदं प्रमाणं पुराणसंहितायामुक्तं दृश्यते "आनन्दरूपा याः सख्यो व्रजे वृन्दावने स्थिताः। कलौ प्रादु-र्भविष्यन्ति पुनर्यास्यन्ति तत्पदमिति" ॥ १० ॥

भा०—मूल स्वरूपको प्राप्त ब्रह्मांगनाओंकी चित्तवृत्ति क्षणमात्र तो सुषुप्ति जैसी अवस्थामें रही परन्तु मनोरथ शेष होनेसे पुनः अक्षरके स्वप्न-

—: भावार्थ :—

द्वारा इस जगतमें प्रगट हुई । इस अवधिमें यहांपर चार हजार आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गए । परमधामसे ब्रह्मप्रियाओंके पुनः आगमनको पुराण संहितामें इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि—

आनन्दरूपा याः सख्यो व्रजे वृन्दावने स्थिताः ।
कलौ प्रादुर्भविष्यन्ति पुनर्यास्यन्ति तत्पदम् ॥

अर्थः—ब्रह्मधामकी जिन आनन्दस्वरूपा सखियोंने व्रज और वृन्दावनमें स्वरूप धारण किये थे, वे मनोरथ शेष होनेके कारण कलि-युगमें पुनः प्रगट होंगी और तदनन्तर अपने निजधामको जायंगी, ऐसा लिखा है । श्रीमुखवाणीमें भी इसी प्रकार वर्णन आता है । यथा—

" उमेदा न हुइयां पूरन धाख मनमें रही ।
ता कारण इत फेर कै श्यामाजी आये सही "

इस परसे ब्रह्मप्रियाओंका पुनः प्रगट होना प्रमाण सिद्ध पाया जाता है १०

**नानादेशेषु ह्यन्योन्या वियुक्ता ब्रह्मणः प्रियाः ।
पुरुषाकृतयः काश्चिद्योषिताकृतयः क्वचित् ॥ ११**

गू०—पुरुषाकृतय इति काश्चित्सख्यः पुरुषाणामाकृति रिवाकृति-र्यासां ताः काश्चिद्योषिदाकृतयः क्वचिद्देशान्तरे जाताः काश्चित् क्लीबरूपधरा एवं प्रभोः प्रियाः कलौ अष्टाविंशतिमे कलियुगे आसन् अवतीर्णा इत्यर्थः ॥ ११ ॥

भा०—भरतखण्डके मध्य आतेही ब्रह्मप्रियाओंने नाना देश और जाति वर्णमें भिन्न २ स्वरूप धारण किये । कोई पुरुषरूपमें तो कोई स्त्री रूपमें तनधारण कर स्वप्नकी भांति मिथ्या जगतमें विचरने लगीं ।११

क्लीबरूपधराः काश्चित्कलावासन्प्रभोः प्रियाः ।
रासेकृष्णाभिमानिन्यः पुरुषाकृतयोऽभवन् ॥ १२

गू०—ननु कुतः कलौ स्वरूपवैपरीत्यं जातं तत्राह रास इति । रासावसरे याः कृष्णोऽहमित्यभिमानिन्यः ताः पुरुषाकृतयोऽभवन् यास्तु स्त्रीभावं विहाय रासेभावान्तरं न मेनिरे ताः अत्र स्त्रीरूपा एवाभवन् जाता इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भा०—किसी २ ब्रह्मप्रियाने कलियुगमें नपुंसकरूप भी धारण किया। प्रश्न—जब व्रज और रासमें ब्रह्माङ्गनाओंके स्वरूप नहीं बदले, स्त्रीरूप ही होतीं रहीं, तब इस तीसरे ब्रह्माण्डमें पुरुषाकार आदि विपरीत तन क्यों धारण किए ?। उत्तर—देखो जी ! रासलीलाके समय श्रीकृष्णजी अन्तर्ध्यान हो गए थे, तब सखियोंने कृष्णलीलाका अनुकरण किया है। उस समय जिस सखीनें जैसा २ रूप धारण किया है; उसी प्रकारके स्वरूपको यहां पर प्राप्त हुईं हैं । यद्यपि उस समयके स्वरूप कृत्रिम थे परन्तु कृत्रिमस्वरूपके द्वारा जो भावना [वासना] उत्पन्न हुई, वही इस तृतीय विश्वमें स्वरूपभेदका कारण हो गई । वासनाके कारण स्वरूप भेदकी प्राप्तिका होना श्रुतिमें लिखा है। यथा—

" कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

[मुण्डक उ० ३-२-२]

अर्थः—मुक्त वा मुमुक्षु पुरुष जिस भोगकी कामना करता है अर्थात् इस रूपसे इसका भोग करूँ, इस प्रकार अभिलाष रखता है, वह उस कामनासे उसी भोगको प्राप्त होता है । परिपूर्ण हो गई

—: भावार्थ :—

हैं सब इच्छा जिनकी, ऐसे कृतार्थ पुरुषोंकी तो सब कामना यहींपर नष्ट हो जातीं है " इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम" जाग्रदवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंकेलिये तो कुछ भी शेष नहीं रहता। वे तो यहां पर बैठे हुए भी परात्मका सुख ले रहे हैं। परन्तु जिनके मनोरथ शेष रह गए हैं, वे तो अवश्य तत्तत्स्वरूप धारण कर उसे पूर्ण करेंगे। कृष्णलीला करते समय गोपियोंमें जैसा जिसे अभिमान था, उसीरूपको प्राप्त हो इस कलियुगमें तन धारण किये हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १२ ॥

स्वस्वरूपाभिमानिन्य अधुनापि स्त्रियोऽभवन् ।
उदासीनाश्च या रासे क्लीब-रूपधरासकृत् ॥ १३
पृथिव्यां भारते क्षेत्रे ह्यष्टाविंशतिमे कलौ ।
नानावर्ण-कृताकारा अभूवन्कृष्णसत्प्रियाः ॥१४

गू०—उदासीना इति यास्तत्रौदासीन्यं रमणावसरे मन्यन्तेस्म तासकृत् क्लीबरूपा जाताः नाना वर्णेषु ब्राह्मणादि वर्णेषु कृत आकारो याभिस्ता भारतवर्षे समभूवन ॥ १३-१४ ॥

भा०—जिन्हें अपने स्त्री स्वरूपका अभिमान था, वे इस समय यहां पर भी स्त्री रूपमें प्रगट हुईं और जो स्त्री पुरुष दोनों भावसे उदासीन थीं, वे क्लीब-नपुंसकरूपमें प्रगट हुईं। इस भांति ब्रह्माङ्गना नाना लीला भेदके कारण नाना वर्ण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय आदिमें जन्मधारण कर २८ वें कलियुगमें प्रगट हुईं ॥ १३-१४ ॥

मोहाच्छन्न-निजात्मानः संसारभय-विह्वलाः ।
देहाद्यहंबुद्धिभाजो विस्मृतानन्दभूमयः ॥ १५

गू०—संसारेति संसारभयेन कालकृतमरणादिभयेन विह्वलाः ननु मरणं देहस्यैव नात्मनः कुतोभयं तत्राह मोहाच्छन्ननिजात्मनः पाञ्चभौतिकदेहे ममायं देहः इत्येवं यो मोहः अविवेकः तेनाच्छन्नः आवृतो निजात्मा यासां ताः अतः देहेन्द्रियादौ या अहंबुद्धिः तां भजन्ति सेवन्ते तथाभूता अतो विस्मृता आनन्दभूमिरानन्दमूलं स्वानन्दस्फूर्तिर्यासां ताः कृष्णसत्प्रिया अभूवन् इति ॥ १५ ॥

भा०—मोहाच्छादित-आत्मा होनेके कारण संसारजन्य नाना दुःखोंसे पीड़ित हो अपने मूलस्वरूपको भूल गईं और देहादि नाना पुत्र, कलत्रमें अहंभाव अर्थात् ये सब मेरे हैं, इस प्रकार मोहाध्यासके कारण विपरीत बुद्धि हो गई एवं परमधामकी आनन्दलीलाका बिल्कुल स्मरण न रहा, और विश्वके स्वरूपका अनुभव करने लगीं ॥ १५ ॥

एवमादिषु दुःखेषु कृतानिश्चय-बुद्धयः ।
ब्रह्माङ्गना यदा स्वप्न-कल्पेष्वासन्विमोहिताः ॥१६

गू०—एवमिति । एवमादिषु दुःखेषु देहस्त्री पुत्र पौत्र, धनधाम मही कुञ्जरेषु वस्तुतः दुःखरूपेषु "परिणाम तापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति योगसूत्र प्रतिपाद्येषु कृता निश्चयबुद्धिर्देहादिष्वचलबुद्धिर्याभिस्ता ब्रह्माङ्गना यदा स्वप्नकल्पेषु स्वप्नसदृशब्रह्माण्डेषु विमोहिता आसन् तदाक्षरातीत इत्थं दशां वीक्ष्य स्वामिनीमेवं प्रबोध्योवाचेति अग्रिमचतुर्थेणान्वयो बोध्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्त्री, पुत्र, धन धान्य आदि दुःखरूप + संसारको सुखरूप

टिप्पणी.

+ परिणाम-तापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (२-१५) इस योगसूत्रमें महर्षि पतंजलिने रागजन्य होनेसे

—: भावार्थः —

मानकर स्वप्नरूप मिथ्या जगतमें दुःख उठानेवाली ब्रह्मप्रियाओंकी दशा देखकर परमात्मासे न रहा गया और उद्धारका उपाय सोचने लगे ॥ १६ ॥

तदैव ह्यक्षरातीत--श्शरण्यो भक्तवत्सलः ।
निरीक्ष्य निजनाथानां दशामित्थं स्वयोषिताम् ।।१७
दिव्य सिंहासनासीनो दिव्यब्रह्मपुरे गृहे ।
स्वामिन्यासहितो नाथो राजमानो रसेश्वरः ॥ १८
स्वाङ्गगां स्वामिनीमेवं प्रबोध्योवाच श्रीप्रभुः ।
हे प्रिये! दृश्यतामासां सखीनां दुःखदुर्दशाम् ।।१९

भा०—ब्रह्मधाममें दिव्यसिंहासन पर विराजे हुए भक्तवत्सल दयालु पुरुषोत्तम प्रभु प्रियाओंकी मोहमय जगतमें दीन हीन दशा देखकर स्वामिनीजी—जो अपने अंगका तेज स्वरूप हैं— उनसे कहते हैं कि—हे प्रिये! जगतरूप मोहमें निमग्न सखियोंकी दशा तो देखो! किस प्रकारके दुःख उठा रही हैं ॥ १७–१८–१९ ॥

टिप्पणी.

ऐहिक सभी सुखोंको विवेकीके लिये दुःखरूप वर्णन किया है । क्योंकि संसारके सभी सुख किसीन किसीरूपमें अन्यको पीड़ा दिये बिना प्राप्त नहीं होते । जैसा कि " नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसा कृतोप्यस्ति शारीरः कर्माशयः " इत्यादि धर्मशास्त्र परसे विदित होता है । इस लिये " आपातविषया रम्याः पर्यन्त परितापिनः " तत्काल रमणीय लगनेवाले विषयसुख परिणाममें दुःखरूप होनेसे इन्हें विवेकियोंने दुःखही बताया है । सुखकी प्रतीति तो मात्र मोहात्मक है, वास्तविक नहीं ।

इमास्त्वदङ्गजास्सख्यो मदर्द्धाङ्गी यथासि त्वम् ।
वस्तुतस्त्वेक एवाहं मद् द्वितीयो न चापरः ॥ २०

गू०—स्वस्य स्वामिन्याः प्रियाणाश्चाङ्गाङ्गजभावं दर्शयन् वस्तुतस्त्वेक एवाहं नान्य इत्याह इमा इति । एक एवाद्वितीयोऽहं नापरः "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनेति श्रुतेः ॥२०॥

भा०—हे श्यामे ! जिस प्रकार तुम मेरी अर्द्धाङ्गी अङ्गना हो, उसी प्रकारसे सब सखीं तुमारी अङ्गना अर्थात् तुमारे स्वरूपकी प्रभारूप हैं । वस्तुतः देखा जाय तो मेरेसे कुछ भी भिन्न नहीं; क्योंकि मैं जो अंगी हूं उसका अंगभूत तुम हो और तुमारे अंगसे ये सब हैं । इस प्रकार मेरेसे भिन्न तो कुछ है नहीं । " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन " इत्यादि श्रुतियां भी ब्रह्मको एक अद्वैत ही वर्णन करती हैं अतः ब्रह्मधामकी कोई भी वस्तु ब्रह्मसे भिन्न नहीं, किन्तु सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २० ॥

अत आसां महत्कष्टं दुःखव्यादर्शनेन यत् ।
शक्यते वा कथं सोढु-मनन्यानां त्वया मया ॥ २१

भा०—हे श्यामे ! अपने अंगस्वरूप सखियोंको दुःखरूप संसारमें बड़ा कष्ट हो रहा है और हमारे तुमारे बिना इनकी रक्षा कौन कर सकता है । क्योंकि अन्य किसीको तो ये जानतींही नहीं, अतः एव इनका कष्ट हम लोगोंसे किसप्रकार सहा जाय ? ॥ २१ ॥

यद्यपीद-मसद्रूपं स्वप्नवद्भाति भामिनि ! ।
तथापि मुग्धचित्तानां बहनर्थायते मृषा ॥ २२

गू०—यद्यपीति इदं दृश्यं स्वप्नवत् स्वप्नोद्भूतव्याघ्रवदस देव भाति तथापि मुग्धानि मोहाच्छन्नानि चित्तानि यासां तासां प्रियाणां मृषापीदं बहु यथा भवति तथा अनर्थमिवाचरतीत्यर्थः ॥२२॥

भा०—यद्यपि वह मिथ्या जगत् स्वप्नवत् प्रतीतिमात्र है तथापि हे प्रिये ! मोहाच्छादित–चित्त सखियोंकेलिये तो बहुतही अनर्थकारक हो रहा है ॥ २२ ॥

दृश्यतामास्य–मालिन्यं तथा चाश्रूणि नेत्रयोः ॥
दुःखजाले स्वपन्तीनां भ्रमन्तीनां यतस्ततः ॥ २३

गू०—स्वामिन्याः हृदि दयोत्पादनार्थं प्रियाणामंगचेष्टाभिस्तद् दुःखचिह्नानि दर्शयन्नाह द्वाभ्यां दृश्यतामिति । दुःखजाले संसारे यतस्ततः नानादेशेषु ब्राह्मणादिशरीरेषु वा भ्रमन्तीनां स्वप्नं पश्यन्तीनां, एतेन स्वप्नद्वारैव तत्र गता नतु साक्षादिति सूचितम् । प्रियाणामास्यमालिन्यं मुखमलिनता दृश्यतां तथैव नेत्रयोरश्रूणि दृश्यन्तां यास्तत्र स्वप्ने क्षुधादि पीडिताः भवन्ति तासां मुखान्यत्र मलिनानि दृश्यन्ते यास्तु तत्र स्वप्ने मृता अस्माकं पुत्रादय इति पश्यन्ति तासां नेत्रयोरश्रूणि दृश्यन्ते ॥ २३ ॥

भा०—अरे ! स्वप्नरूप दुःखजालमें इधर उधर भटकती हुई सखियोंके मूलस्वरूपके मुखोंकी मालिनताको तो देखो ! कि, किसप्रकार नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झर रहे हैं। स्वप्नस्वरूप खेलमें अन्न वस्त्रादिके बिना दुःख उठाने वालीं या तो किसीके द्वारा पीड़ित अथवा पुत्र कलत्रादि मर जानेके कारण जो दुःखीं थीं, उनके मूलस्वरूप—परात्मके मुखोंपर उदासी-सी प्रतीत होती थी; अतएव श्रीराजजी श्यामाजीसे कहते हैं कि, देखो ! सखियां किस प्रकार दुःखी होकर रो रही हैं ॥ २ ॥३

स्मिताननाश्च याः काश्चित्प्रिया भान्ति मुदान्विताः ।
असद्द्रव्यकुटुम्बादिष्वासक्तास्सन्ति ताः प्रिये ! ॥

भा०—हे प्रिये ! जिनके मुख विकसित और हर्षयुक्त हो रहे हैं, वे स्वप्नरूप मिथ्या जगतमें स्वाप्निक माता पिता, कुल कलत्र, पुत्र, धन धान्य आदि असत् वैभवको पाकर अपनेको धन्यभाग्य समझ रही हैं, उनके हैं । यद्यपि मोहके कारण वे अपनेको सुखी समझ रहीं हैं तथापि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वे दुःख माननेवालियोंकी अपेक्षा और भी अधिक दुःखी हैं ॥ २४ ॥

एवं तदङ्ग-चेष्टाभिरत्रत्याभिस्सखीश्वरि ! ।
अनुभव्यौ हर्षशोकावासां धूमैरिवानलः ॥ २५

गु०—हे सखीनामीश्वरि ! आसां प्रियाणां हर्षश्च शोकश्च "तौ कर्मकर्त्तारौ" अत्र मूलस्वरूपे भवाभिरेव-मादीनामंगानां चेष्टाभिर्मुखाद्यंगमालिन्य—प्रसादाभिरित्यर्थः । अनुभवितुं योग्यौ यथा तार्किकैः धूमैः करणैरग्निरनुमीयते तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥

भा०—सखियोंमें श्रेष्ठ भो श्यामे ! मिथ्या स्वप्नमें विचरनेवाली प्रियाओंके दुःख सुखका ज्ञान उनके मूलस्वरूपकी चेष्टा परसे स्पष्ट विदित हो रहा है । जैसे विद्वान लोग धूमको देखकर अग्निका अनुमान करते हैं । उसी प्रकार परात्मस्वरूपके मुखों परसे श्रीराजजी श्यामाजीको सखियोंके हर्ष शोकका ज्ञान कराते हैं ॥ २५ ॥

बोधनीया स्त्वया क्षिप्रं भवन्त्वेते प्रियागणाः ।
प्रेषयिष्ये निजावेशं येन त्वं स्वामिसंयुता ॥ २६

गू०—इदानीमाज्ञापयति क्षिप्रमिति । एते प्रियागणास्त्वया क्षिप्रं शीघ्रं बोधनीयाः भवन्तु । ननु कथमेकाकिनी त्वांविनाहं दुःखरूपे संसारे स्थातुं शक्तोमि इति चेत्तत्राह निजावेशं स्वीयचिदावेशं प्रेषयिष्ये येन त्वमपि स्वामिना मया संयुता नत्वेकाकिनी ॥ २६ ॥

भा०—इसलिये हे श्यामे ! संसारके नाना क्लेशोंसे पीड़ित सखियोंको प्रबुद्ध करनेके लिये संसारमें जाओ और इन सबको शीघ्रही जाग्रत् करो । तुमारी सहायताके लिये मैं अपने आवेशको भेजूंगा ॥२६॥

त्वां विना नैव तिष्ठामि त्वं न तिष्ठसि मां विना ।
त्वं हि मत्सहजाशक्ति श्शक्तिमानस्म्यहं प्रिये ! ॥ २७
शक्ति शक्तिमतोर्भेदो वर्तते न कदाचन ।
अग्निदाह्यतयोः श्यामे ! चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ॥ २८

गू०—नच तव मम वियोगः क्षणमपि भवतीत्याह त्वामिति । कुतो न वियोगस्तत्राह हि यतः हे प्रिये ! अहं शक्तिमानस्मि त्वं मे मम सहजा अभिन्ना शक्तिरसि ॥ २७ ॥

भा०—हे प्रिये ! जैसे मैं आपके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार आप भी मेरे बिना नहीं रह सकतीं । क्योंकि हम दोंनोंका शक्ति शक्तिमानका सम्बन्ध है । शक्ति और शक्तिमानका कभी भेद नहीं रहता । जैसे अग्नि और दाहकता शक्ति; चन्द्र और उसकी चन्द्रिका कभी भिन्न नहीं रहते; उसी प्रकार हम दोनोंका नित्य सम्बन्ध है ॥२७-२८

अत आसां प्रबोधार्थं प्रियाणां याहि सत्वरम् ।
मत्तेजोवेष्टित-श्रीमत्तारतम्य-प्रदोऽस्म्यहम् ॥ २९

गू०—अत इति पुनर्याहीति कथनेन संसारदुःख जनितशङ्का-तो निवृत्तिरुपपाद्यते यतोऽहं मत्तेजसावेष्टितं यत्तारतम्यं तस्य प्रदः प्रकर्षेण दातास्मि अतः संसारदुःखं न किञ्चित्करमिति ॥ २९ ॥

भा०—इसलिये आप ब्रह्मवासनाओंके प्रबोधार्थ शीघ्रही जाओ और मैं भी निजावेश विशिष्ट तारतम्य मंत्रको प्रदान करनेकेलिये आऊंगा ।२९

निजरूपं दर्शयित्वा दास्येऽहं मनुमुत्तमम् ।
पुनस्तिरोहितो भूत्वा स्थास्यामि हृदये तव ॥ ३०

भा०—अपने स्वरूपद्वारा दर्शन दे तुम्हें उत्तम तारतम्य मंत्र प्रदान करुंगा और अन्तर्ध्यान हो गुप्तरूपसे तुमारे हृदयमें विराजमान हो जाऊंगा।

तद्दिनात्त्वं मदावेश–सहिता साधुवेषकृत् ।
बोधयिष्यसि सर्वासां प्रियामिन्द्रावतीं सखीम् ॥३१

भा०—जिस दिनसे तुमारे हृदयमें विराजमान होऊंगा; उसी दिनसे साधुवेषयुक्त हो तुम सबके जाग्रत् करनेकी शक्तिको प्राप्त होउगी और सखियोंमें उत्तम–इन्द्रावती सखीको जाग्रत् करोगी ॥ ३१ ॥

त्वं बोधय प्रियावर्गान्नित्युक्त्वा त्वं प्रियां सखीम् ।
सर्वं धाम धनं तस्यै दत्वान्तर्धास्यसि प्रिये ! ॥ ३२
मदावेशयुता त्वं तु तत्प्रेम्णाकृष्टमानसा ।
तस्या हृदयदेशे हि स्थास्यसीति न संशयः । ३३

भा०—कुछ कालानन्तर जाग्रदवशेष सखियोंके जाग्रत् करनेका कार्य इन्द्रावतीको सोंपकर स्वाप्निक देहका परित्याग करोगी और इन्द्रा-

—: भावार्थ :—

वतीके प्रेमसे आकृष्ट हो, मेरे आवेश सहित इन्द्रावतीके हृदयमें स्थित हो जावोगी ॥ ३२–३३ ॥

सर्व धाम धनं प्राप्य मदावेशयुतं च त्वाम् ।
बोधयिष्यति सा प्रीतेन्दिरानाम्नी प्रबोधिनी ॥३४
तारतम्यासिनाच्छिद्य कलौ कलिमलासुरान् ।
दत्वा स्वदैवतं बुद्धिं बलं चानेष्यति प्रियाः ॥ ३५

भा०—वह इन्दिरा नामकी प्रिया सब धाम धन पाकर अर्थात् मेरे आवेश सहित तुम्हें निज हृदयमें प्राप्तकर सबको जाग्रत् करेगी । तारतम्य-रूप तलवारसे कलियुगरूप असुरोंका नाशकर अपने दैवी बुद्धिबलको ब्रह्मप्रियोंकेलिये प्रदान करते हुए उन्हें जाग्रतकर निजधाममें ले आवेगी ॥

विख्यातानन्त नाम्ना हि भवितेन्द्रावती सखी ।
पुरुषाकार–भेदेन पवित्रं रूपमावहन् ॥ ३६
मदुक्तां दिव्यवाणीं तु प्रणेष्याति मदाज्ञया ।
यस्याः श्रवणमात्रेण कृतकृत्याः कलौ नराः ॥ ३७

भा०—पवित्र पुरुषरूप धारणकरते हुए वह इन्द्रिरावती जगतमें अनन्त नामोंसे विख्यात होगी और मेरी आज्ञासे दिव्य–अलौकिक वाणीको प्रगट करेगी । जिसके श्रवणमात्रसे कलियुगके प्राणी कृतार्थ हो परमपद पावेंगे ॥ ३६–३७ ॥

तदा सर्वे प्रियावर्गा ह्येष्यन्ति स्वालयं मुदा ।
तदा जाग्रन्मयीलीला समाप्स्याति सखीश्वरि ।३८

भा०-उस अलौकिक वाणीद्वारा सब ब्रह्मप्रिया जाग्रत हो निजधामको प्राप्त होंगी और सम्पूर्ण जागिनी लीला समाप्त हो जायगी ॥ ३८ ॥

त्वत्प्रसादात्कलौ घोरे जनाः प्राप्स्यन्ति सद्गतिम् ।
प्रसरिष्यत्ययं धर्म्मो देशे देशे जनेजने ॥ ३९

भा०—हे श्यामे ! इसप्रकार तुमारी कृपासे घोर कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले यावद् मनुष्य सद्गतिको प्राप्त होंगे और यह धर्म—अर्थात् तुमारे द्वारा प्रगट हुआ तारतम्यज्ञान प्रत्येक देशके मनुष्योंमें विस्तार पावेगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा तु सा श्यामा स्वामिना स्वामिकार्य्यकृत् ।
अवतीर्याभिधां लेभे देवचन्द्रेति विश्रुताम् ॥ ४०

भा०-इसप्रकार अक्षरातीतने जब श्यामाजीसे कहा तब स्वामी की आज्ञाको पालन करनेवाली श्यामाजी मृत्युलोकमें अवतार धारणकर सद्गुरु श्री "देवचन्द्रजी" इस नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ ४० ॥

यथोक्तं प्रभुणा सर्वं तथैवाऽभून्न संशयः ।
सत्यात्परः सत्यसन्धः कथं तस्य वचोऽन्यथा ॥४१

गू०-यथोक्तमिति यथा प्रभुणोक्तं तथैव सर्वमभून्नात्र संशयः सत्याक्षरात्परस्सत्यसन्धोऽक्षरातीतः कथं तस्यान्यथा वचस्स्यात् ॥

भा०-जैसा कुछ सम्वाद निजधाममें स्थित स्वामिनी तथा श्रीराजजीका

—: भावार्थः —

परस्परमें हुआ था, उसी प्रकार यहांपर सब पूर्ण हुआ । क्योंकि सनातन परमात्माका कथन किसी प्रकार असत्य नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

सद्गुरुर्देवचन्द्राभिधो हि साक्षात्परेश्वरः ।
प्रादुर्भूतो निजानन्दो * यस्सद्धर्म्म प्रवर्तकः ।। ४२

गू०—श्रीस्वामिनीश्वराज्ञया जगतीतलेऽवतीर्णा प्रियाणां प्रबोधार्थं तत्र कलावतीर्णस्य देवचन्द्रेत्यभिधासीदित्युक्तं इदानीं श्री 'देवचन्द्र' नामानुवादं सद्गुरुरित्यादि चतुर्भिर्दर्शयति । सत्तारकं गृणात्युपदिशतीति सद्गुरुः यद्वा गृणातीति गुरुः सतां सतीनां वा ब्रह्मप्रियाणां सद्गुरुः ब्रह्मप्रियाणां गुरुः ब्रह्मैव "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदादिति पतञ्जलिसूत्रोक्तत्वात् परस्याक्षरस्येश्वरः अक्षरातीतावेशस्य स्वामिन्यन्तर्भूतत्वादित्युक्तमेतद् देवचन्द्रेत्यभिधा यस्य सः निजान्प्रियागणानानन्दयतीति यद्वा निजः स्वीयः आनन्दो यस्य सः यस्सद्धर्मस्य कृष्णप्रणामिधर्म्मस्य प्रवर्त्तकः प्रचारकः ॥४२॥

टिप्पणी.

* "निजानन्द स्वामी"—साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होनेसे देवचन्द्रजीका नाम निजानन्द स्वामी था । निजनाम स्वयं या खुदके लिये आता है और आनन्द शब्द परमात्माका वाचक है । यथा–विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३–९–२८) आनन्दाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते (मु० ३–६) इत्यादि श्रुति ब्रह्मके आनन्दस्वरूप होनेका वर्णन करती हैं । ब्रह्मधाममें सत्पदार्थ प्रधान अक्षर और चित्पदार्थ प्रधान अर्थात् चिद्घनस्वरूप पुरुषोत्तम प्रभु हैं और आनन्दधर्म प्रधान श्यामाजीका स्वरूप माना गया है । देवचन्द्रजी इन्हीं श्यामाजीके अवतारस्वरूप थे और निज–अक्षरातीतका आवेश इनके आत्मापर विराजमान था । इसलिये देवचन्द्रजीका नाम निजानन्दस्वामी है और इनके द्वारा प्रगट हुआ धर्म "निजानन्द संप्रदाय" के नामसे प्रसिद्ध है ।

भा०—इस प्रकार अक्षरातीतके कहनेपर श्यामाजीने इस मृत्यु-लोकमें निजानन्द स्वामी सद्गुरु * 'श्री देवचन्द्रजी' नामसे प्रगट हो सद्धर्म + [ब्रह्मप्रियाओंके सम्प्रदाय] को प्रगट किया ॥ ४२ ॥

दिवु क्रीडार्थकाद्धातोः कर्त्तर्य्यच् प्रत्यये कृते ।
दिव्यतीति सुव्युत्पत्त्या देवः क्रीडापरः प्रभुः ॥ ४३

गू०—देवचन्द्र इति नाम्नो व्याख्यां दर्शयति त्रिभिः दिवु इति। 'दिवु' क्रीडा विजिगीषाव्यवहारद्युति स्तुतिमोदमद स्वप्न कान्तिगतिषु इत्ययं दैवादिको धातुः तस्मात्कर्त्तर्य्यर्थे पचाद्यच् तस्मिन्कृते सति देव इति सिद्धम् । दीव्यतीति–दिव्यब्रह्मपुरे धाम्नि सर्वदा दीव्यति क्रीडतीति सुव्युत्पत्तिर्बोध्या ॥ ४३ ॥

टिप्पणी.

* 'सद्गुरु'—सद्–सद्बोधक जो तारतम्य ज्ञान है उसके उपदेश कर्ता होनेसे आपका नाम सद्गुरु है । यह ज्ञान अनादिकालका है । जिसका प्रादुर्भाव परमात्माके द्वारा हुआ है । "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" इस योग सूत्रमें परमात्माकोही आदि गुरु बताया है ।

+ सद्धर्मप्रवर्तक—सत् जो सनातनी प्रजा ब्रह्मप्रिया उनके धर्म-संप्रदायके प्रवर्तक । श्रुतिमें सनातन प्रजाका उल्लेख होनेसे विदित होता है कि परमात्माके यहां कोई अनादिकालीन प्रजा है । यथा 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः [छा० ६-८-४] हे पुत्र ! ये सब ब्रह्मसृष्टि सत्य मूलवाली हैं इनकी प्रतिष्ठा भी सनातन है । नित्य ब्रह्मधाममें निवास होनेसे इन्हें "सदायतनाः" सनातन घरवाली कहा जाता है । इनके धर्मको बतानेवाला पुरुषही सद्धर्म प्रवर्तक हो सकता है, अन्य नहीं. ।

भा०—अब 'देवचन्द्र' इस नामकी व्याख्या दिखाते हैं। 'दिवु' क्रीड़ार्थक धातुसे [दीव्यतीति देवः कर्तरि–अच् प्रत्ययः] इसप्रकार कर्ता अर्थमें 'अच्' प्रत्यय करनेसे 'देव' शब्द सिद्ध होता है। जो सर्वदा निज धाममें अखण्ड क्रीड़ा करे, वह देव। इस प्रकारके विग्रह परसे 'देव' नाम अक्षरातीत परमात्माका है, ऐसा विदित होता है। "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि श्रुतिमें भी परमात्माकेलिये 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है अतः देवशब्दसे परमात्माका ग्रहण होता है।

तथाह्लाद परश्चन्द्र श्चदिस्त्वाह्लादनार्थकः।
सर्वाह्लादकरत्वाद्धै चन्द्रशब्दः प्रयुज्यते ॥ ४४

गू०—तथेति चदि आह्लादने भौवादिकोऽयं धातुः ततः स्फायितञ्चिवञ्चीति उणादिसूत्रात् रक् तत इदितोनुम् धातोरिति नुमुक्ते सिद्धमिति चन्द्रयति आह्लादयति सर्वान् प्रेमप्रदानेन योऽसौ चन्द्रः ॥ ४४ ॥

भा०—अब 'चन्द्र' शब्दकी व्याख्या करते हैं। "चन्द्रयति सर्वानानन्दयति–अद्वैत प्रेमप्रदानेन योऽसौ चन्द्रः" अद्वैत प्रेम प्रदान कर जो सबको आनन्दित करे, उसे चन्द्र कहते हैं। 'चदि' आह्लादने धातुसे 'स्फायितञ्चिवञ्चीत्यादि (२–१७८) उणादिसूत्र द्वारा 'रक्' प्रत्यय करनेसे 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ आह्लादित करनेवाला होता है ॥ ४४ ॥

देवश्चासौ चन्द्र इति समासः कर्म्मधारयः।
देवचन्द्रेति शब्दो हि ब्रह्मणो नाम गीयते ॥ ४५

गू—देवश्चासाविति कर्मधारयोऽयं समासः विशेष्योभयपद-लक्षणस्स च देवचन्द्रो ब्रह्मणो नामेति "ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्याभिधानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः" इति श्रुतेः "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यमिति" श्रुत्यन्तराच्च ॥ ४५ ॥

भा०—'देवश्चासौ चन्द्र इति "देवचन्द्रः" देव और चन्द्रका कर्मधारय समास करनेसे 'देवचन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ देव—परमात्माही चन्द्र-आनन्दप्रद है अर्थात् अखण्डलीला करनेवाला होनेसे परमात्मा देव है और सबको आनन्दित करनेवाला होनेसे चन्द्र है । निजानन्द स्वामीमें उपरोक्त दोनों गुणोंका समावेश होनेसे आपका नाम 'देवचन्द्र' है । आप अक्षरातीतके आवेश विशिष्ट श्यामाजीका अवताररूप होनेसे वैसे भी परमात्मस्वरूपही थे। आपके स्वरूपकी स्तुतिका वर्णन निम्नालिखित श्रुतिमें स्पष्टरूपसे किया गया है । यथा—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेताश्वतर उ० ६-७)

अर्थः—(तम्) उस (ईश्वराणाम्) नारायणादिकोंसे (परमम्) उत्कृष्ट (महेश्वरम्) महान् नियन्ता (च) और (देवतानाम्) शिव ब्रह्मादिकोंसे भी (परमम्) उत्तम (दैवतम्) दैवत (पतीनां पतिम्) पतियोंके पति (परस्तात्) पर अक्षरसे (परमम्) श्रेष्ठ (भुवनेशम्) सबके नियन्ता (तम्) उस (ईड्यं देवम्) पूज्य देवचन्द्रजीको (विदामः) हम जानते हैं । इसप्रकारसे वेदमन्त्र देवचंद्रजीके वास्तविक स्वरूपका परिचय देते हैं । "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः" अर्थः—देवचन्द्रके स्वरूपको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है" इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति भी परमात्मस्वरूप देवचन्द्र सद्गुरुकी

—: भावार्थ :—

महिमाका वर्णन करती है। " एष एवानन्दयाति " यह देवचन्द्रही * सब जगतको आनन्दित करेंगे अर्थात् मोक्षसुख प्रदान करेंगे' इत्यादि श्रुति देवचद्रन्की महिमाका गान करतीं हैं॥ ४५॥

सच साधोर्वेषधरः कलौ जातोऽनुकम्पया।
तारतम्यं मन्त्रराजं ददौ प्राणेश्वराय वै॥ ४६

टिप्पणी

* नारदपञ्चरात्रान्तर्गत माहेश्वरतन्त्रमें श्री देवचन्द्रजीके प्रगट होनेका संकेत इस प्रकार किया है कि—

दिव्य ब्रह्म पुरस्येह ब्रह्माद्वैतस्य वासना।
तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया॥

मरुद्देशे कुले शुद्धे नृरूपं सा धरिष्यति।
चन्द्रनामा पुमॉल्लोके हरिष्यत्यशुभां गतिम्॥

अर्थः—शिवजी पार्वतीके प्रति कहते हैं कि, हे शिवे! दिव्य ब्रह्मपुरसे अद्वैत परमात्माकी वासना—अङ्गना इस विश्वके मध्य कलियुगमें मनुष्यतन धारण करेंगी। उनमें सबसे श्रेष्ठ एक सुन्दरी नामकी प्रिया है जो मारवाड़ देशके किसी शुद्धकुलमें मनुष्यरूपसे प्रगट होगी। जो देवचन्द्र नामसे विख्यात हो कलियुगके प्राणियोंकी अशुभ गतिको नष्ट कर सबको मोक्षपद देयगी। देवचन्द्रजीके स्वरूपका अथर्ववेदने भी स्पष्ट वर्णन किया है। उसे संक्षेपमें यहांपर उद्धृत करते हैं। यथा—

आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत॥

[अथर्व कां० ५ सू० १-२]

अर्थः—(यः प्रथमः धर्माणि आससाद) जो प्रथम धर्मतत्त्वोंको

गु०—सचेति कलियुगेऽनुकंपया सर्वेषामुपर्यनुग्रहेणेत्यर्थः तारतम्यं मन्त्राणां राजा तत् प्राणेश्वराय प्राणनाथाय ददौ ॥ ४६ ॥

भा०—निजजन अर्थात् शाश्वती प्रजारूप जो सनातनी ब्रह्मप्रिया हैं उनको जाग्रत् करनेके लिये करुणाकर परमात्माने कलियुगमें 'देवचन्द्र' नामक सुन्दररूप धारण किया और तारतम्य (ज्ञानका) उपदेश करते हुए प्राणनाथजीको मंत्रराज तारतम्य दे जाग्रत किया ॥ ४४ ॥

सर्वान्प्रियागणाँस्त्वन्तु बोधयेत्युपदिश्य सः ।
विरराम निजं तेजो धृत्वा प्राणपतेर्हृदि ॥ ४७

टिप्पणी.

प्राप्त करेगा (ततः) तदनन्तर (पूरूणि वपूंषि कृणुते) स्त्री पुरुषादि अनन्तरूपमें प्रगट ब्रह्मप्रियाओंको तत्त्वोपदेश दे अपने समान जाग्रत् करेगा। क्योंकि (यः अनुदितां वाचं आचिकेत) जो अकथिक-अलौकिक वाणीको पूर्णतया जानता है। अर्थात जो अखण्ड वाणी संसारमें कभी प्रगट नहीं हुई, उसके उपदेशद्वारा ब्रह्म प्रियाओंको जाग्रत कर अपने समान कर लेगा (धास्युः प्रथमः योनिं आविवेश) उस वाणीका धारण करनेवाला वह सबसे अग्रणी होकर विश्वमें उपदेश करते हुए अपने मूलस्थानमें सबको लेकर प्रवेश करेगा अथात् जहांसे आया है, सबको लेकर वहीं प्राप्त होगा।

ऋधङ् मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।
अदब्दासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दधार त्रीणि ॥

(अथर्व कां० ५-सू० १, मं० १)

अर्थ—(यः अमृतः असुः सुजन्मा) जो देवचन्द्रजी ब्रह्मकी सहजाशक्ति होनेसे अविनाशी प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि उत्तम जन्म

गु०—सर्वानिति। सर्वान् प्रियाजनाँस्त्वं बोधयेति, प्राणनाथमुपदिश्य सो देवचन्द्रः प्राणपतेर्हृदि निजं तेजो धृत्वा स्वयमपि तत्र विररामेति ॥

भा०—तदनन्तर ब्रह्मवासनाओंके जाग्रत करनेका कार्य प्राणनाथजीको सौंपदिया और अपने नश्वर कलेवरको त्यागकर गुप्तरूपसे आप भी उन (प्राणनाथजी) के हृदयमें विराजमान हुए ॥ ४७ ॥

तद्दिनात्प्राणनाथो हि शुद्धो बुद्धो मुनीश्वरः ।
पर्य्यटन् सर्वदेशेषु बोधयँस्तारतम्यतः ॥ ४८

गु०—तद्दिनादिति । अक्षरातीतावेशसहितः साक्षात् श्यामा-

टिप्पणी.

धारणकर (वर्धमानः) ज्ञान और भक्तियोगद्वारा बढ़ेगा (ऋधक् मन्त्रः) सत्यका मनन करते हुए (योनिं आबभूव) मूलस्वरूपको प्राप्त होगा । (अदब्धः असुः) उसकी आत्मिक शक्ति किसी मायिक पदार्थसे दबनेवाली न होगी अर्थात् उसे माया जीत न सकेगी (अहः इव भ्राजमानः) सूर्यके समान ज्ञानका प्रकाश करते हुए (त्रितः धर्ता) व्रज, रास और जागिनीके बाल, किशोर और वृद्ध तीनों स्वरूपोंके धारणकरनेवाला (त्रीणि दधार) जीव, ईश्वरी और ब्रह्म तीनों सृष्टिको धारण करेगा अर्थात् ज्ञानद्वारा सबको जाग्रत् कर मुक्तिसुख देगा और अपने अन्त समयमें—

" यस्ते शोकाय तन्वंऽरिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनुस्वाः "

अर्थः—(यः ते शोकाय तन्वं अनुरिरेच) जो-देवचन्द्र प्राणनाथजीके प्रकाशके लिये अपनी आत्माको उन (प्राणनाथ) के साथ जोड़ देगा (स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरत्) जिससे उनके आत्माका प्रकाश सुवर्णके समान विस्तार पाने लगे [अथर्व ५-१-३] इत्यादि वेदके मन्त्र भी देवचन्द्रके स्वरूपकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

वतारो देवचन्द्राभिधो यद्दिनाच्छ्री मिहिराजापरनाम्नः प्राणपतेर्हृदि प्रविष्टोऽभूत् तद्दिनाच्छ्री प्राणनाथो मुनीश्वरः बुद्धोऽद्वैताखण्डबुद्धि-युक्त अत एव बुद्ध इति नामान्तरेण विख्यात इत्यर्थः। सर्वदेशेषु आर्य्यावर्त्तान्तर्भूत-गुर्जरादिदेशेषु पर्य्यटन् परितो गच्छन् तारतम्य-तस्तदुपदेशेन बोधयन् प्रियाजनान् जागरयन् छत्रशालाभिधानाय तारतम्यं ददाविस्युत्तरेणान्वयः ॥ ४८ ॥

भा०—जबसे अक्षरातीतके आवेश युक्त श्यामाजीके अवतारस्वरूप श्री देवचन्द्रजी हृदयमें विराजमान हुए, स्वामी प्राणनाथजी शुद्ध बुद्ध परमात्मस्वरूप हो, देश देशान्तरोंमें पर्यटन करते हुए तारतम्य ज्ञानद्वारा सबको जाग्रत् करने लगे ॥ ४८ ॥

छत्रशालाभिधानाय राजराजेन्दवे सते।
तारतम्यं मनूत्तमं ददौ बुन्देलवंशिने ॥ ४९

गू०—छत्रशालेति बुन्देलवंशिने, बुन्देलखण्डो नाम कश्चिद्देशः यस्य दक्षिणदिग् वर्त्तिनी नर्मदानाम्नी तीर्थसरित्, उत्तरतः पूर्व-तश्च श्रीकाशीप्रयागातिसमीपवर्त्तिनी गंगा, पश्चिमोत्तरतः श्रीमथुरासमी-पवर्त्तिनी श्रीकृष्णप्रिया कालिन्दी च। एवं पवित्रसरिद्भिर्वेष्टितो विन्ध्या-चल पृष्ठभागे स्थितश्चित्रकूट-गोवर्द्धन गिर्य्योरंतरालस्थः कालिञ्जर प्रान्तदेशीयो बुन्देलखण्डः पवित्रतमो देशस्तद्देशाधिपति परम-भागवतश्चम्पति नामा राजचूडामणी राजा तत्तनुजवरः श्रीप्राण-नाथानुग्रहतो लब्धरत्नाकरसाम्राज्यपदः श्रीछत्रशालाभिधो राज-राजेन्दुरासीत् तस्मै पुण्यतमं तारतम्यं ददाविति द्वयोरन्वयः ॥४९

भा०—अलौकिक ज्ञानका उपदेश करते हुए कुछ समयके बाद

—: भावार्थः —

आप बुंदेल खण्ड + देशमें पहुंचे और बुन्देल वीर महाराज छत्रशालजीको पवित्र तारतम मंत्रोपदेश दे अनुगृहीत किया ॥ ४९ ॥

तच्चारित्र सुधासिन्धु श्शक्यते नैव वर्णितुम् ।
क्वचित्सहस्र जिह्वेन किमुतैक मुखेन वै ॥ ५०

भा०—जिन्होंने देश विदेशमें पर्यटन कर ब्रह्मप्रियाओंको जाग्रत किया और बुंदेलवीर महाराजा छत्रशालजीको तारतम मंत्र दे रत्नाकर साम्राज्यपद प्रदान किया, उनके चरित्रसुधा—सागरका वर्णन शेषभगवान सहस्रजिह्वासे भी नहीं कर सकते, तो एक मुखवाले मेरे जैसे मनुष्यसे उसका वर्णन होना तो असम्भव है ही ॥ ५० ॥

स्वचित्तषट्पदं तस्य स्थिरीकर्त्तुं मुमुक्षुणा ।
चरणाम्बुजयोर्नित्यं मया किञ्चिन्निरूप्यते ॥ ५१

मु०—मुमुक्षुणा मोक्तुमिच्छुना मया तस्य प्राणनाथस्य चरणाम्बुजयोः स्वस्य मम चित्तमेवषट्पदः भ्रमरः तं नित्यं स्थिरीकर्त्तुं किञ्चिन्निरूप्यते उच्यते । न च कवीनामिव स्वयशोविज्ञापनार्थमिति श्रीसद्गुरुसेवैव स्ववाचाभिधीयत इति भावः ॥ ५१ ॥

टिप्पणी.

+ ' बुन्देलखण्ड ' विन्ध्याचलके पृष्ठभाग पर बसे हुए एक देशका नाम है । जिसके दक्षिणमें नर्मदा, उत्तरमें प्रयागराज और यमुना नदी हैं । पूर्वमें काशीपुरी निकटवर्त्तिनी गङ्गा तथा विंध्याचलका भाग है, पश्चिममें ग्वालियर राज्य है । चित्रकूटके निकट यह पवित्र देश वसा हुआ है । यहीं पर कालिंजर, महेवा आदि नगर बसे हुए हैं । यहांके अधिपति परम भागवत महाराज श्री चम्पतिराय थे । इनके पुत्र बुन्देल वीर केशरी महाराज छत्रशालजी थे । जिन्होंने श्री प्राणनाथजीकी कृपासे रत्नाकर साम्राज्यपद पाया है ।

भा०—परन्तु जो कुछ भी सूक्ष्म रूपसे सद्गुरु चरित्रका वर्णन किया है, वस्तुतः कविताके यशकी आशासे नहीं; अपि तु संसारसे छूटनेकी इच्छासे किया है अर्थात् सद्गुरु चरणकमलमें चित्तरूप भ्रमरको स्थिर करनेके लिये किया है ॥ ५१ ॥

प्राणरूपाः प्रियाः सर्वास्तासां नाथोऽक्षरात्परः ।
तेनासौ प्राणनाथो हि नाम्ना ख्यातः प्रियेश्वरः ॥५२

सू०—श्री प्राणेश्वर नामानुवादं दर्शयति चतुर्भिः प्राणरूपेति। प्राणस्तद्रूपाः सर्वाः प्रियास्तासां नाथोऽक्षरात्परोऽक्षरातीतस्तेनासौ प्राणनाथ इति नाम्नाख्यातः प्रियेश्वरः तथाच श्रुतिः "प्राणो-ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इत्यस्य व्याख्या एषः प्राणानां प्रियाणामयमीशः प्राणः सर्वभूतैरत्र भूतपदवाच्यैः प्रियागणैस्सह विभाति विराजते यो विद्वान्सर्वविद्यानिपुणः विजानन् विशिष्टः ब्रह्मविद्याकुशलोऽपि अतिवादी न भवते जल्पवितण्डाद्यसद्वादरहितो भवते भविष्यतीत्यत्र छान्दसत्वात्कालाऽनियमः कीदृशः आत्मनि क्रीडा यस्य सः आत्मनिरतिर्यस्य सः क्रियावान् सत्तारकोपदेशः क्रियास्ति अस्येति ब्रह्मविदां ब्रह्मप्रियाणां वरिष्ठोऽतिश्रेष्ठ इत्यर्थः "प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिरिति श्वेताश्वतरीया श्रुतिरप्यत्रानुकुलेति दिक् ॥ ५२ ॥

भा०—अब सद्गुरुके 'प्राणनाथ' नामकी व्याख्या दिखाते हैं । प्राणरूप सब प्रिया हैं और उनके नाथ अक्षरसे पर अक्षरातीत हैं । तत्स्वरूप होनेसे आपका नाम प्राणनाथ है । उपरोक्त प्राणनाथके स्वरूपका-अनुमोदन निम्न लिखित श्रुतियोंमें भी पाया जाता है । यथा–

—: भावार्थ :—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

[मु० उ० ३ अ० १-४]

अर्थः—(एषः) यह (प्राणः) प्राणनाथ " नामैकदेशे नाममात्रस्य ग्रहणम् " नामके एकदेशसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण होता है। (हि) निश्चय (सर्वभूतैः) विश्वके सब प्राणियों करके (विभाति) पूजनीय वा शोभित होंगे (यः विद्वान) जो ब्रह्मवेत्ता—माया और ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको (विजानन्) पूर्णतया जानते हुएं भी (अतिवादी न भवते) वितण्डावादी नहीं होंगे अर्थात् व्यर्थ वादविवाद नहीं करेंगे किन्तु (आत्मक्रीडः आत्मरतिः) आत्मामें क्रीड़ा करनेवाले और आत्मानन्दी होंगे अर्थात् परमात्म—स्वरूपमें विचरनेवाले होंगे (ब्रह्मविदां वरिष्ठः एषः) ब्रह्मज्ञोंमें उत्तम यह (क्रियावान् ' भवते ') अन्य ब्रह्मज्ञानियोंकी भांति अकर्मण्य न होंगे, किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार रूप उपदेशदेनेमें तत्पर होंगे अर्थात् सबको मोक्षभागी बनावेंगे। " प्राणाधिपः सञ्चरति + स्वकर्मभिः

टिप्पणी.

+ वैदिक छन्दोंमें कालका नियम न होनेसे प्रायः क्रियापद लट और लिट लकारके ही होते हैं; परन्तु उनका अर्थ भूतकालमें नहीं किया जाता। क्योंकि वेद अनादि होनेसे उसके क्रियापद भूतकालके बोधक नहीं हो सकते। यदि भूतकाल परक क्रियापदका अर्थ किया जाय तो, वेदको अनादि नहीं कह सकते। इसीलिये महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं कि—छन्दसि कालाऽनियमः " छन्दोंमें कालका नियम नहीं रहता किन्तु अर्थ और प्रसंगकी योग्यतापरसे काल मानलिया जाता है।

—: भावार्थ :—

[श्वेता० उ० ५–७] " अर्थः—प्राणाधिप–प्राणनाथ स्वकर्म–सद्वस्तूपदेश द्वारा जगतमें संचार करेंगे" इत्यादि अनेक श्रुति प्राणनाथजीके स्वरूपका बोधन करतीं हैं ॥ ५० ॥

निष्कलङ्का च या बुद्धिः पूर्णानन्दात्मिका परा ।
तया बुद्धया वर्त्तमानो निष्कलङ्क सुबुद्धकः ॥ ५३

गृ०—तस्यैव निष्कलंक बुद्ध इति नाम प्रसिद्धं तदनुवादयति निष्कलंकेति । तथेयं श्रुतिः वाजसनेयि ब्राह्मणान्तर्भूता "स्वप्नेन शरीरमभि प्रहत्यसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः" इत्यस्यार्थः हिरण्मयस्तेजोमयो 'ज्योतिर्वै हिरण्यं तेजो वै हिरण्यमित्यैतरेये शतपथे च " एकहंसः अद्वितीयः परमहंसः पुरुषोऽव्यक्तात्पुरुषः परः" इति श्रुति प्रतिपाद्यः स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्य धृत्वा असुप्तः स्वयं प्रबुद्धः नच स्वप्नशरीर धारिणामिव तस्यापि स्वप्नावस्था इतिचेन्न धृतेऽपि स्वाप्निकशरीरे स्वयं बुद्ध इवेति स्वप्नां स्वप्नावस्थां प्राप्तान् ब्रह्ममुनीन् अभिचाकशीति अभितः प्रकाशयतीत्यर्थः । पुनः प्रकाशनानन्तरं शुक्रं पवित्रं मूलांशं आदाय गृहीत्वा स्थानं निजधामैति याति गमिष्यतीत्यर्थः

भा०—पूर्णानन्दको प्रकाश करनेवाली कलंकरहित अर्थात् जिसमें स्वप्नादि मायाजन्य कलंक नहीं हैं, ऐसी परा बुद्धिसे युक्त होनेके कारण प्राणनाथजीका नाम निष्कलंक बुद्ध है । मनुष्यसुलभ भ्रान्तत्वादि दोषोंसे रहित एवं त्रिकालाबाध्य प्राणनाथजीकी बुद्धिके होनेका कारण नीचे लिखी श्रुति वर्णन करती है । यथा—

एतदेवोक्तं पद्मपुराणे " कलेरन्ते बुद्धरूपी जनानामनुकम्पया अवतीर्य्यासिना ज्ञानरूपेणाच्छिद्य संशयम् । धामस्थाननुमन्त्र्यादौ तेभ्यस्तत्वमुदीर्य्य च। अथ तांश्च समादाय गमिष्यति निजालयम्" इति ननु कलेरन्ते बुद्धरूपीत्यत्र कलियुगान्ते बुद्धरूपिणः प्राकट्यभावो-दर्शितः नेदानीं कलियुगान्तावसरः प्रतीयते द्वापरान्ततः कलेः पञ्च-सहस्र वर्षायुष्यभोगदर्शनात् । वाढमुक्तं, कलेरन्तत्वं चाभ्युपगम्यते कलियुगीयप्रजानां स्वल्पायुष्यप्रत्ययात् यथा कलौ समुत्पन्नानां प्रजानां शास्त्रनियमितशतवर्षायुषां प्रतिदिनमायुर्ह्रासः प्रत्यक्षतो-दृश्यतेतरां तथा तदवयवैक देशानां प्रजानां प्रत्यक्षी कृतायुर्ह्रासानुमानेन कलेरप्यायुर्ह्रासोऽभ्युपगन्तव्यः कलेरायुषः क्षीणत्वे प्रमाणमुपलभ्यते

—: भावार्थ :—

स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥

(बृहदारण्यको० ४–३–११)

अर्थः—(हिरण्मयः) तेजोमय * (एकहंसः) ब्रह्मस्वरूप + अद्वितीय परमहंस (पुरुषः) पुरुष (स्वप्नेन) स्वप्नद्वारा (शरीरम्–अभि-प्रहत्य) शरीर धारणकर (असुप्तः सन्) स्वयं असुप्त–प्रबुद्ध ' यद्यपि ब्रह्ममुनियोंके प्रबोधार्थ मनुष्यतन धारण किया है तथापि निष्कलङ्क

टिप्पणी

* " ज्योतिर्वै हिरण्यं तेजो वै हिरण्यम् " इत्यादि शतपथ ब्राह्मणमें हिरण्य शब्दका अर्थ तेज और ज्योति किया है ।

\+ हंस शब्दको निरुक्तकारने ब्रह्मके पर्य्याय वाचक शब्दोंमें पढ़ा है अतः हंसका अर्थ यहां पर ब्रह्मस्वरूप किया है ।

विष्णु पुराणे चतुर्विंशतिमेऽध्याये 'अनवरतश्चात्र कलियुगे क्षयमायात्यखिल एवैष जनः" [४-२४-९७] इति यदैव पापाधिक्यं तदैवायुषः क्षयो भवति, पापाधिक्यस्य चिह्नानि सूर्य्यचन्द्र ग्रहणाधिक्यादुपलभ्यन्त एव अतो युक्तमेतत् कलेरन्तत्वमिति। एकेषां मते चत्वारो-युगाः प्रतिदिनं प्रवर्त्तन्ते अन्येषाम्मते तु यदा सत्त्वगुणोदयः तदैव तमोरूपस्य कलेर्नाशः एवमुक्तानुसारेणापि कलेरन्ताभ्युपगमे नास्मत्सिद्धान्तस्य हानिरित्यलम् ॥ ५३ ॥

—: भावार्थ :—

बुद्धियुक्त होनेसे उनकी बुद्धिमें स्वाप्निक भ्रमादि कलङ्क नहीं हैं अतएव जाग्रदवस्था होनेके कारण इसे असुप्त कहा है। (सुप्तान् अभिचाकशीति) सोए हुए ब्रह्म मुनियोंको तारतम्योपदेश दे जाग्रद् करेगा और तदनन्तर (शुक्रम्) जन्म मरणके बन्धनमें पड़ी हुई बीजरूप जो चित्तकी * वृत्ति है उसे (आदाय) लेकर (पुनः स्थानम्) पुनः अपनें मूलधामको (एति) प्राप्त होगा। उपरोक्त अर्थको पुष्ट करनेवाली निम्नलिखित स्मृति भी निष्कलङ्क बुद्धस्वरूप प्राणनाथजीके कलियुगमें प्रगट होनेको सूचित करती है। यथा—

टिप्पणी.

* यहांपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—क्या अक्षरातीत उत्तम पुरुषकी अथवा उसकी अनादिकालीन सनातनी (ब्रह्मसृष्टि) प्रजाकी चित्तवृत्तिका स्वप्नद्वारा शरीर धारण करना सम्भव है। उत्तर-हां, यजुर्वेद (४०-८) मन्त्रद्वारा प्रतिपादित होनेसे सम्भव है। यथा-

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण—मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः ॥

अर्थः-(सः) वह बीजरूप ब्रह्मप्रियाओंका चित्त स्वप्नद्वारा

—: भावार्थ :—

कलेरन्ते बुद्धरूपी जनानामनुकम्पया ।
अवतीर्यासिना ज्ञान-रूपेणाच्छिद्य संशयम् ॥
धामस्थाननुमन्त्र्यादौ तेभ्यस्तत्त्वमुदीर्य च ।
अथ तांश्च समादाय गमिष्यति निजालयम् ॥

अर्थः—पद्मपुराणमें लिखा है कि—कलियुगके अन्तफलके निमित्त जीवों पर करुणाकर परमात्मा निष्कलंक बुद्ध नामसे प्रसिद्ध होगा। जो ज्ञानरूपी तलवारसे निजजनोंके संशयको छेदन कर एवं निजधाम वासियोंको बुलाकर उन्हें तत्त्वज्ञान देगा और तदनन्तर उन्हें लेकर अपने धामको जायगा । प्रश्न—उपरोक्त पद्यमें—कलियुगके अन्तमें बुद्धजीका प्रगट होना लिखा है और अभी कलियुगके पांचही सहस्र वर्ष व्यतीत हुए हैं तब तो, बुद्धजीके प्रगट होनेका समय अभी बहुत बाकी है और

टिप्पणी.

(पर्यगात्) परितः नानादेशोंमें प्राप्त हुआ (अकायम्) जो अकाय अर्थात् अस्थि त्वचादि युक्त शरीरसे रहित था । यह सर्व विदित है कि स्वप्नमें देशान्तरोंको देखनेवाली चित्तवृत्ति स्थूलशरीरसे रहित होते हुए भी कल्पित शरीरोंको धारण करती है (अव्रणम्) स्वाप्निक शरीरमें अस्त्र शस्त्रादिसे जो छेदन भेदन होते हैं, वे चित्त वा आत्माको नहीं पहुंचते । जैसा कि " नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि " इत्यादि गीतासे भी स्पष्ट हो रहा है । (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि विकारोंसे रहित (शुद्धम्) पवित्र होनेके कारण देह इन्द्रिय आदि विकारोंके संसर्गसे भी वस्तुतः विकारको नहीं प्राप्त होता अतएव (अपापविद्धम्) जगत जन्य पापोंसे रहित था । इस प्रकार ब्रह्मप्रियाओंके मूल—कारणरूप—चित्तको संसारमें लुब्ध हुआ देखकर (कविः मनीषी) मनकी जाननेवाले क्रान्तदर्शी (परिभूः) " परितः कृष्णादिरूपेण भवतीति " कृष्णादिरूप धारण करनेवाले (स्वयम्भूः) परमात्माने (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) निरन्तर

—: भावार्थः —

आप अभी प्रगट होना बताते हो तो, शास्त्रके विरुद्ध आपका कथन कैसे माना जावे ?। उत्तर—देखो जी ! कलियुगकी आयु क्षीणहोनेसे और पापाचरण अधिक बढ़जानेसे बुद्धजीका प्रगट होना शास्त्रविरुद्ध नहीं है। जैसे—कलियुगमें मनुष्योंकी आयु १२० एकसौ वीश वर्षकी होनी चाहिये, ऐसा पुराणोंमें लिखा है। परन्तु पापाचरणसे क्षीणहो गई और दिनोंदिन ह्रास देखनेमें आ रहा है। उसी प्रकार कलियुगकी आयुका भी ह्रास होना माना गया है। "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होता है, वैसीही प्रजा हुआ करती है। जब कलियुगकी आयु क्षीण हुई तभी प्रजाकी आयुमें ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। विष्णुपुराणके ४ अंशके २४ वें अ० में लिखा है कि—"अनवरतं चात्र कलियुगे क्षयमायात्यखिल एवैष जनः" अर्थः—निरन्तर कलियुगके क्षयको प्राप्त होने पर सब लोग क्षीणावस्थाको प्राप्त होंगे; इत्यादि परसे कलियुग

टिप्पणी.

अपने पासमें रहनेवाली ब्रह्मप्रियाओंके लिये [याथातथ्यतः] यथायोग्य-जैसा चाहिये—उसी प्रकार (अर्थान्) समस्त शब्दादि विषयोंको (व्यदधात्) विविध प्रकारसे प्रगट किया। देखो, इस एकही वेदमन्त्रसे उपरोक्त दोनों प्रश्नोंका समाधान हो जाता है। श्वेताश्वतर श्रुति भी उपरोक्त कथनका अनुमोदन करती है। यथा-

"य एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वे० ४-१)

अर्थः-जो परमात्मा अवर्ण तथा अद्वितीय होते हुए भी बहुतसी शक्तियोंके योगसे अर्थात् श्यामाजी आदि शक्तियोंके योगसे निहितार्थोंको निहित है प्रयोजन जिनमें ऐसे अनेक वर्णोंको धारण करता है" इत्यादि श्रुतियों परसे निजजनोंके उद्धारार्थ परमात्माका आना और ब्रह्मप्रियाओंकी चित्तवृत्तिका स्वप्नद्वारा प्रगट होना, स्पष्ट सिद्ध होता है।

—: भावार्थ :—

का क्षीण होना पाया जाता है। पापाधिक्यसे आयु, वल, तेज आदि क्षीण होते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। पापाधिक्यके चिह्न बारम्बार सूर्यचन्द्रके ग्रहणोंका पड़ना, भूकम्प आदिका होना भी दृष्टिगोचर हो रहा है। पुराणोंने कलियुगके अन्तमें होनेको जो कुछ लिखा है, वह भी वर्तमानमें हो रहा है, अतएव कलियगका अन्तसमय मानना योग्य है। दूसरी बात—" कलेः अन्ते " का अर्थ 'कलियुगके अन्तफलके निमित्त' ऐसा भी किया जा सकता है। क्योंकि ' अन्ते ' शब्दसे ' निमित्तात्कर्मयोगे ' इस सूत्रसे द्वितीयाके अर्थमें सप्तमी हुई है। जिसका अर्थ ' कलियुगके अन्तफलके निमित्त अर्थात् सबको मोक्षदेनेके लिये, ऐसा करना चाहिये। इस प्रकार भी विरोधका परिहार हो जाता है। ऐसा अर्थ करनेका कारंण यह है कि—कई महात्मा पुरुष प्रतिदिन चारो युगोंका व्यतीत होना प्रतिपादन करते हैं। तब तो प्रतिदिन कलियुगका अन्त मानना पड़ेगा इसलिये 'कलेरन्ते' का उपरोक्त अर्थ करना भी उचित है। क्योंकि तमोगुणकी वृद्धिका ही नाम कलियुग है जब सूर्यवत् सत्त्वगुणात्मक ज्ञानका उदय हुआ तो कलियुगका अन्त हुआ समझ लेना चाहिये। सूर्यके उदय होतेही अन्धकार वा रात्रिका अन्त होता है। जब प्राणनाथजी द्वारा अखण्ड ज्ञानका सूर्य उदय हुआ तब तो घोर कलियुगका अन्त होना ही चाहिये। प्रतिदिन चारो युगोंका प्रलय होना भागवत (१२–४–३५) में भी संक्षेपरूपसे लिखा है, अतः कलियुगका अन्त मानना शास्त्रके विरुद्ध नहीं है ॥ ५३ ॥

इन्द्रियाणां जयस्सम्यग्विजयः परिकीर्तितः ।
प्रौढाज्ञानासुराणां वा छेदनं ज्ञानहेतिना ॥ ५४

ईदृशं विजयं यश्च स्वाभिनन्दति सर्वदा ।
तेनासौ सद्भिराख्यातो विजयाद्यभिनन्दनः ॥५५

गू०—तस्यैव विजयाभिनन्दन इति नाम सुप्रसिद्धं तदनुवादं द्वाभ्यांदर्शयति इन्द्रियाणां विशेषेण जयः विजयः प्रौढानि वृद्धान्यज्ञानान्येवासुरास्तेषां ज्ञानहेतिना ज्ञानासिना छेदनं विदारणं विजयः ईदृशं विजयं अभिनन्दतीति विजयाभिनन्दनः सद्भिराख्यातः स्पष्टमन्यत् ॥ ५४-५५ ॥

भा०—अब प्राणनाथजीके 'विजयाभिनन्दन बुद्ध' नामकी व्याख्या दिखाते हैं । अपने योगबल द्वारा इन्द्रियोंको सब प्रकारसे वश करनेका नाम विजय है अथवा तारतम्यज्ञानरूपी तलवारसे अज्ञानरूप असुरोंके छेदन करनेको विजय कहते हैं । इस प्रकारके विजयका जो सदा अभिनन्दन करे अर्थात् बढ़ावे वह 'विजयाभिनन्दन' है । स्वामी प्राणनाथजीमें उपरोक्त गुणका पूर्णतया समावेश होनेके कारण आपका नाम 'विजयाभिनन्दन' है, जो सर्वांशमें संघटित और अन्वर्थक है ॥५४-५५॥

स्वामिन्यात्माऽक्षरातीतस्याज्ञावेशौ तथारुचिः ।
मूलबुद्धिस्तु यत्रैकीभूताः स्युः स महामतिः ॥ ५६
पञ्चानां हि समाहारा-देतेषामत्र कीर्तितः ।
श्रीमहामतिनामासौ श्रीमान् ब्रह्ममुनीश्वरः ॥ ५७

भा०—अब प्राणनाथजीके महामति नामका निर्वचन दिखाते हैं । श्यामाजीकी आत्मा, अक्षरातीत परमात्माकी आज्ञा आवेश और तेज एवं मूलबुद्धि अर्थात् निजबुद्धि, ये पाँचो वस्तु जिस स्वरूपमें विराज-

—: भावार्थ :—

मान हों उसे महामति कहते हैं। स्वयं स्वामीजीने भी महामति शब्दका उपरोक्त निर्वचन किया है। यथा—

धनीजीको जोस आत्म दुलहिन, नूर हुकुम बुधमूलवतन।
ये पांचो मिल भई महामति, वेद कतेबों पहुंची सरत ॥

उपरोक्त पाचों वस्तुओंका समावेश होनेसे आपका नाम महामति है और आपही इस नामके योग्य थे। क्योंकि ब्रह्ममुनियोंके शिरोमणि आपके अतिरिक्त अन्य किसीको तो प्रस्तुत पांच वस्तुओंका प्राप्त होना ही अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ५६–५७ ॥

अधुना तारतम्यस्य व्याख्यानन्तु निरूप्यते।
यस्मिन्धामवरेण्यं संस्थापितं परमात्मना ॥ ५८

गू०—चतुर्भिस्तारतम्यार्थं दर्शयति अधुनेति। किं तारतम्यं नाम ? पूर्णब्रह्मवरेण्यं तेजसावकल्पितं सर्वप्रकाशकं निजमुखोद्गलितं निजनामेति वाक्यं एतदेव गायत्रीनाम्ना प्रसिद्धेन ऋङ्मन्त्रेण स्तूयतेतराम् तद्यथा तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो-यो नः प्रचोदयात् इति। सूते उत्पादयति सर्वदाऽखण्डलीलाः सविता तस्य देवस्य क्रीडापरायणस्याक्षरातीतस्य तत् वरेण्यं सर्वोत्तमं भर्गस्तेजस्तारतम्यं नाम ऋषयो मन्त्रा ब्रह्मप्रिया वा धीमहि ध्यायेम यः परमात्मा नोऽस्माकं धियोबुद्धिः प्रचोदयात् प्रेरयेत्; कोऽर्थः सः

भा०—अब यहांसे आगे उस तारतम्य मन्त्रराजका निर्वचन करते हैं, जिसमें परमात्माने अपने ब्रह्मतेजको स्थापित किया है। प्रश्न—तारतम्य किसे कहते है ?। उत्तर—पूर्णब्रह्म परमात्माके वरेण्य—सर्वोत्तम

सद्गुरुर्भूत्वा निजधाम प्राप्त्यर्थं अस्माकं देहात्मबुद्धीनां विपरीत-बुद्धिः प्रचोदयात् प्रेरयतु इत्यर्थः येन पुनर्निजधाम्नि प्राप्ता भविष्याम इति प्रार्थना "एतदालम्बनं श्रेष्ठ मेतदालम्बनं परं । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" इति श्रुतेः 'तारतम्येनजानीयात्सच्चिदानन्द लक्षणमिति स्मृत्यन्तरम् " तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमंचेति विवेकजं ज्ञानमिति पतञ्जलिसूत्रं चेति प्रभृति प्रमाणानि श्रीमत्तारतम्य मंत्रराजस्य श्रेष्ठत्वं सूचयन्ति ॥ ५८ ॥

—: भावार्थ :—

तेजसे वेष्टित, सबको प्रकाशितकरनेवाले—निजमुखसे प्रगट निजनाम वाक्यको—तारतम्य कहते हैं और इसीका नामान्तर 'ब्रह्मतारक' भी है। प्रश्न—यह तारतम्य परमात्माके साक्षात् मुखसे निकला है, इसमें क्या प्रमाण है ? । उत्तर—देखो जी ! श्रुति स्मृति आदि अनेक प्रमाण हैं। श्रुतिमें लिखा है कि—" देहान्ते * देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे * (आथर्व ता० उ०) " अर्थः—(देहान्ते) देहके अन्तफलके निमित्त अर्थात् प्राणियोंको जाग्रत कर मोक्षदेनेके लिये अथवा इस

टिप्पणी.

❋ 'देहान्ते' शब्दमें निमित्तात्कर्म योगे इस सूत्रसे निमित्तार्थमें सप्तमी विभक्ति हुई है। जैसे " केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः " 'बालोंके निमित्त चमरी गायको मारता है' इत्यादि प्रयोगों निमित्तार्थमें सप्तमी होती है।

❋ 'व्याचष्टे' यद्यपि इसमें वर्तमानकालमें लट लकार देखनेमें आता है परन्तु छान्दस प्रयोग होनेसे भविष्य-अर्थ होगा । " छन्दसि कालानियमः " क्योंकि वैदिक मन्त्रोंमें कालका नियम नहीं होता, ऐसा महाभाष्यमें लिखा है।

—: भावार्थ :—

स्वाम्रिक देहके अन्त करनेके निमित्त (देवः) परमात्मा (परम्) सर्वोत्तम (ब्रह्मतारकम्) ब्रह्मतारक–तारतम्य अर्थात् इस नामके मन्त्रको (व्याचष्टे) कहेगा। निम्नलिखित गायत्री मन्त्र भी तारतम्यकी स्तुति करता है। यथा—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।
(ऋ० मं० ३ सू० ६२—१०)

अर्थः—" सूते उत्पादयति सर्वदा अखण्डलीला असौ सविता यद्वा सूते उत्पादयति नेत्रप्रान्तलीलया कोटिशोऽण्डानि योऽसौ सविताऽक्षरस्तस्य देवोऽक्षरातीतः तस्य " सर्वदा अखण्डलीलाके कर्ता अथवा अपने नेत्रप्रान्तकी लीलामात्रसे करोड़ों ब्रह्माण्डोंके उत्पन्न करनेवाले जो अक्षर भगवान हैं, उनके भी देव जो अक्षरातीत हैं तिनके (तत्) उस (वरेण्यं भर्गः) उत्तम तेज–तारतम्यको (धीमहि) हम यावद् मन्त्र ध्यान करते हैं (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है। इसप्रकार पुरुषोत्तम परमात्माके सर्वोत्तम तेज ब्रह्मतारक मंत्रकी स्तुति वेद मन्त्र भी करते हैं। तारतम्यकी श्रेष्ठताको कठोपानिषद भी वर्णन करती है। यथा–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठोप० १–२–१७)

अर्थः–तारतम्यरूप ब्रह्मतेजका आलम्बन ही अच्छा है और यही आलम्बन सर्वोत्तम है। इस ब्रह्मतेजके आलम्बनको जानकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें पूजनीय होता है, ऐसा लिखा है। योगदर्शनमें तारतम्यका वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि–

—: भावार्थ :—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।

[योग० ३-५४]

अर्थः—तारकज्ञान विवेक जन्य है अर्थात् विवेकसे प्राप्त होता है और बिना क्रम सर्व विषयका प्रकाश है—जैसे सब विद्या क्रमसे पदार्थ बोधक होतीं हैं, ऐसा तारकज्ञान नहीं, किन्तु सब पदार्थ—पिण्ड ब्रह्माण्ड ब्रह्मधामादि स्वरूपका तत्काल हस्तामलकवत् बोधक है । स्मृतिमें भी तारतम्य ज्ञानको तत्काल ब्रह्मबोधक वर्णन किया है । यथा—"तारतम्येन जानाति सच्चिदानन्दलक्षणम्" सच्चिदानन्द परमात्माका स्वरूप तारतम्यसे ही जाना जाता है" इत्यादि अनेक ग्रन्थकारोंने तारतम्यकी श्रेष्ठता प्रतिपादन की है। अतः विदित होता है कि—अक्षरातीत परमात्माने अपने तेजको स्थापित कर तारतम्यको सर्वोत्तम बना दिया है ॥

संसार सागराद्येन तार्य्यन्ते मानवाः स च ।
तारनाम्ना सुविख्यातस्तस्मादतिशये तमप् ॥ ५९
कृते तस्मिंस्तारतमो जातश्शाब्दिक संमतः ।
स्वार्थे यति कृते तस्मात्तारतम्यमुदीर्य्यते ॥ ६०

गू०—संसारसागरादिति। तार्य्यन्ते पारं प्राप्यन्ते संसारसागराज्जना अनेनासौ तारः अत्राकर्त्तरिच कारके संज्ञायामिति कर्मणिघञ् ततोऽतिशयेन तारस्तारतमस्तद्धितादतिशयेतमप् पुनस्तारतम एव तारतम्यं स्वार्थे तद्धितयत्प्रत्ययः सिद्धमेतत्तारतम्यमिति ॥ ५९-६० ॥

भा०—संसार सागरसे तारनेके कारण इसका नाम तार हुआ और तार शब्दसे अतिशय अर्थमें तद्धित तमप् प्रत्यय करनेसे तारतम शब्द बन जाता

—: भावार्थ :—

है और फिर स्वार्थमें 'यत्' प्रत्यय कर देवें तो 'तारतम्य' शब्द बन जाता है। जिसका अर्थ होता है कि—संसार सागरसे अत्यन्त तारनेवाला मन्त्र। जो जन्म मरणके बन्धनसे मुक्तकर परमात्माको प्राप्त करावे, वह 'तारतम या तारतम्य' हुआ। दोनों शब्द एकार्थक हैं। तारतम्य कहो या तारतम अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता। किसी २ ग्रन्थमें ब्रह्मतारक सत्तारक नामसे भी इसे वर्णन किया है, भावार्थ सबका एक है ॥

पूर्वपुण्यबलेनैव तारतम्याधिकारिणः।
भवन्ति केपि न क्वचिदन्यथा जन्मकोटिभिः ॥६१

गू०—पूर्वेति। पूर्वोपार्ज्जितपुण्यबलेनैव जनास्तारतम्याधिकारिणो भवन्ति नान्यथा। तदुक्तं भगवता "अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिमिति 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' इति च तदेवाभिहितं विष्णुपुराणे "जन्मान्तर सहस्रेण तपो ज्ञान समाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति तथेयं श्रुतिः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति चतुर्णां व्याख्या, शेषं सुगमम् ॥ ६१ ॥

भा०—पूर्वजन्मके पुण्यके प्रतापसेही इस तारतमकी प्राप्ति होती है, अन्यथा कोटिन उपाय करनेपरभी इसकी प्राप्ति दुर्लभ है। क्योंकि इस तारतम्य ज्ञानसे ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका तथा कृष्णकी लीलाओंका पूर्णतया बोध हो जाता है और ब्रह्मके स्वरूपका किंवा कृष्णकी लीलाओंका यथार्थ ज्ञान पूर्वपुण्यके बिना नहीं होता। इस विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है कि—

—ः भावार्थः —

जन्मान्तर सहस्रेण तपो-ज्ञान समाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।।

सहस्रों जन्म पर्यन्त तपस्या, ज्ञान, योगक्रिया करते २ जब मनुष्यके पापोंका क्षय हो जाता है अर्थात् पापक्षीण होनेसे जब मनुष्य पवित्रात्मा बनजाता है, तब कहीं कृष्णकी भक्ति + प्राप्त होती है, इसके पहले नहीं । " यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः (गी० ७-३) " कृष्णके भक्तोंमेंसे भी सहस्रोंमें कोई एकाद कृष्णके वास्तविक स्वरूपको

टिप्पणी.

+ कृष्णभक्तिकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ मानी गई है, उसमें भी तारतम्यद्वारा कृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानकर पराभक्तिद्वारा कृष्ण परमात्माके स्वरूपमें निमग्न होनेका सौभाग्य तो पूर्व पुण्यशाली किसी पवित्रात्माको ही प्राप्त होता है । हरितंत्रमें लिखा है कि—

अन्येषामवताराणां सेवां यः पञ्चजन्मसु ।
करोति तस्य हयग्रीवे देवेशि ! रतिर्भवेत् ॥

तत्रापि तन्मना देवि ! नरश्चेद् दशजन्मसु ।
प्रह्लादरक्षके तस्य श्रीनृसिंहे रतिर्भवेत् ॥

अर्थः—जो मनुष्य अन्य अवतारोंकी पांच जन्म पर्यन्त उपासना करता रहे तब उसे हयग्रीव देवकी भक्ति प्राप्त होती है और दश जन्मतक हयग्रीवकी भक्ति करनेसे प्रह्लादरक्षक श्रीनृसिंह भगवानकी भक्तिप्राप्त होती है ।

तत्रापि यदि तच्चित्तो नरश्चेच्छत-जन्मसु ।
रघुनाथपदाम्भोजे भक्तिं प्राप्नोति शाश्वतीम् ॥

तस्य सीतापतेर्यस्तु सहस्रान्तेषु जन्मसु ।
भवत्येव फलं तस्य नारायण-परायणः ॥

—: भावार्थ :—

जान पाता है तब कहीं तारतम्यका अधिकारी होता है और जो तारतम्यद्वारा कृष्णपरमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानलेता है " न स पुनरावर्तते " वह पुनः जन्म मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता अर्थात् आवागमन रहित हो जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे तारतम्यका अधिकारी करोड़ों जन्मोंमें भी नहीं होता अर्थात् तारतम द्वारा परमात्माको समझे बिना फलरूपा परमात्माकी परा भक्तिको प्राप्त नहीं होता । " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजु० ३१-१८) उस परमात्माको पूर्णतया जानकर मृत्युरूप संसारको अतिक्रमण करता है, इसके बिना अन्यमार्ग पार जानेका नहीं है " इत्यादि श्रुति परमात्माके तारतम्य स्वरूप ज्ञानका महत्व वर्णन करती हैं ॥ ६१ ॥

टिप्पणी.

इसप्रकार नृसिंह भगवानकी सौ जन्मतक भक्ति करनेसे रामचन्द्रजीकी भक्ति प्राप्त होती है और सीतापति रघुनाथकी सहस्र जन्मतक भक्ति करे तो नारायणकी भक्ति प्राप्त होती है अर्थात् नारायणमें प्रीति उत्पन्न होती है ।

तत्रापि निश्चलमना नरः कोट्यन्त जन्मसु ।
श्री कृष्णस्य पदाम्भोजे भक्तिः स्यादनपायिनी ॥

योऽनन्य भक्तिं कृष्णस्य करोति सप्त जन्मसु ।
फलं तस्य भवत्येव ज्ञानं संसृति-मोचनम् ॥

करोड़ों जन्मतक निश्चल मनसे नारायण भगवानकी भक्ति करने पर कृष्णकी अनपायिनी भक्ति प्राप्त होती है और फिर सात जन्मतक कृष्णकी अनन्य भक्ति करे तब जन्म मरणकी संसृतिसे छुटानेवाला ज्ञान अर्थात् परा प्रेमलक्षणरूप तारतम्य विज्ञान प्राप्त होता है । जिससे ब्रह्मा-

अत्रापि निर्णयस्त्वित्थमधिकारि-निरूपणे ।
त्रिधाजीवास्समाख्याता स्तावद्ब्रह्माङ्गनागणाः ॥६२

गू०—सन्त्यत्र त्रिविधा जीवा ब्रह्मसृष्टय ईश्वरसृष्टयो जीवसृष्टयश्चेति । तेषामाद्यास्तारतम्याधिकारिण एव अथ चेश्वरसृष्टयोऽपि ब्रह्मसृष्टयनुग्रहेण तदधिकारिण इति । अपरे स्वाप्निक जीवास्तु क्वचिदधिकारिणो भवितुमर्हन्तीति निरूपयिषयाद्योक्तसृष्टीनां श्रुतिस्मृति पुराणेषूदित नामानि समाहृत्यात्राभिधीयन्ते । तत्र तावदत्रापीत्यनेन जीवानां त्रैविध्यं प्रतिपाद्य तेषामाद्यो ब्रह्माङ्गनागणा इत्युपक्रम्यते अत्रापीति । त्रिधाजीवास्समाख्याता तथाच स्मृतिः "त्रिधा सृष्टिरिह प्रोक्ता जीवेशब्रह्मणां पुरा । स्वाप्निकी जीव सृष्टिः स्याज्जागृती चैश्वरीमता ब्राह्मणी तद्गता प्रोक्ता सच्चिदानन्दलक्षणेति, एवं श्रीधराचार्य्येण श्रीभागवतदशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध प्रथमाध्यायस्थस्य 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानादिति' श्लोकस्य टीकायां त्रिधा जीवा इति' ख्याता मुक्ता मुमुक्षवो विषयिण इति बोध्यम् ॥ ६२ ॥

भा०—अब अधिकार भेद दिखानेके लिये प्रथम जीवोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं । इस जगतमें तीन प्रकारके जीव एकत्रित हुए हैं, जिन्हें

टिप्पणी.

नन्दका साक्षात्कार होने लगजाता है, ऐसा लिखा है । प्रेमलक्षणारूप तारक विज्ञानके प्रगट होनेसे परोक्ष ब्रह्मका साक्षात्कार होना स्वाभाविक है । क्योंकि फलरूप जो तारतम विज्ञान है, वह स्वयं ब्रह्मका तेज है । उसके लिये कुछ साधन शेष नहीं रहता । भक्तिसूत्रमें नारदजी लिखते हैं कि " फलरूपत्वात् " प्रेमलक्षणा द्वारा प्राप्त तारतमज्ञान फलरूप है । इसी फलका उल्लेख ऊपरके श्लोकमें आया है अतः सिद्ध होता है कि, तारतम्य ज्ञानकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है ।

—ः भावार्थ :—

ब्रह्मसृष्टि, ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि कहा जाता है। इन्हींको रूपान्तरसे मुक्त, मुमुक्षु और विषयी कहते हैं। नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव होनेसे ब्रह्मसृष्टि सदा मुक्त और तारतमके अधिकारी हैं। ब्रह्मसृष्टिके अनुयायी होनेसे ईश्वरीसृष्टि (मुमुक्षु) भी तारतमके अधिकारी होते हैं परन्तु जीवसृष्टि जो विषयी जीव कहे जाते हैं; वे तो प्रथम बताए गए भक्ति-क्रमानुसार पूर्वोपार्जित—उत्तम संस्कारके बलसेही तारतमके अधिकारी हो सकते हैं, अन्यथा उन्हें तारतम्यका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। मुक्त-जीव जो ब्रह्माङ्गना, ब्रह्मप्रिया ब्रह्मसृष्टि आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म-स्वरूप होनेसे तत्काल तारतमके प्रकाशको ग्रहण करलेते हैं। यथा—

त्रिधासृष्टिरिह प्रोक्ता जीवेशब्रह्मणां पुरा।
स्नाप्निकी जीवसृष्टिस्स्याज्जागृती चैश्वरी मता॥
ब्राह्मणी तद्गता प्रोक्ता सच्चिदानन्दलक्षणा।

सृष्टि तीन प्रकारकी है। जो स्वप्नवत् + नाशवान है उसे जीव सृष्टि कहते हैं। ईश्वरी सृष्टिको जाग्रत बताया है अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर जाग्रत होनेवाली है। ब्रह्मसृष्टि सच्चिदानन्द स्वरूप होनेसे ब्रह्मको प्राप्त हैं। श्रीधराचार्यने भी भागवत (१०–१–४) पर टीका करते हुए

टिप्पणी

+ शास्त्रोंको देखनेसे विदित होता है कि नित्य अनित्य भेदसे जीवोंमें स्वरूपगत भेद विद्यमान है। कुछ जीव विश्वरचनाके साथ प्रगट हो महाप्रलयमें प्रणवमें लीन हो जाया करते हैं। उन्हें विषयी या जीवसृष्टि कहते हैं। स्वप्नवत होनेसे इनका अस्तित्व प्रलयमें नहीं रहता अतः इन्हें विनाशी बताया गया है। यथा—

—: भावार्थ :—

लिखा है कि, जीव तीन प्रकारके होते है। यथा—" अत्र लोके त्रिविधा जनाः। मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च " इस परसे भी सिद्ध होता है कि जीवोंमें परस्पर स्वरूपभेद अवश्य है ॥ ६२ ॥

ब्रह्मसृष्टय एव स्युस्तथा ब्रह्मर्षयस्स्मृताः ।
क्वचिन्महर्षयः प्रोक्ताः क्वच ब्रह्मप्रियाजनाः ।६३

गू०—ब्रह्माङ्गनानां नामानि प्रदर्श्यन्ते ब्रह्मसृष्टय इति त्रिभिः ब्रह्मैव ऋषयः ऋषिरूपैरवतीर्णा इति ब्रह्मर्षयः मह्यन्ते पूज्यन्ते सर्वैः जनैरिति महान्तस्तथाभूता महर्षयः 'एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिरिति' भागवते महर्षि नामाभिधानात् 'कृष्णस्य प्रियाः कृष्णः पुरुषोत्तमः प्रियो येषामासां वा कृष्णप्रियाः क्वच जनाः जनशब्दवाच्या स्युः " जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-दधर्म्मशीलस्य सुदुःखितस्येति भागवते जनशब्देनाभिधानात् ॥६३॥

टिप्पणी.

यथा स्वप्नमयो जीवः जायते म्रियतेपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥
(माण्डूक्य० प्र० ४ का० ६८)

अर्थः—जैसे स्वप्नके जीवोंका स्वप्न पर्यन्त ही अस्तित्व रहता है और जाग्रत होतेही सब लय हो जाते है; उसी प्रकार विषयी जीव नारायणसे प्रगट होते हैं और महाप्रलयमें उन्हींमें समा जाते हैं। इनका नित्यत्व अक्षर ब्रह्मके मनस्वरूप नारायणके साथ रहता है, पृथक् नहीं। और जो उत्तम जीव ब्रह्मप्रिया हैं, वे तो नित्य हैं अतः उनका कभी नाश नहीं होता। वे तो सदाकाल नित्य, मुक्त, शुद्धबुद्ध, स्वभाव होनेसे अविनाशी पवित्रात्मा हैं। यथा—

भा०—ब्रह्माङ्गनाओंका नाम सृष्टिमें प्रगट होनेसे ब्रह्मसृष्टि कहा जाता है। इनको कभी किसीने रचा नहीं, किन्तु अनुप्रासके लिये इनके साथ सृष्टि शब्द लगा दिया गया है। किसी २ ग्रन्थमें इनको 'ब्रह्मर्षि' करके भी लिखा है। ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त) जिसे ज्ञानका दर्शन हो अर्थात् जिसके द्वारा जगतको अपूर्व ज्ञान प्राप्त हो, उसे ऋषि कहते हैं। ब्रह्माङ्गनाओंके द्वारा नश्वर जगतको ब्रह्मके स्वरूपका अपूर्व ज्ञान प्राप्त हुआ; इसलिये इनका 'ब्रह्मर्षि' नाम अन्वर्थक और युक्ति-पूर्ण है। "एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः" इत्यादि भागवत ११ स्कन्धमें इनका नाम पूर्वतम महर्षि करके लिखा है। मह्यन्ते पूज्यन्ते-अक्षरसृष्टिभिः ब्रह्मविष्णु शिव नारायणादिभिर्ये ते महा-न्तस्तथाभूता ऋषयो महर्षयः" ईश्वरी सृष्टि अथवा ब्रह्मा विष्णु शिव नारायणादिसे पूजे जानेके कारण ब्रह्मप्रिया महर्षि हैं। कृष्ण प्रिया या ब्रह्मप्रिया शब्दका प्रयोगभी इनके लिये होता है। "कृष्णः पुरुषोत्तमः

टिप्पणी.

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं तस्य यत्र कश्चिन्न जायते ॥

[माण्डूक्य प्र० ४ का ७१]

उत्तम जीवोंका न तो प्रगट होना सम्भव है और न वे प्रगट होते हैं। यही तो उनकी उत्तमता है कि उनका तिरोभाव प्रादुर्भाव नहीं होता अर्थात् तीनों कालमें वे नित्य वर्तमान हैं। पञ्चदशीमें भी जीवोंके तीन भेद माने हैं। यथा—"तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवीचेत्यसौ त्रिधा" अर्थः-यह सृष्टि तीन प्रकारकी है। तुच्छा-प्रतीति मात्र, अनि-र्वचनीया-व्यवहारमात्र और वास्तवी-पारमार्थिकी सत्यस्वरूपा, ऐसा लिखा है। विषयी जीव प्रतीतिमात्र हैं, इनका वास्तविक स्वरूप नहीं, इसीलिये

—: भावार्थ :—

प्रियो यासाम् " कृष्ण परमात्मा प्रिय हैं, जिन्हें वे कृष्णप्रिया तो हैं ही। कहीं जन शब्द भी इनके लिये प्रयुक्त हुआ है। यथा—

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायेह भवन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥

अर्थः—(दैवात्–देवस्याक्षरातीतस्येदं शासनं दैवमाज्ञेति तस्मात्) देव अर्थात् अक्षरातीत परमात्माकी आज्ञासे (कृष्णाद् विमुखस्य) कृष्णसे विमुख अर्थात् ब्रह्मानन्दको छोड़कर नश्वर विषयोंमें निमग्न (अधर्मशीलस्य) अपने आनन्द धर्मको छोड़कर मिथ्या धर्मोंमें रत अत-

---

टिप्पणी.

वेदान्ती लोग इन्हें प्रतिबिम्बमात्र कहते हैं और ब्रह्मसृष्टि तो सनातन अविनाशी होनेसे शाश्वती प्रजा कही जाती हैं। उनके विषयमें तो अनित्य होनेका प्रश्नही उपस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि छान्दोग्य श्रुति इनको सनातन प्रजा वर्णन करती है। यथा—

"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छा० ६–८–४–)

भा०—उद्दालकऋषि श्वेतकेतुको उपदेश देते हैं कि हे सोम्य ! ये सब प्रजा—ब्रह्मसृष्टि सनातन मूलवाली हैं। इनका आयतन–निवासस्थान भी सनातन अविनाशी है और इनकी प्रतिष्ठा–अस्तित्व भी अनादि कालीन है इत्यादि " महाभाष्यकार पतञ्जलि भी लिखते हैं कि—" मुक्ता अपि-लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते " मुक्तात्मा जो ब्रह्मसृष्टि हैं, लीलामात्रसे शरीर धारणकर जगतके प्राणियोंका उद्धार करनेके लिये विचरते हैं। इत्यादि अनेक प्रमाण इस बातको पुष्ट करते हैं कि, संसारमें नित्य अ-नित्य भेदसे जीवोंकी व्यवस्था शास्त्रकारोंने मानी है।

—: भावार्थ :—

एव (सुदुःखितस्य) नाना प्रकारके दुःखोंसे अत्यन्त पीड़ित (जनस्य) प्रियावर्गके (अनुग्रहाय) अनुग्रहके–मोहमय जगतसे उद्धार करनेकेलिये (जनार्दनस्य) कृष्णके (भूतानि भव्यानि) प्राप्त सुन्दर स्वरूप (भवान्ति) प्रगट होते हैं । इत्यादि भागवतादि ग्रन्थोंमें ब्रह्मप्रियाओंके लिये अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं ॥ ६३ ॥

क्वापि सच्छब्दवाच्या स्तास्तथा गोपीजना स्मृताः ।
क्वचित्तु ब्रह्ममुनयः क्व च कृष्णप्रणामिनः ॥६४

गू०–क्वेति क्वचित्सच्छब्द वाच्यास्तथेयं श्रुतिः ‘ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा इति, भागवते दशमस्कन्धेप्येवं ‘जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्तामिति गोपानामाभीरजातीनां कन्यारूपेणावतीर्णत्वाद् गोप्यः, वा गां वाणीं श्रीकृष्णमुखनिर्गतां वेणुद्वारास्फुटीभूतां पान्ति रक्षन्ति प्रतिपालयन्तीति गोप्यः वा प्राणनाथमुखद्वारा गास्यमानां वाणीं पास्यन्ति रक्षिष्यन्तीति गोप्यः सुपि उपपदे पा धातोः ‘आतोऽनुपसर्गे कः इति कः आलोपश्च ततो निष्पन्नगोपशब्दात् ‘पुंयोगादाख्यायामिति’ ङीष् क्वचिच्छास्त्रोक्तरीत्या ब्रह्ममुनय इत्युच्यन्ते ब्रह्मरूपिणो मुनयो ब्रह्ममुनयो मध्यमपदलोपी

भा०—किसी २ ग्रन्थमें ब्रह्मप्रियाओंके लिये सत् वा सती शब्द प्रयुक्त हुआ है । यथा—“ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छां० ६–८–४) हे सोम्य श्वेतकेतु ! यह सब प्रजा–ब्रह्मप्रियाजन सत् मूल हैं इनका धाम भी सत्य है और इनकी प्रतिष्ठा भी सनातन है । “ जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम् ” (१०–१४–३) इत्यादि भागवतमें भी लिखा है कि—‘ सत्–परम·

कर्मधारयः । तदुक्तं हरिवंशे "अभाविनो भविष्यन्ति मुनयोब्रह्मरूपिणः । उत्पन्ना ये कृतयुगे प्रधानपुरुषाश्रया इति" क्वचित् कृष्णप्रणामिनः ख्याता भवंति 'प्रकृष्टतया नमनं प्रणामः, णमप्रह्वत्वे शब्दे चेत्यस्माद्भावेघञ् कृष्णः पुरुषोत्तमस्तस्य प्रणामोऽस्त्येषामिति कृष्णप्रणामिनः तदुक्तं पाण्डवगीतायां 'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः । दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवायेति' ॥ ६४ ॥

—: भावार्थ :—

हंसोके मुखसे स्वतः प्रगट वाणीको श्रवणकर सज्जन पुरुष नमन करते हैं । इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मप्रियाओंके लिये सत् शब्दका प्रयोग हुआ है । कहीं २ गोपीजन शब्द भी इनके लिये लिखा गया है । गो नाम कृष्णकी वंशीद्वारा निकली हुई वाणीको—पालन करनेवाली होनेसें इनका नाम गोपी है । ब्रह्मका मनन करनेवाले होनेसे 'ब्रह्ममुनि' शब्द भी इनके लिये प्रयुक्त हुआ है । हरिवंशपुराण—भविष्यपर्वके ४ अध्यायमें व्यासजीने लिखा है कि—

अभाविनो भविष्यन्ति मुनयो ब्रह्मरूपिण. ।
उत्पन्ना ये कृतयुगे प्रधानपुरुषाऽऽश्रयाः ॥

अर्थः—(अभाविनः) जो कभी इस विश्वमें उत्पन्न नहीं होते (ब्रह्मरूपिणः + बहुरूपिणः वा इति पाठान्तरम्) ब्रह्मस्वरूप वा अनेक

टिप्पणी.

+ इस श्लोकमें दो पाठान्तर हैं । ब्रह्मरूपिणः के स्थानमें बहुरूपिणः और कलियुगके स्थानमें कृतयुगे । अर्थसंगति दोनोंसे लगजाती है परन्तु विदित होता है कि 'ब्रह्मरूपिणः' के स्थानमें 'बहुरूपिणः'

—: भावार्थ :—

स्वरूप (मुनयः) मुनिजन (उत्पन्नाः) कलियुगमें उत्पन्न (भविष्यन्ति) होंगे (ये) जो (कृतयुगे) सतयुगमें (प्रधान पुरुषाश्रयाः) प्रधान पुरुष–परमात्माके आश्रयमें थे । इसमें जनमेजयके प्रति व्यासजीने ब्रह्म-मुनियोंका वर्णन किया है । किसी २ ग्रन्थकारने ब्रह्मप्रियाओंको कृष्ण-प्रणामी करके भी लिखा है । कृष्ण नाम परमात्माका है परमात्मारूप कृष्णको निरन्तर नमनेका शीलस्वभाव है जिनका, उन्हें कृष्णप्रणामी कहते हैं। "कृष्णं प्रणमितुं शीलमस्येति ' कृष्ण प्रणामी ' 'सुप्यजातौ णिनिस्ता-च्छील्ये, इस पाणिनीय सूत्रसे कृष्ण शब्द पूर्वक प्र–नमधातुसे णिनि प्रत्यय करनेपर 'कृष्णप्रणामी' शब्द बन जाता है । अथवा "प्रणमनं प्रणामः कृष्णस्य प्रणामः कृष्णप्रणामः सोऽस्त्यस्येति कृष्णप्रणामी" घञ् प्रत्ययान्त–प्रणाम शब्दका कृष्ण शब्दके साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करनेपर कृष्णप्रणाम शब्द सिद्ध होता है और फिर उससे "अत इनि ठनौ (५–२–११५) इस पाणिनीय सूत्रसे इन् प्रत्यय करें तो कृष्ण प्रणामी शब्द बनजाता है । कृष्ण परमात्माका अनन्य भावसे सदा प्रणाम करनेवाला कृष्णप्रणामी कहा जाता है । "यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनः" इति श्रुतेः । जिस परमात्माको ब्रह्मादि सब देव, मुमुक्षु—ईश्वरी सृष्टि और ब्रह्मवादी अर्थात् ब्रह्मप्रियागण सदा प्रणाम करते हैं। इत्यादि श्रुति ब्रह्मप्रियाओंके प्रणामको पुरातन वर्णन

टिप्पणी

लेख प्रमादसे ही हो गया होगा । क्योंकि श्लोकके अन्य शब्द देख-नेसे स्पष्ट होता कि 'बहु' के स्थानमें 'ब्रह्म' शब्द अधिक संगत प्रतीत होता है । और प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें ' बहुरूपिणः ' ऐसा ही पाठ मिलता है । ३०० वर्षकी पुरानी प्रतिमें 'ब्रह्मरूपिणः' पाठ हमने देखा है ।

—: भावार्थ :—

करती है । पाण्डवगीतामें भी लिखा है कि—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

अर्थः—कृष्ण परमात्माको एकवार भी प्रेमपूर्वक प्रणाम करनेसे दशाश्वमेध यज्ञके अवभृथस्नानके तुल्य फल होता है । दशाश्वमेधी तो पुनः जन्म धारण करता है, परन्तु कृष्णप्रणामी—ब्रह्मसृष्टि—का कभी पुनः जन्म नहीं होता । इत्यादि वचन कृष्णकेलिये अनन्यभावसे प्रणाम करनेवाले कृष्णप्रणामीका महत्व वर्णन करते हैं । " ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव (१०–१४–३) इत्यादि भागवत और " मद्याजी मां नमस्कुरु " इत्यादि गीतामें भी अनन्यभावसे कृष्णके नमन करनेवालेको श्रेष्ठ बताया है । उत्तम कर्तव्यका पालन करना अधिकतर ब्रह्मसृष्टिका ही धर्म है, अन्यसे नहीं बन सकता ॥ ६४ ॥

तथा परमहंसास्तु सख्यः क्वापि प्रकीर्त्तिताः ।
क्वापि मुक्ता महच्छब्दवाच्यास्ता अनुवर्णिताः ॥६५

गू०—तथेति क्वच परमहंस नाम्ना प्रसिद्धाः परमे परम पुरुषे हंस इवाचरन्तीति परमहंसाः तथा च ऋङ्मन्त्रेणोच्यते " आहंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् " इति तथा वाजसनेयिब्राह्मणेपि "हिरण्मयः पुरुष एकहंसः " इति तथा भागवते वेदस्तुतावपि 'न परिलषन्ति केचि-

भा०—कहीं २ परमहंस नामसे भी प्रसिद्ध हैं । परमपुरुष परमात्माके विचारमें हंसके सदृश—क्षीरनीररूप माया ब्रह्मको पृथक करके दिखानेवाले होनेसे इन्हें परमहंस कहा है । " आहंसासो नीलपृष्ठा अप-

दपवर्गमपीश्वर! ते चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहा इति' सख्यस्तु भागवतेबहुषु स्थलेषुप्रसिद्धा मुक्ता अभिधीयन्ते 'मुक्ता अपि लीलयाविग्रहं कृत्वा भजन्त इति श्रुतेः क्वापि महच्छब्दवाच्यास्सन्ति तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे रहूगण राजानंप्रति भरतेन 'विनामहत्पादरजोभिषेकम्' महतां ब्रह्मसृष्टीनां पादरजोभिषेकेनैव तद्वस्तु लभ्यते नतु सूर्याद्युपासनयेति भावः

—ः भावार्थः—

सन्" इत्यादि ऋङ् मन्त्रमें हंस शब्दसे इन्हींका उल्लेख हुआ है। भागवत (१०–८७–३१) वेदस्तुतिमें भी लिखा है कि—

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ! ते–
चरणसरोजहंसकुलसङ्ग–विसृष्टगृहाः ॥

अर्थः—हे प्रभो ! आपके चरणकमलमें रत जो हंसकुल अर्थात् ब्रह्मप्रिया हैं तिनके सत्सङ्गसे त्याग दिये हैं गृहादि सुख जिन्होंने, ऐसे कोई महात्मा पुरुष अपवर्ग–वैकुण्ठादि सुखको-भी नहीं चाहते, इत्यादि। कहीं २ सखी शब्द भी इनकेलिये प्रयुक्त हुआ है। भागवत, पुराणसंहिता आदि ग्रन्थोंमें बहुधा सखी शब्दका उल्लेख ब्रह्मप्रियाओंके लिये ही हुआ है। "मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते" इत्यादिमें भाष्यकारने मुक्त शब्दका प्रयोग ब्रह्मसृष्टिके लिये किया है। अतएव इनका नाम मुक्त भी है। कहीं २ पर महान शब्दसे भी उल्लेख किया है। यथा–

रहूगणैतत्तपसा न याति नचेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम् ॥
(भा० ५–१२–१२)

अर्थः—भरतजी रहूगणके प्रति उपदेश करते हैं कि–हे रहूगण नृप! इस उत्तम ज्ञानको अर्थात् आत्माके यथार्थ स्वरूपको मनुष्य न तपस्या

—: भावार्थ :—

करनेसे, न यज्ञादि कर्मोंसे, न अन्नादिके दानसे, न संन्याससे, न वेदाध्ययनसे, न जल, अग्नि, सूर्यादिकोंकी उपासनासे प्राप्त हो सकता है किन्तु महान पुरुष जो ब्रह्मस्रष्टि हैं, उनके चरणरजके स्नानसेही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममुनियोंकी चरणरजकी कृपा विना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रश्न—करोड़ों मनुष्य जगतमें प्रतिमादि पूजन, यजन, वेदपाठ, संन्यास तीर्थादिका सेवन करते हैं तो उसे छोड़कर ब्रह्मप्रियाओंका सेवन क्यों नहीं करने लगजाते ?। उत्तर—देखो जी ! जो वेदशास्त्रके तत्त्वको यथार्थ जानते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं, वे यज्ञादि कर्मोंमें रत नहीं होते। जो शास्त्रके तत्त्वको यथार्थ नहीं जानते या ब्रह्मतत्त्वके अधिकारी नहीं हैं, वे ही ऐसा करते हैं। देखो श्रीकृष्ण भगवान् नारदादि ऋषियोंके प्रति स्वतः उपदेश करते हैं कि—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

[भा० १०-७२-१३]

अर्थः—जिसकी त्रिधातुक-वातपित्त कफात्मक शरीरमें आत्मबुद्धि, कलत्रादिमें स्वधी-अपनापन, और मृत्पाषाणादि पार्थिव पदार्थोंमें देवबुद्धि है एवं जो जलमें तीर्थबुद्धि रखता है और अभिज्ञ अर्थात् ब्रह्मज्ञ विद्वान् महात्माओंमें पूज्यबुद्धि नहीं रखता, वही गोखर है अर्थात् बैलोंके लिये घास लादकर ले जानेवाले गदहाके समान है। नारद पञ्चरात्रान्तर्गत माहेश्वर तन्त्रमें लिखा है कि—

यावदीश्वर—भावस्स्यात्पाषाणप्रतिमादिषु।
जलादौ तीर्थभावश्च तावदज्ञानमात्मनः॥

—: भावार्थ :—

अर्थात् जबतक पाषाणादि निर्मित प्रतिमामें ईश्वर भावना और जलादिमें तीर्थभावना है तबतक आत्माको अज्ञानी समझना " इत्यादि प्रमाणोंपरसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मप्रियाओंके प्रति पूज्यबुद्धि न रखने वाले पार्थिव पदार्थोंके उपासक अज्ञानी हैं। " न प्रतीकेन हि सः (ब्रह्मसू० ४-१-४) ' इत्यादि ब्रह्मसूत्रमें भी प्रतिमादि पूजनसे ब्रह्मप्राप्तिका निषेध किया है। अतएव " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " ब्रह्म समान जो ब्रह्मज्ञ ब्रह्मसृष्टि हैं उनमें पूज्यबुद्धि रखनाही श्रेयस्कर है ॥ ६५ ॥

पूर्वर्षयो ब्रह्मनिष्ठा ब्रह्मधाम निवासिनः ।
ब्रह्मज्ञा ब्राह्मणा देव्यो ब्रह्मवादिन एव च ॥ ६६

गू०—पूर्वर्षय इति पूर्वे ऋषयः पूर्वर्षयः सर्वेभ्यो जीवेश्वरसृष्टिभ्यः प्रथमजाः पूर्वतमा इत्यर्थः। तथाच श्रुतिः "पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतं अमतं अविज्ञातमुदाहरिष्यतीति' भागवतेऽप्येवमुक्तं " सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता । श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिंचन " इत्यत्रापि पूर्वेषां पूर्वजैरित्यनेन जीवसृष्टिभ्यः पूर्वे ईश्वरसृष्टयस्तेषां पूर्वजा ब्रह्मसृष्टय इति ज्ञापितमिति। पुनः ब्रह्मणि परमात्मनि निष्ठा स्थितिर्यासां येषां वा ब्रह्मनिष्ठा एतत्पर्य्यायाः ब्रह्मसंस्थब्रह्मेष्ट प्रभृतयश्शब्दा ग्राह्याः। तथेमाः श्रुतय आहुः। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः

भा०—उपनिषदोंमें ब्रह्मवासनाओंके नाम पूर्वऋषि, पूर्वज, प्रथमज, इस प्रकार लिखे गए हैं। जीव वा ईश्वरी सृष्टिके पूर्वकालमें भी इनका अस्तित्व होनेसे इन्हें पूर्वऋषि, पूर्वज आदि शब्दोंसे लिखा है। छान्दोग्य श्रुतिमें इसप्रकार वर्णन आता है कि—

श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । तथा भागवते " साधवो न्यासिन शान्ताः ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरित्यत्र कलौ भाविनां साधूनां ब्रह्मिष्ठत्वं प्रकाशितमिति बोध्यम् । ब्रह्मणो धाम्नि निवासो येषां ते ब्रह्मधामनिवासिनः ब्रह्मलोकिन इत्यर्थः । तथेयं श्रुतिः "यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्चेति पुनः ब्रह्म साक्षात्तया जानन्तीति ब्रह्मविदः त एव ब्रह्मवेतृत्वाद्ब्राह्मणः तथेमाश्श्रुतयः 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' स यो ह वै परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तर-

—: भावार्थ :—

" पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुत—
ममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः "

(छा० ६-४-५)

अर्थः—आरुणि ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतुको विद्याभिमानी देख बोले कि हे पुत्र ! तुम उस वस्तुको जानते हो? जिससे अश्रुत श्रुत, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है । तब पुत्रने उत्तर दिया कि, मेरे गुरु जो मुझे पढ़ाते थें, वे भी नहीं जानते थे । यदि जानते होते तो क्योंन बताते ? अब आपही बताइये । तब पिताने " सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् " इत्यादि श्रुति द्वारा सृष्टिके सदसत्कारणका निरूपण कर अन्तमें उसे दुर्ज्ञेय वर्णन करते हुए कहा कि—हे पुत्र ! यह पदार्थ गूढ़ है, इसको तो पूर्व ऋषिही यथार्थतः कह सकते हैं । जो महाशाला और महाश्रोत्रिय अर्थात् महती श्रुति जो स्वसंवेद्यरूप सच्चिदानन्दमयी परा वाणी है, उसके ज्ञाता हैं । तब पुत्रनें पूछा कि—वे पूर्वऋषि कहां हैं ? मैं भी उन्हींकी शरणमें जाऊं । तब पिताने कहा

ति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' किमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । स ब्राह्मणः केन स्याद्येनस्यात्तेनेदृश एवेति । पुनः देवस्य क्रीडापरायणस्याक्षरातीतस्य स्त्रियो देव्यः पुनः 'ब्रह्मणा सह वादस्संवादः प्रेमवादो येषां ते ब्रह्मवादिनः तथेयं श्रुतिः ब्रह्मवादिनो वदन्ति । किं कारणं ब्रह्म कुतःस्म जाताः इत्यादि एतानि नामानि यत्र क्वचोपलभ्यन्ते तानि ब्रह्मप्रियाणामिति बोध्यम् ॥६६॥

—: भावार्थ :—

कि (अद्य नोऽस्माकं कुले न) अभी वे हमारे कुलमें प्रगट नहीं हुए, किन्तु अपने आनन्दकुलमें हैं । पुनः पुत्रने पूछा कि, क्या वे पूर्वऋषि कभी आवेंगे ? पिताने कहा हां, उन पूर्वऋषियोंके मध्य एक ऐसा पूर्वऋषि प्रगट होगा जो अश्रुत अर्थात् जिस वस्तुको किसीने कानसे नहीं सुना, अमत अर्थात् जो मनका विषय नहीं है, अविज्ञात अर्थात् जिसे आजतक किसीने जान नहीं पाया, उसको उनके लिये 'उदाहरिष्यति' उदाहरण करेगा, अर्थात् कहेगा, इसप्रकार जानो । इस गूढ़-रहस्यका संकेत भागवतमें भी किया है । यथा—

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चन ॥

[भाग० १०-८७-३]

अर्थः—नारायणजी नारदके प्रति कहते हैं कि, यह ब्राह्मी उपनिषद–ब्रह्मविद्याका रहस्य है, जिसे पूर्वऋषि–ब्रह्मप्रियाओंने धारण किया है अतः इसे जो कोई श्रद्धासे धारण करेगा, वह पूर्ण कल्याणको प्राप्त होगा। इत्यादि परसे विदित होता है कि पूर्वऋषि, पूर्वज आदि नाम कृष्णप्रियाओंके हैं । किसी २ ग्रन्थमें इन्हें ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मसंस्थ, ब्र-

—: भावार्थ :—

ब्रह्मिष्ठ नामसे भी लिखा हैं। " तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् '' (मु० उ० १-२-१२) उस आत्मतत्त्वके ज्ञानार्थ समित्पाणि अर्थात् हाथमें समिधा लेकर श्रुतितत्त्वके ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे। इस श्रुतिमें परमात्मामें निष्ठा रखनेवाले ब्रह्मसृष्टिके पास जानेकी आज्ञा है । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति " ब्रह्ममें संस्था-निष्ठावाले जो ब्रह्मप्रिय हैं, मरणरहित—अखण्ड सुखको प्राप्त होते हैं । भागवतमें भी इनका वर्णन आता है कि—

साधवो न्यासिन श्शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोक पावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥

(भा० ९-९-६)

अर्थः—राजा भगीरथ गङ्गाजीके प्रति उपदेश देते हुए वर्णन करते हैं कि--हे गङ्गे ! तुम अपने पापोंकी चिन्ता मत करो । कारण, संसारको पावन करनेवाले परमत्यागी साधुवेषधारी ब्रह्मिष्ठ मुनि तुमारेमें स्नानकर अपने अंगके स्पर्शसे तुमारे सब पाप हर लेवेंगे । उपरोक्त श्रुति स्मृतियोंके अवतरणसे विदित होता है कि ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्मिष्ठ आदि नाम ब्रह्मप्रियाओंके हैं। " यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च (मु० उ० २-२-३) जिस परमात्माकी महिमामें लोक—धाम परमधाम आदि निहित हैं और लोकिन-निजधाम निवासी ब्रह्मप्रिया भी स्थित हैं ' इत्यादि श्रुतिमें ' लोकिनः ' शब्दसे परमधामवासी ब्रह्ममुनियोंका वर्णन किया है। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० ३-२-९) ब्रह्मको जाननेवाला तत्स्वरूपही हो जाता है " इत्यादि श्रुति इन्हें ब्रह्मज्ञ नामसे वर्णन करती हैं। मुण्डक श्रुतिमें लिखा है कि—

—: भावार्थः —

स यो ह वै परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥

[मु० उ० ३-२-६]

अर्थः—जो परमात्माका यथार्थ ज्ञाता है वह ब्रह्मरूपही है, उसके कुलमें भी अब्रह्मज्ञ नहीं होता । ब्रह्मवेत्ता शोकको तरजाता है, पापसे तरजाता है, संसाररूप गुहाग्रन्थिसे मुक्त हो अमृत—आवागमन रहित हो जाता है" इत्यादि अनेक श्रुति ब्रह्ममुनियोंके स्वरूपका महत्व प्रतिपादन करती हैं । ब्रह्मको जाननेके कारण ब्राह्मण शब्दसे भी ब्रह्मप्रियाओंका उल्लेख किया है । यथा—

किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे ।
स ब्राह्मणः केनस्याद्येन स्यात्तेनेदृश एव ॥

अर्थः—किसलिये हमलोग अध्ययन करें, किसलिये यज्ञादि करें; जिस ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानसे वह ब्राह्मण नाम होता है उससे युक्त तो हम हैं हीं । " 'ब्रह्म जानातीति ' ब्रह्मको जानता है वही ब्राह्मण है, इस व्युत्पत्तिके आधारसे ब्राह्मण नाम ब्रह्मवासनाओंका है । क्योंकि ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको इनके बिना कौन कह सकता है । देव—परमात्माकी शक्तिरूप होनेसे देवी शब्दका प्रयोग भी किसी २ ग्रन्थमें इनके लिये आया है । ब्रह्मके साथ सम्वाद—प्रेमाधिक्यके विषयमें विवाद होनेके कारण ब्रह्मवादी नामसे भी इनका निर्देश किया गया है । यथा—

ब्रह्मवादिनोवदन्ति । किंकारणंब्रह्मकुतःस्मजाताजीवामकेन क्वचसंप्रतिष्ठाः अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहेब्रह्मविदो व्यवस्थाम् [श्वेता० १-१]

—: भावार्थ :—

अर्थः—ब्रह्मवादी–ब्रह्ममुनि–कहते हैं। जगतका कारण ब्रह्म क्या वस्तु है ? हमलोग कहांसे प्रगट हुए और किससे जीवन पाते हैं। हमारी संप्रतिष्ठा कहां पर है। किसके अधिकारमें पड़कर ब्रह्ममुनियोंके व्यवस्थारूप सुखको छोड़कर, सुखसे इतर–दुःखरूप जगतके विषयोंमें वर्त-रहे हैं अर्थात् समय व्यतीत कर रहे हैं?" इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मवादी, ब्रह्म-विद, नाम ब्रह्मप्रियाओंके हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

एवं विधानि नामानि सन्ति शास्त्रेषु भूरिशः ॥
क्वचित्पुल्लिङ्गनिर्देश अत्रौपाधिकभेदतः ॥ ६७

गू०—एवमित्यनेनोक्तमुपसंह्रियते । न चैतावंत्येव नामानि किन्तु शास्त्रेषु भूरिशो नामानि सन्तीति 'कृष्णप्रियाच्युतप्रिया-ब्रह्माङ्गनाकृष्णयोषिदकिञ्चनपरमर्षिप्रभृतीन्यनेकशो नामानि तत्र त-त्रोह्यानि यत्र क्वच पौंस्त्वनिर्देशस्तत्रौपाधिकभेदो बोध्यः ॥ ६७ ॥

भा०—इस प्रकार विविध–कृष्णप्रिया, अच्युत प्रिया, ब्राह्मी, शाश्वती प्रजा, ब्रह्माङ्गना आदि–नाम ब्रह्मप्रियाओंके हैं। किसी २ स्थानपर पुल्लिङ्ग निर्देश भी किया है । वहांपर औपाधिक भेद समझना चाहिये । क्योंकि ब्रह्मधाममें तो सभी शक्तिरूप हैं। स्वरूपभेद तो इस विनश्वर जगतमें हुआ है ।

न तत्र विस्मयः कार्य्यश्शुद्धतत्त्वविदांगणैः ।
यथा रासे स्थितास्सख्यस्त्वधुना पौंस्त्वरूपगाः ॥६८

भा०—ब्राह्मी प्रजारूप जो शाश्वती समा हैं, इनके विषयमें तत्त्वज्ञ पुरुषोंको औपाधिकभेद–स्त्रीलिंग पुलिङ्ग शब्दसे प्रतिपादित नामोंपर आश्चर्य न करना चाहिये। जैसे रासके समयमें गोपीरूप धारण किये थे। उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डमें पुरुषरूप होना सम्भव है ॥ ६८ ॥

प्रेमपात्राणि ता एव तारतम्याधिकारिकाः ।
तथा तत्कृपया येऽन्ये चेश्वरीसृष्टितां गताः ॥ ६९

गू०—प्रेमेति । प्रेम्णः पात्राणि ता एवातस्तारतम्याधिकारिकास्तदधिकारिण्यस्तथा तत्कृपया ब्रह्माङ्गनानुग्रहेण येचान्ये ईश्वरी सृष्टितां गतास्तेऽप्यधिकारिणो भवन्ति ॥ ६९ ॥

भा०—प्रेमके पात्रस्वरूप ये ब्रह्ममुनिही तारतम्यके अधिकारी हैं। इनकी कृपासे ईश्वरी सृष्टिको भी तारतम्यका अधिकार प्राप्त हो जाता है॥

तारतम्यमनुं प्राप्य गमिष्यन्त्यक्षरालये ।
ब्रह्माङ्गनानां सेवार्थं समायातास्तु तेऽत्र वै ॥ ७०

गू०—तारतम्येति । ते तारतम्यमनुं प्राप्याक्षरालयेऽक्षरधाम्नि गमिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति । ननु कथमक्षरधाम्नस्समायातास्तत्राह ब्रह्माङ्गनानां सेवार्थमिति ॥ ७० ॥

भा०—तारतम्य मन्त्रको पाकर ईश्वरीसृष्टिवाले प्राणी अक्षरधामको प्राप्त होंगे । क्योंकि ब्रह्मांगनाओंकी सेवाके लिये वे अक्षर धामसे आए हैं अतः उन्हें वहीं पहुंचना चाहिये ॥ ७० ॥

अथ स्युर्ये तृतीयाश्च जीवास्ते स्वाप्निका स्मृताः ।
तेषां जाग्रदवस्थायां स्वरूपं नावतिष्ठते ॥ ७१

स्वप्नमूला भवेन्निद्रा निद्रातस्स्वप्नसम्भवः ।
स्वप्नतस्स्वाप्निका जीवाः क्षरांशास्ते प्रकीर्त्तिताः ।

गू०—अथ ब्रह्मांगनानुयायिनामीश्वरीसृष्टीनां कथनानन्तरं ये तृतीया जीवास्ताननुवर्णयति चतुर्भिः अथेत्यादि अर्थस्तु स्पष्ट एव

पञ्चदशीवेदान्ते जीवेश्वरसृष्टीनां लक्षणं दृश्यते "ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता। जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः, इति।

भा०—ब्रह्मसृष्टि और ईश्वरीसृष्टिके अतिरिक्त जो तीसरे जीवसृष्टिके जीव हैं, वे तो स्वाप्निक कहे जाते हैं। जाग्रदवस्थामें उनका स्वरूप नहीं रहता। स्वप्नका मूल निद्रा है और निद्राके कारणही स्वप्न होता है। स्वप्नसेही स्वाप्निक सृष्टिके जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनका अस्तित्व नित्य नहीं माना गया॥ ७१–७२॥

यदा द्रष्टावतिष्ठेत स्वरूपे गत–निद्रकः।
स्वप्नव्यूहो विनश्येत विलीनाः स्वप्नजास्तदा॥७३
भ्रान्त्या रज्जावहित्वं स्यादहिनः कम्पनं यथा।
भ्रान्ति नाशे ह्यहेर्लोपस्तन्नाशे स्यादकम्पनम्॥७४

भा०––जब स्वप्न देखनेवाला पुरुष निद्रारहित हो अपने स्वरूपको प्राप्त होता है तब स्वप्नका व्यूह भी नष्ट हो जाता है। स्वप्नके नष्ट होतेही स्वाप्निक जीव स्वप्नमें लीन हो जाते हैं। जैसे भ्रान्तिसे रज्जु (रस्सी) में जब सर्पबुद्धि हो जाती है, तभी शरीरमें कम्पन होने लगता है। जब भ्रान्तिका नाश होता है तो भ्रान्ति–मूलक सर्पका भी नाश हो जाता है और भ्रान्तिमूलक सर्पके नाश होतेही सर्पके भयसे उत्पन्न हुए कम्पनका तो स्वतः ही नाश हो जाता है। कहनेका आशय यह है कि, भ्रान्तबुद्धिसे सर्प और सर्पसे कम्पन उत्पन्न होता है, वस्तुतः सर्प और कम्पन मिथ्या हैं, इसी प्रकार द्रष्टा अन्तरके स्वप्नसे जीवादि प्रतीत होते हैं। इसका स्पष्टीकरण पञ्चदशीमें भी किया गया है। यथा–जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः। अर्थात् जाग्रतसे लेकर विमोक्षान्त यावत् जगत कल्पित है, वास्तविक नहीं॥ ७३–७४॥

यथा सुप्तः पुमाँल्लोके दरिद्रो नृपतां गतः ।
यदा जागर्त्ति तत्सर्वं नृपैश्वर्य्यं प्रलीयते ॥ ७५

भा०—उपरोक्त बातको अन्य दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं । जैसे किसी दरिद्र पुरुषने स्वप्नमें देखा कि मैं राजा हो गया और अमुक अमुक सामिग्री मेरे पास पूर्ण है, परन्तु जैसेही वह जाग्रत हुआ कि, अपनेको पूर्ववत् दरिद्रदशामें पाया और उसका स्वाप्निकराज्य स्वप्नमें समागया । उसी प्रकार तीसरी जो स्वप्नसृष्टि है, वह मिथ्या है । क्योंकि अक्षरके स्वप्नसे उत्पन्न हुई है, जाग्रत होतेही स्वप्नवत् अदृश्य हो जायगी ॥

एवं त्रिविधसृष्टीनां विशेषोऽभिहितो मया ।
एतत्सृष्टिविभेदं हि श्रुत्वा मुच्येत विभ्रमात् ॥ ७६

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति परिडत कृष्णमणि-शर्म्मसूरिविरचितस्यानन्दसागरस्य सप्तमस्तरङ्गः ॥७

गू०—उक्तं त्रिविधसृष्टिभेदमुपसंहरति एवमिति स्पष्टा व्याख्या ॥

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायां सप्तमस्तरङ्गः

भा०—इस प्रकारसे ब्रह्म, ईश्वरी और जीवसृष्टिके भेदका वर्णन किया गया है । इन तीनों सृष्टिके भेदको यदि कोई श्रद्धासे श्रवण करेगा तो भ्रम-रूप संसारसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त होगा ॥ ७६ ॥

इतिश्री आनन्दसागरस्थ—सप्तमतरङ्गस्य पं० कृष्णदत्तशास्त्रिकृता भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥७

अष्टमस्तरंगः

अथ धर्म्मस्य विषया स्वामिना ये प्रचालिताः ।
कलौ कृष्णस्वरूपेण प्राणेशेन सतां मुदे ॥ १
उद्देशेन त उच्यन्ते तारतम्यानुकम्पया ।
कृष्णप्रणामीत्यभिधा गीयते धर्मचारिणाम् ॥ २

गू—अथात्राष्टमे तरंगे श्रीमत्स्वामिना प्राणेश्वरेण प्रचालिताः कृष्णप्रणामिधर्मरीतयस्समासतो व्याह्रियन्ते अथेति । अथ सप्तमतरंगाभिधानानन्तरं कृष्ण स्वरूपेण प्राणेश्वरेण स्वामिना ये धर्मस्य कृष्णप्रणामिधर्मस्य विषया नियमाः सतां परमहंसानां ब्रह्मप्रियाणामितियावत् मुदे हर्षाय कलौ प्रचालितास्ते तारतम्यानुकम्पया सद्गुरोर्लब्ध-श्रीमन्त्रराजानुग्रहेणेत्यर्थः । उद्देशतो नाममात्रवस्तुसंकीर्त्तनेनोच्यन्तेऽभिधीयन्ते इति सार्द्धान्वयः । कृष्णप्रणामीति धर्मं चरन्तीत्येवंशीला धर्मचारिणः कृष्णप्रणामिधर्मानुयायिनस्तेषामभिधा नाम 'कृष्णप्रणामी इति गीयते कथ्यते ॥ १ ॥ २ ॥

भा०—अब इस अष्टम तरङ्गमें सद्गुरु श्री निजानन्द स्वामी तथा श्रीप्राणनाथ—प्रभुद्वारा उपदिष्ट पद्धतिके स्वरूपका वर्णन करते हैं। साक्षात् परमात्मस्वरूप सद्गुरुओंने ब्रह्मप्रियाओंके हर्षके लिये कलियुगमें जिन निजधर्मके विषयोंको प्रचलित किया है, तारतम्यकी कृपासे उन्हींका

—:भावार्थ:—

संक्षेपमें वर्णन करता हूं । एतद्धर्म–निजानन्दसंप्रदायके अनुयाइयोंको कृष्णप्रणामी अथवा परनामी कहते हैं । परमात्माको अनन्यभावसे नमनेवाले होनेसे परनामी और कृष्णके अतिरिक्त अन्यकिसीको नमन नहीं करते इसलिये कृष्णप्रणामी कहे जाते हैं । कृष्णप्रणामी शब्दकी व्याख्या सप्तमतरङ्गके ६४ वें श्लोककी टीकामें लिखी जा चुकी है, अतः पुनः नहीं लिखते ॥ १–२ ॥

सेव्यो देवोऽक्षरातीतः सर्वदाऽनन्यचेतसा ।
अनन्यचेतसा त्वस्य सौलभ्यं श्रीमुखेरितम् ॥ ३

गू०—कृष्णप्रणामिनामुपास्यदेवं प्रकाशयति सेव्य इति । क्षरश्चाक्षरश्चाक्षरावित्येकशेषस्तावतीत इत्यक्षरातीतः यद्वा अक्षरं ब्रह्म अतीतोऽतिक्रम्येतः प्राप्तः इत्यक्षरातीतः । इण् गतावस्मादत्युपसर्गपूर्वाद् गत्यर्थकत्वात्कर्त्तरि क्तः ततो द्वितीयान्ताक्षरशब्देन सहातीतशब्दस्य द्वितीयातत्पुरुष–समासो बोध्यः । तथाभूतो देवः सेव्यस्सेवितुं योग्य इत्यर्थः । ननु किमक्षरं ब्रह्मास्ति यदतीतो देवस्सेवनीय इति चेद् बाढम् । निःशेषब्रह्मविद्यागम्यं क्षरात्परं निखिलप्रपंचोदयलय कारणं पूर्णब्रह्मणः सच्चिदानन्दस्य सदंगरूपमक्षरं ब्रह्मेति बोध्यम् । तस्य ब्रह्मविद्यागम्यत्वे प्रमाणान्युपनिषदस्तत्रेयं मुण्डक-

भा०—अब निजानन्द–संप्रदाय किंवा कृष्णप्रणामियोंके उपास्य देवको बताते हैं । उक्त धर्ममें अन्य देवमें परमात्मबुद्धिका पूर्ण परित्याग कर एक अक्षरातीत परमात्माकी उपासना की जाती है अर्थात् अनन्यप्रेमलक्षणाद्वारा एक परमात्माकोही भजते हैं । 'क्योंकि अनन्यचेताः सततम्' (गी०८–१४) इत्यादि गीतामें भी अर्जुनके प्रति कृष्णभगवानका उपदेश

शाखीया श्रुतिः "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति । अत्राक्षरस्य पराविद्यागम्यत्वमुक्तम् । यजुर्वेदीयश्वेताश्वतर शाखीय मन्त्रोऽप्यक्षरज्ञानं विना ऋचामध्ययनमपि न किंचित्करमिति व्याचष्टे। तद्यथा "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" इति । पुनर्बृहदारण्यशाखीयं वाक्यमथाक्षरमजानन्तं कृपण इति नाम्ना निन्दति । यथा 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'। नन्वक्षर नाम्ना वर्णोऽप्यभिधीयते । 'अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वासरोऽक्षरम् । वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यत इति महाभाष्येऽभिहितत्वात् । नैतद्युक्तं ब्रह्मप्रतिपादनपरत्वात्–श्रुतीनां न वर्णप्रतिपादनपरत्वम् । सर्वे वेदा यत्पदमा-

—: भावार्थ :—

है कि अनन्य भक्तको परमात्मा सुलभ हैं । प्रश्न—क्षर और अक्षर क्या वस्तु है ? । उत्तर—क्षर नाम विनाशी असत्का है और निखिल प्रपञ्चका कारण क्षरसे पर जो अविनाशी ब्रह्म है, उसे अक्षर कहते हैं । मुण्डक श्रुतिमें लिखा है कि—

द्वे विद्ये वेदितव्येति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं– निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(मुण्डको० १–४+५)

अर्थः–अपरा और परा दो विद्या जाननें योग्य हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञ लोग

मनन्तीति श्रुतेः । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति गीतोक्तेश्च । तथोक्तं भगवता बादरायणेनाक्षरस्य ब्रह्मत्वं " अक्षरमम्बरान्त धृतेः । सा च प्रशासनादिति सूत्रद्वयेन । भगवताप्येवमुक्तं गीतायाम् । "अक्षरं ब्रह्म परममिति । "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा इति समासः " । नन्वक्षरस्यैव ब्रह्मत्व प्रतिपादनात्कथमक्षरातीतोक्तिर्युक्ता भवितुमर्हतीति चेत्—श्रूयताम् । श्रौतस्मार्त्त प्रमाणानुसारेणैवाऽक्षरात्परत्वोक्तिः संगच्छते । तथेयं श्रुतिरक्षरात्परोऽक्षरातीत इति वदति । तद्यथा " दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः " इति तथाच स्मृतिः " उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः " इति अन्यथाक्षरातीतमन्तरेणाक्षरात्परतः पर इत्यत्र परतोऽक्षरात्पर इति श्रौतार्थ—पर्य्यवसानं कुत्राङ्गीकर्त्तव्यम् । अथ च भगवान् कृष्णोपि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव चेति" श्लोकेन पुरुषद्वयमिति प्रतिज्ञाय

—: भावार्थः —

कहते हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और षडङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं । परा विद्या वह है जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाता है । इत्यादि श्रुति पराविद्यागम्य अक्षरब्रह्मका वर्णन करती है । निम्न लिखित वेदमन्त्र भी अक्षरके महत्त्वका वर्णन करता है । यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

[ऋग्वेद मं० १ सू० १६४ मं० ३९]

अर्थः—जिस महान् अक्षरब्रह्ममें यावद् वेदऋचा तथा देवगण एवं विश्व स्थित है, जो विद्वान उस अक्षरको नहीं जानता वह वेद पढ़कर ही

तदनूत्तमः पुरुषस्त्वन्य इत्यनेनोत्तमः पुरुषस्तु क्षराक्षराभ्यामन्यः स एव परमात्मेति दर्शितवान् । एवं श्वेताश्वतरीया श्रुतिराचष्टे तद्यथा "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" इति, अत्राप्येको देवः क्षरात्मानावीशते क्षराक्षरावीशत इत्यर्थः इत्युक्त्या क्षराक्षराभ्यामन्योऽक्षरातीतः पुरुषः प्रतिभातीति बोध्यम् । नच तस्मादपि परः पुरुषान्तरः स्यादिति वाच्यं "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति रिति श्रुत्या पुरुषान्तरस्य निषिद्धत्वात् । नन्वेकमेवाद्वितीयं' नेह नानास्ति किंचनेत्यादि श्रुतयो ब्रह्मण एकत्वं प-

—: भावार्थ :—

क्या करेगा अर्थात् उसका पढ़ना + व्यर्थ है, और जो उसे पूर्णतया जानते हैं, वे उस अक्षर ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं । बृहदारण्यक श्रुति भी अक्षरब्रह्मके महत्त्वका वर्णन करती है । यथा—"एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः (बृ० उ० ३-८-१०) उस अक्षर ब्रह्मके स्वरूपको बिना समझे हे गार्गि ! जो इस लोकसे चला जाता है, वह कृपण है । दुर्लभ मनुष्ययोनिको पाकर जिसने ब्रह्मके स्वरूपको नहीं जान पाया, वह कृपण—अधम तो है ही । इत्यादि श्रुति अक्षर ब्रह्मके स्वरूपज्ञानका महत्त्व प्रतिपादन करतीं हैं । प्रश्न—अक्षर

टिप्पणी.

+ वस्तुतः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादि श्रौतवचनोंका सारांश यही है कि मनुष्य परमात्माके स्वरूपको समझनेका अधिकारी बने और परात्म-तत्त्वको प्राप्तकर आनन्दराशि ब्रह्मके स्वरूपमें विचरने लगे, इसी बातका संकेत उपरोक्त श्रुतियोंमें किया गया है । जो आजीविकाके लिये अथवा कर्मकाण्डमात्रमें रत होनेके लिये वेदको पढ़ते हैं, उनका पढ़ना निष्फल है । निरुक्त [अ० १-१८] में लिखा है कि—

तिपादयन्ति कथमक्षराक्षरातीतपुरुषद्वयस्य परिभाषा निर्वहतीति चेत् श्रूयताम् । एकशब्दस्याद्वितीयशब्दस्य चोत्तमपुरुषपरत्वम् । किञ्चोत्तमपुरुषस्यैकत्वाद्वितीयत्वलक्षणाङ्गीकारे क्षतिविरहात् । " यथैकोऽद्वितीयो राजेत्यत्र प्रधानाऽमात्यादीनां सत्वेऽपि राजन्येकत्वाऽद्वितीयत्वादिलक्षणाङ्गीकर्तव्ये क्षतिविरहस्स्थादेवमक्षरादीनां सत्वे श्रुत्युक्तैकत्वाद्वितीयत्वादिलक्षणानां पुरुषोत्तमे पर्य्यवसानं ज्ञेयम् । नन्वेकमेवाद्वितीयमित्यत्राप्यद्वितीयपदेन सजातीय–विजातीय–स्वगतभेदराहित्यं ब्रह्मण इति शांकरा वदन्ति कथं भवतां राद्धान्तो बोध्य इति चेद्-

—: भावार्थ :—

शब्दसे तो अक्षरादि वर्णोंका ग्रहण होता है । " अक्षरं न क्षरं विद्या दश्नोतेर्वासरोऽक्षरं वर्णं वाऽऽहुः " इत्यादि महाभाष्यमें पतञ्जलिने अक्षर शब्दसे वर्णोका ग्रहण किया है । इस परसे तो यही सिद्ध होता है कि शब्दज्ञानसे ही मनुष्यका जन्म सफल है । उत्तर—देखो जी ! आपका यह कथन असंगत है । क्योंकि श्रुतियाँ ब्रह्मके प्रतिपादनमें तत्पर हैं, नकि वर्णादिकोंके प्रतिपादनमें । अतः श्रुतिप्रतिपाद्य अक्षर शब्दसे ब्रह्मकाही ग्रहण होगा । यद्यपि महाभाष्यकारने व्याकरणके विषयमें अक्षर नाम वर्णोंका बताया है तथापि " यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " इस वचना-

---

टिप्पणी.

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

अर्थः—जो मनुष्य पाठमात्र पढ़कर वेदके अर्थको नहीं जानता वह सूखे वृक्षके ठूँठके समान है । जो अर्थको जाननेवाला है वह सम्पूर्ण सुखको भोगता है और ज्ञानसे पापोंको नष्टकर सुख धामको

बाढमुक्तं श्रूयतां महावाक्यार्थः। एकमेवेत्यत्रैकशब्दो मुख्यार्थकः। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इति कोशात्। अद्वितीयशब्दस्य तु तत्सदृशपुरुषान्तराभाव इत्यर्थः। तत्रायमर्थः–एकं मुख्यं श्रेष्ठमिति यावत्। नास्ति द्वितीयस्तादृशोऽन्योऽक्षरो यस्य तदद्वितीयं पूर्णब्रह्मेत्यर्थः। एतेन स्वसमान राहित्यमक्षरातीतस्येत्युक्तं भवतीति बोध्यम्। पुनर्द्वितीयस्याक्षरस्य सत्वेऽप्यक्षरातीतसदृश सच्चिदानन्दत्त्वधर्मरहितत्त्वमक्षरस्य विज्ञापितश्च। इत्थमक्षरातीतस्यैकत्वमद्वितीयत्वं च सिद्धमिति 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्या तत्सदृशपुरुषान्तर-

—: भावार्थ :—

नुसार श्रुतियोंमें वर्णित अक्षर शब्दसे ब्रह्मही लिया जायगा। क्योंकि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" सब वेद परमात्माके पदको कथन करते हैं" इत्यादि श्रुति ब्रह्मकोही सर्ववेद्य वर्णन करती है। गीतामें भी "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (अ० १५–१५)" सम्पूर्ण वेदवेद्य एक ब्रह्मकोही प्रतिपादन किया है। "ओंकार एवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य 'ओंकार' से कोई वर्णकी उपासना न समझ बैठे, इसलिये व्यासजी कहते हैं कि—"अक्षरमम्बरान्तधृतेः (ब्रह्मसूत्र १–३–१०) जिसमें आकाश ओत प्रोत है, जो सबको धारण किए है, अक्षर शब्दसे

टिप्पणी.

प्राप्त होता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि "य एतदक्षरं गार्गि! विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः (बृ० उ० ३–८–१०)" जो उस अक्षरब्रह्मको जानकर इस लोकसे जाता है, हे गार्गि! वही ब्राह्मण है। बात भी सत्य है. जो ब्रह्मको जानकर इस लोकको छोड़ेगा वह ब्राह्मण तो है ही। अरे! जिसने इस अस्थिचर्मवाले अधम शरीरसे ब्रह्मको पा लिया उससे अधिक और कौन ब्राह्मण हो सकता है?। मनुष्यको यदि सच्चा ब्राह्मण बनना है, तब तो 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' के अ-

निषेधात् । यद्यप्यक्षराक्षरातीतयोरङ्गाङ्गिभावेनैक्यं संगच्छते तथापि सजातीयभेदः स्वीकृत एव । सजातीय भेदस्वीकारेऽप्यद्वैतश्रुति–विरोधो नोपपद्यते हि "भगवता कपिलेनाप्यद्वैत–प्रतिपादकानां श्रुतीनां जातिपरत्वमुक्तं तद्यथा सांख्यदर्शनीयमिदं सूत्रम् । "नाद्वैत श्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्" एतत्सूत्रस्य विज्ञानभिक्षुणा कृते भाष्ये स्पष्टतमा व्याख्या दृष्टव्या किंचिदत्रापि लिख्यते । जातिः सामान्यमेकरूपत्वं तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्य्यात् । जातिपरत्वाद्विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वादित्यर्थः । एवं नेह नानास्ति किंचनेति श्रुतेरर्थो-

—ः भावार्थः —

उसी ब्रह्मका ग्रहण होगा, अक्षर–समाम्नाय पठित वर्णोंका नहीं। क्योंकि सा च प्रशासनात् (ब्रह्म सू० १–३–११) वह अम्बरान्त धारण करना ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य जड़प्रकृति अथवा वर्णादिका कर्म नहीं हो सकता क्योंकि "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृ० ३–८–९)" इत्यादि श्रुति ब्रह्मके शासनमें सूर्यादिका स्थित होना वर्णन करती हैं । शासन करना जड़प्रकृति अथवा आकारादि वर्णोंसे नहीं बन सकता । इसलिये अक्षर शब्दसे ब्रह्मकाही ग्रहण होगा, ऐसा लिखा है । अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते (गी० ८–३)

टिप्पणी.

र्थका अक्षरशः पालन करना पड़ेगा । कदाच कोई लौकिक दृष्टिसे जन्मके कारण ब्राह्मण भले कहे, मगर श्रुति उसे ब्राह्मण नहीं कहती । यथा– "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः (बृ० ३–८–१०)" जो उस अक्षर ब्रह्मको बिना जाने इस लोकसे चला जाता है वह तो कृपण–अधम है । अतः मानना पड़ेगा कि मनुष्यकी आत्मोन्नतिका मुख्य साधन ब्रह्मज्ञान है ।

ज्ञेयः। यथा इह ब्रह्मधाम्नि नानाविजातीयं वस्तु किंचिन्नास्ति अपि तु सच्चिदानन्दजातीयवस्तूनामेव तत्र सत्वमिति ध्येयम्। ननु तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्माहं ब्रह्मास्मीत्यादि महावाक्यानामर्थ संगतिः कथं बोध्येति चेत्समीचीनम्। तत्वमसीत्यत्र तत् पदं ब्रह्मवाचकं, त्वं पदमात्मवाचकं, असीतिपदमुभयोरैक्यबोधकम्। अत्रोद्दालको नाम कश्चिदृषिर्बोधयिता तत्पुत्रः श्वेतकेतु नामोपदेशग्राही तत्सम्बधीयाऽऽ-

—:भावार्थ:—

इत्यादि गीतामें भी अक्षर ब्रह्मका प्रतिपादन किया है अतएव अक्षर शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण होगा, वर्णका नहीं; ऐसा मानना चाहिये। प्रश्न— अक्षर शब्दसे ब्रह्मको लिया गया है, यह तो ठीक, परन्तु अक्षरसे पर पुनः अक्षरातीत ब्रह्म और है, यह कैसे मान्य होगा?। उत्तर—देखो जी! श्रुति स्मृतियोंके कथनानुसार अक्षरसे भी पर अक्षरातीत ब्रह्मको मानना योग्य है। अक्षरसे पर अक्षरातीतका होना निम्न लिखित मुण्डक (१-२-३) श्रुति वर्णन करती है। यथा—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

इस श्रुतिमें "परतः अक्षरात् परः" पर अक्षरसे भी पर दिव्यस्वरूप अक्षरातीत ब्रह्मका होना बताया गया है। अक्षर शब्दसे प्रकृति आदिका ग्रहण नहीं होता, किन्तु ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, यह भी ऊपर बताया जा चुका है अतएव अक्षर ब्रह्मसे पर पूर्ण परमात्माका होना श्रुति प्रतिपाद्य पाया जाता है।

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"

ख्यायिकापदेशेन ब्रह्मविद्या प्रत्येकं जीवं बोधयति । तदित्थं भो ! जीव ! त्वं न देहो नेन्द्रियाणि न मनो न बुद्धिर्न विज्ञानं न जाग्रन्न स्वप्नो न सुषुप्तिः किन्तु यत्सच्चिदानन्दघनं ब्रह्म तत् , कोऽर्थः तज्जातीयं त्वमसीत्यर्थः । सर्वेषामात्मनामेकजातित्वात्त्वमित्यत्रैकवचनम् । अथवा त्वमित्येकत्वं विजातीयद्वैतं निराकृत्य जात्येकत्वे ज्ञापकं भवतीति विवेचनीयम् । अन्यथा शङ्कराचार्य्यानुयायिवदेकत्वस्वीकारे भेदप्र-

—: भावार्थ :—

इत्यादि गीता १५-१६ में भी क्षरसे सब भूतोंका प्रतिपादन कर अक्षर शब्दसे कूटस्थ–अविनाशी–ब्रह्मको बताया है और तदनन्तर दोनोंसे पर उत्तम पुरुष परमात्माके होनेका उल्लेख किया है । श्वेताश्वतर श्रुति भी क्षर अक्षरसे पर एक अन्य पुरुषकी सत्ताका वर्णन करती है । यथा—

" क्षरं प्रधान–ममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः "

(श्वेता० १–१०)

अर्थः—क्षर प्रकृति है और सृष्टिको उत्पन्न कर लय करनेवाला अविनाशी अक्षर है । क्षर अक्षर दोनोंसे पर अद्वितीय अक्षरातीत देव-परमात्मा है; जो दोनोंको अपनी सत्तासे प्रेरणा करता है " इत्यादि अनेक प्रमाण इस बातको पुष्ट करते हैं कि, अक्षरब्रह्मसे भी पर एक महान पर-मात्मा है, जो सर्वोपरि है । प्रश्न––जैसे क्षरसे पर अक्षरका प्रतिपादन करते हो, उसी प्रकार अक्षरातीतसे पर भी कोई है कि नहीं ? उत्तर—नहीं, कारण, उत्तम पुरुष परमात्मासे पर अन्य पुरुषके होनेका प्रमाण नहीं पाया जाता और प्रमाणशून्य पक्ष माना नहीं जाता । इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषसे पर अन्य पुरुषके होनेका श्रुतियोंमें निषेध भी पाया जाता है। जैसाकि कठोपनिषद (१–३–११) में लिखा है कि—

तिपादकानां वहुत्वप्रतिपादकानां च श्रुतिवाक्यानां विरोधो जागर्त्तीति। तद्यथा " सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीत्या-दयः श्रुतयः पुनः 'नेतरोऽनुपपत्तेः' भेदव्यपदेशाच्च, अधिकं तु भेदनिर्दे-शात्, अंशो नानाव्यपदेशादादीनि ब्रह्मसूत्राणि च भेदं प्रतिपादयन्ति।

—: भावार्थ :—

" महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥

अर्थः—महत्तत्त्वसे पर अव्यक्त + पुरुष और अव्यक्तसे पर उत्तम पुरुष है। पुनः उस पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही सबका आश्रय है, और वही सबकी परमगतिका धाम है। यह श्रुति उत्तम पुरुषसे पर अन्य पुरुषके होनेका निषेध करती है अतः अक्षरातीतसे पर अन्य पुरुषकी सम्भावना करना शास्त्रविरुद्ध है। प्रश्न—"एकमेवाद्वितीयं (छा० ६-२-१) नेह नानास्ति किञ्चन (कठो० २-४-११)" इत्यादि श्रुति ब्रह्मको एक अद्वितीय वर्णन करते हुए नानावस्तुके होनेका निषेध कर रहीं हैं और आप अ-क्षर अक्षरातीत नामक दो ब्रह्म स्थापित करते हो; तबतो द्वैतापत्ति होगी। उत्तर—देखो जी! व्यापकबुद्धि और पारिभाषिक ज्ञान न होनेके कारण द्वैत प्रतीत होता है। क्योंकि उपरोक्त श्रुतिमें अद्वितीय पद तथा एक पद अक्षराती-

---

टिप्पणी.

+ " अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् " इस गीता वच-नानुसार ऊपरकी श्रुतिमें अव्यक्त शब्द अक्षर ब्रह्मके लिये आया है, ऐसा समझना चाहिये। अक्षरको परमगति कहनेका आशय यह है कि जीवसृष्टिकी उत्तमगति अक्षरब्रह्म पर्यन्त ही है, उससे आगे नहीं; अतः अक्षरको भी परमगति वर्णन किया है।

बहुत्वप्रतिपादकास्त्विमाः। 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्' यत्संप्रयन्त्यभिविशन्तीत्याद्याः श्रुतय आत्मनो बहुत्वं वदन्ति । यद्यपि शाङ्करा अप्युपाधिभेदाज्जीवानां भेदोक्ति बहुत्वोक्ति च स्वीकुर्वन्ति । तथाच–यथैकस्सूर्यो नानाघटनिहितजलोपाधिसंसर्गान्नानारूपः प्रतीयते एवं 'एकमेवात्मा देहसंसर्गान्नानारूपः प्रतीयते' इति वदन्ति तदसत् , नित्योनित्यानामितीयं श्रुतिः सर्वोपाधिवर्ज्जिते मुक्तिस्थलेऽप्यात्मनां नित्यत्वं बहुत्वं च वक्तीति

—ः भावार्थः—

तके लिये प्रयुक्त हुए हैं । अर्थात् परपुरुष–अक्षरातीत परमात्मा ही एक और अद्वितीय है । इस प्रकार जब अक्षरातीतको एक अद्वितीय मानलिया जाय तो, अक्षरके होनेसे द्वैतत्व दोष नहीं आता । जैसे–किसीने कहा कि " एकोऽद्वितीयो राजा" अमुक राजा एक अद्वितीय है । तो क्या अमात्य अनुचर–सेवक आदिका भी निषेध मानलेना चाहिये ? नहीं, कदापि नहीं । क्योंकि एक और अद्वितीयशब्द राजा परक हैं। इसीप्रकार परब्रह्म परक एक और अद्वितीय शब्दसे अक्षरब्रह्म अथवा परमात्माकी अन्य शक्तियोंका निषेध नहीं हो सकता । " नेहनानास्ति किञ्चन " इस श्रुतिमें ' नाना ' शब्दसे नानाजातीय पदार्थोंका निषेध है, सच्चिदानन्द धर्मावच्छिन्न पदार्थोंका नहीं । प्रश्न—' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ' इत्यादि श्रुतिपठित अद्वितीय पदसे शङ्कराचार्य मतानुयायियोंने ब्रह्मको सजातीय, विजातीय, और स्वगतभेद रहित माना है तो आप भी वैसा मानते हो या नहीं ? उत्तर—जी ! नहीं, श्रौत स्मार्त वचनोंके विरुद्ध होनेसे हम वैसा नहीं मानते । ' एकमेवाद्वितीयम् ' का वाक्यार्थ यह है कि उसके सदृश दूसरा कोई नहीं है । श्रुति भी इस बातका वर्णन करती है कि " न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते (श्वेता०

अन्यथा-प्रतिबिम्बवादे नित्यत्त्व कथनं न संगच्छते घटादिनाशे सूर्यप्रतिबिम्बानां नित्यत्व कथनासम्भवात् पुनः ' यत्संप्रयन्त्यभिविशन्तीति श्रुतिः प्रयाणकाले संप्रयन्ति देहं त्यजन्त्येव मुक्ताः शरीरत्यागानन्तरं यत्-यस्मिन् अभिविशन्तीति वदति। अतोऽत्र-देहोपाधिवर्जितात्मकर्तृषु अभिविशन्तीति बहुत्वोक्तिर्दृश्यते । अथ च प्रतिबिम्बवादे महतीयं शंका। भवन्तो निराकारं ब्रह्म मन्यन्ते " निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः। निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तो हि निर्मल "इति आत्मबोधवचनात्। तत्र निराकारस्य कथं प्रति-

—: भावार्थ :—

६-८)" अर्थात् उस परमात्माके न तो कोई सदृश है और न अधिक देखनेमें आता है। जो कुछ वस्तु है सब उसकी सत्ताके आधीन है। इससे विदित होता कि अद्वितीय शब्द परब्रह्म परक है, अक्षर परक नहीं। इस प्रकार अर्थसंगति करनेसे परब्रह्ममें द्वैतत्त्वापत्ति नहीं होती। यद्यपि अङ्गी अङ्गभावसे अक्षर अक्षरातीत एकही हैं तथापि सजातीयभेद तो माना ही गया है। कदाच सजातीयभेदको लेकर द्वैतत्त्व दोषका प्रतिपादन करें तो शास्त्र निषेध करता है कि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंमें सजातीयभेदसे द्वैत नहीं माना गया। सांख्य दर्शनमें लिखा है कि " नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् (सांख्य १-१५४) भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं कि—अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंका परस्पर विरोध नहीं मानना चाहिये क्योंकि वे सब जातिपरक हैं । विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रपर भाष्य करते हुए जातिशब्दका अर्थ लिखा है कि "जातिः सामान्यमेकरूपत्वं तत्रैवाद्वैत श्रुतीनां तात्पर्यात् । जातिपरत्वाद्विजातीयद्वैत निषेधादित्यर्थः" अर्थः—जाति वह है जो समान धर्मयुक्त और एकरूप हो, अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंका तात्पर्य भी तत्रैव-उसी जाति परक है अ-

विम्बस्संभवति विम्बाभावे प्रतिबिम्बाऽभावात् । रूपरहितस्य वाय्वा-देर्हि प्रतिबिम्बाभावो दृश्यते प्रत्यक्षतः । अथ चैके नीरूपस्याकाशस्य प्रतिविम्बो जलादौ गांभीर्य्यरूपेणोपलक्ष्यत इत्युत्तरयन्ति तन्न युक्तं किंच जलराशेर्गाम्भीर्य्यं नैसर्गिकमेव, नत्वाकाशप्रति-विम्बजन्यम् । काचपटले चादर्शादावाकाशस्य प्रतिविम्बाभावात् । अपि च निराकारस्य प्रतिविम्बस्वीकारे जगतोऽपि निराकारत्वं-स्यात् विम्ब इव प्रतिविम्बो भवतीति निश्चयात् । यद्यपि प्रतिबिम्ब-भूतस्य जगतोऽनुमानेन ब्रह्मणोऽपि बिम्बरूपस्य साकारत्वं सेत्स्य-

—: भावार्थ :—

र्थात् ब्रह्ममें विजातीय धर्मयुक्त—असत् जड़ दुःखरूप मायिक पदार्थोंका निषेध है; ऐसा अर्थ समझना चाहिये । इत्यादि प्रमाणोंसे निश्चित हो-ता है कि अक्षरब्रह्म तथा श्यामादि विविध शक्तियाँ सब एक जाति और अक्षरातीतके अङ्ग स्वरूप हैं । अक्षरातीतके साथ अङ्गाङ्गी भाववाले एक जातीय पदार्थोंसे द्वैतत्व दोष नहीं आ सकता । क्योंकि अनन्त स्वरूप-शक्तियोंसे परिपूर्ण होनेसेही तो अक्षरातीत परमात्मा अद्वितीय है । 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे नानाजातिवाले पदार्थोंका निषेध किया है अर्थात् ब्रह्मधामके सब पदार्थ एकजाति—धर्मावच्छिन्न हैं, नाना—विजातीय-धर्मवाले नहीं । प्रश्न—आप अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंको जातिपरक मानते हो तो " तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म; अहं ब्रह्मास्मि " इत्यादि महावाक्योंकी अर्थसंगति कैसे होगी ? क्योंकि ये सब जीव और ब्रह्मकी एकता प्रतिपादन करते हैं । उत्तर—देखोजी ! इन वाक्योंमें भी सजाति-सेही एकता है, स्वरूपसे नहीं । क्योंकि 'तत्' पद ब्रह्मवाचक, 'त्वं' पद जीववाचक और 'असि' पद दोनोंकी एकताका बोधक है । कथा इस प्रकार है कि—उद्दालक नाम ऋषि उपदेष्टा और उनका पुत्र श्वेतकेतु

ति जलादौ तत्प्रतिविम्बानुमानेन सूर्य्यस्वरूपानुमानवत् । तदा भवतां निराकारवादस्तिरो भविष्यत्येव । अतः प्रतिविम्बवादो न युक्त इति मन्तव्यम् । अथ च भवतां पक्षे प्रतिबिम्बाधिष्ठानं किं ? माया अविद्या चेति । तत्र शुद्धसत्त्वप्रधाना माया । मलिनसत्त्व-प्रधाना चाऽविद्या तत्र मायायां यः प्रतिबिंबः स ईश्वरः । अविद्यायां यः प्रतिबिंबः स जीवः । तथोक्तं पञ्चदश्यां "सत्त्व शुद्धयविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मते । मायाबिंबोवशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा " सत्यमुक्तं । जीवप्रतिबिंबा-

—: भावार्थ :—

उपदेश ग्रहण करनेवाला है । तत्सम्बन्धी आख्यायिकाके मिस (बहाना) से ब्रह्मविद्या प्रत्येक जीवको बोध देती है कि—हे जीव ! तू न तो देह है और न इन्द्रिय है; न मन है और न बुद्धि है; न विज्ञान है और न जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति है; किन्तु जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, तू वही जाति है । इस प्रकार वाक्यका अर्थ है । त्वं पदमें जो एक वचन देखनेमें आता है वह ब्रह्मसम्बन्धी जनोंकी एकजाति सूचित करनेके लिये है अथवा ब्रह्मविद्या सब जीवोंको भिन्न २ बोध करती है अतएव त्वं पदमें एक वचन प्रयुक्त हुआ है, ऐसा समझना चाहिये । जो शङ्कराचार्यमत-वादी ब्रह्मको सजाति, विजाति और स्वगतभेद रहित मानते हैं; वह श्रुतियोंके विरुद्ध होनेसे असंगत है । क्योंकि श्रुतियाँ मुक्त होनेके पश्चात् भी जीव वा ब्रह्मके भेदको प्रतिपादन करती हैं । यथा—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तैत्ति० व० २-१) वह ब्रह्मज्ञ पुरुष मुक्तिस्थलमें ब्रह्मके सहित सब कामनाओंको भोगता है । " आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन (तैत्ति० व० २-९) "

धिष्ठानभूता मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्योक्ता चेद्भवद्भिस्तत्रेयं शङ्का । मलिनायामविद्यायां कथं प्रतिबिंबो भवितुमर्हति । मलिनपृष्ठायां भूम्यादौ प्रतिबिंबः कदापि न दृश्यते, प्रत्युत तैल घृतादिभिर्मलिनीकृत आदर्शादावपि रूपं न प्रतिबिंबितं भवति हि, अथ च माया ब्रह्मणो भिन्ना अभिन्ना वा, भिन्ना चेत् विजातीयभेदस्तु स्वीक्रियताम् न विजातीयभेदशून्यत्वं ब्रह्मण इति अज्ञानमेव माया न किंचिद्वस्तु येन विजातीयभेदशङ्कावकाशं स्यादिति चेन्न ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मवस्तु । तद्भिन्नमवस्त्वेव । भवति हि वस्त्ववस्तुनो

—: भावार्थ :—

ब्रह्मके आनन्दको जानते हुए पुरुष किसीसे भय नहीं मानता । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तैत्ति० व० २–७) रसस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त कर आनन्दमें मग्न हो जाता है " इत्यादि श्रुति जीव तथा ब्रह्मका स्पष्ट भेद वर्णन करतीं हैं । उत्तरमीमांसामें लिखा है कि—" नेतरोऽनुपपत्तेः (ब्रह्म सू० १–१–१६) कदाच कोई व्यक्ति आनन्दमय शब्दसे जीवको न मान बैठे, इसलिये व्यासजी कहते हैं कि ब्रह्मके बिना जीवको आनन्द प्राप्त नहीं होता । " भेदव्यपदेशाच्च (१–१–१७) " जीव तथा ब्रह्ममें भेद माना गया है अतः जीव ब्रह्म नहीं हो सकता । " अधिकं तु भेद निर्देशात् (ब्रह्मसूत्र २–१–२२) श्रुतियोंमें जीवसे ब्रह्मको अधिक बताया है और उपास्य उपासक भेद देखनेमें आता है अतः जीव ब्रह्मका अभेद स्वरूपसे नहीं किन्तु जातिसेही मानना चाहिये । उपरोक्त सूत्र तथा पूर्वोक्त श्रुतियोंके देखनेसे स्पष्ट विदित होता कि जीव और ब्रह्म एक नहीं किन्तु भिन्न हैं और उनका स्वरूप भी भिन्न है । नीचे लिखी श्रुति परसे भी जीवोंका ब्रह्मसे सदाकाल भेद रहना और बहुत होना सिद्ध होता है ।

विजातीयभेदः प्रकाशान्धकारयोरिव। अथाज्ञानात्मिका माया ब्रह्मणोऽभिन्ना ब्रह्मोपादानत्वादज्ञानस्येति चेदस्तु तावत्। अज्ञानस्य ब्रह्मणश्च सजातीयत्वं वक्तव्यम्। एवं वक्तव्ये महद्दूषणं ब्रह्मणोऽज्ञत्वं ज्ञातं भवति। पुनरज्ञानस्य ब्रह्मजन्यत्वस्वीकारे स्वगतज्ञानाज्ञानभेदोऽपि जागर्ति। येन ब्रह्मणः स्वगतभेदशून्यत्वरूप—भवदीयसिद्धान्तस्य हानिर्जायते। अथ च ब्रह्म भिन्नोपादानं आहोस्विदभिन्नोपादानं किंवा निमित्तम्। आद्यपक्षस्वीकारे कुलालघटयोरिव भेद एव। द्वितीयपक्षस्वीकारे मृद्घटवत् तन्तुपटवद्वा स्वगतभेदो जायते।

—: भावार्थः —

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां—
विदधाति कामान्" (श्वेता० अ० ६-मं० १३)

अर्थः—नित्य निजजनोंके मध्य नित्य, और चेतनोंके मध्य चेतन वह परमात्मा उन सबकी कामनाओंको पूर्ण करता है" इत्यादि श्रुति वचनोंके अवतरणसे निश्चय होता है कि—परमात्मा तथा उसके शाश्वत जीव मुक्तदशामें भी पृथक २ रहते हैं। हां, स्वाप्निकी जीवसृष्टिका लय हो जाता है परन्तु शाश्वत जीवोंका नहीं। अतएव अद्वैत किंवा अभेद प्रतिपादक श्रुतियोंको जातिपरक ही समझना चाहिये। यद्यपि शङ्कराचार्यमतावलम्बियोंने जीवोंके बहुत्व प्रतिपादन करनेवाली तथा जीवोंको ब्रह्मसे भिन्न वर्णन करनेवाली श्रुतियोंका उपाधिपरक अर्थ किया है अर्थात् उपाधि दशामें बहुत्व और भेद प्रतिपादन किया है और सूर्य तथा घटका दृष्टान्त दिया है। इनका कहना है कि जैसे एकही सूर्य पानीके घड़ाओंमें जल उपाधिसे अनन्त प्रतीत होता है। उसी प्रकार एक ही आत्मा देहादि उपाधियोंसे अनेक रूपमें भासता है परन्तु यह कहना यथार्थ नहीं, किन्तु

अथवा स्वजन्यतन्तोरूर्णनाभिरिव, स्वजन्य—नखकेशादीनां पुरुष इव च जगतो ब्रह्म कारणमित्युक्त स्यात्तत्रापि स्वगतभेदावकाशस्स्यादेव। तृतीयपक्षे स्वीकृते निर्विवाद एव भेदो भवति। एवमादि-भवदीयपक्षवादमीमांसायां सामंजस्येन सिद्धान्तस्य प्रतिपत्तिर्नानुभूयते इति समासः। एवमहं ब्रह्मास्मीत्यत्रापि सद्गुरुणा प्रबोधित आत्मा देहाद्यहंबुद्धिं त्यक्त्वा, अहो! मायाक्रीडेऽत्राद्यावधिवर्णाश्रमाद्यभिमानेन नानायोनिषु वृथैवाऽभ्रमम्, इति मीमांसमानोऽहं सच्चिदानन्दजातीय एवास्मि नान्य इति जानाति। एवमयमात्मा

—: भावार्थ :—

स्वपक्षसाधक मात्र है। क्योंकि—“ नित्यो नित्यानां, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ” इत्यादि श्रुति और “ संकल्पादेव तु तत्–श्रुतेः (४–४–८)” इत्यादि ब्रह्मसूत्र मुक्त होनेके अनन्तर भी जीवोंका बहुत्व तथा भेद प्रतिपादन करते हैं अतः मानना चाहिये कि, मुक्तिधाममें भी जीवात्मा परमात्मासे पृथक् रहता है और दोनों चेतन तथा नित्य हैं। “याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजु० ४०–८) इत्यादि वेदमन्त्रमें भी ब्रह्मकी शाश्वती प्रजाका उल्लेख किया गया है। जिससे शाश्वत जीवोंका बहुत होना और भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध है। यत्संप्रयन्त्यभिविशन्ति (तैत्ति० भृगुव० १) यह श्रुति देहत्यागके पश्चात् भी जीवोंका बहुत होना वर्णन करती है। अतएव ब्रह्मसे पृथक् रहकर आनन्दको भोगनेवाले ब्रह्मसम्बन्धी जनोंको अनेक मानना और एकजाति होनेसे अद्वैत मानना शास्त्र सम्मत है, और आपके प्रतिबिम्बवादमें यह बात नहीं घट सकती। क्योंकि आप ब्रह्मको निराकार मानतें हैं और निराकारका प्रतिबिम्ब नहीं होता। जिसका रूपही नहीं उसकी छाया किंवा प्रतिबिम्ब

ब्रह्मेत्यादि वाक्येष्वप्यूह्यम् । अनन्यचेतसेति । नान्यस्मिन् प्रतीकादौ चेतस्तेन करणेनेत्यर्थः । ननु प्रतीकाद्युपासना कुतो न क्रियते तस्या अपि श्रुतिप्रतिपाद्यत्वादिति । श्रुतयो यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आकाशो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म, स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते इति सत्यं शृणु 'न प्रतीकेन हि सः' इति बादरायणसूत्रे हि यतः सः परमात्मा प्रतीके नातो नोपास्यः प्रतीक इति, ब्रह्मज्ञानां प्रतीकोपास्तिनिषेधात् । पुनरात्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति ब्रह्मसूत्रेणात्मैवोपास्य इत्यभिहितत्वात् "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

—: भावार्थ :—

कैसा? रूपरहित वायु और आकाशका प्रतिबिम्ब देखनेमें नही आता । इसी प्रकार निराकार ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होना असम्भव है। कुछ निराकारवादी हठसे जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब होना मानते हैं, यह दुराग्रह मात्र है सत्य मन्तव्य नहीं । क्योंकि जलमें जो आकाश देखनेमें आता है वह प्रतिबिम्ब नहीं किन्तु जलका गाम्भीर्य है । यदि आकाशका बिम्ब होता तो काच या दर्पणमें भी प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दृष्ट होता परन्तु देखा नहीं जाता अतः आकाशका प्रतिबिम्ब मानना अयुक्त है । थोड़ीदेरके लिये मान लें कि निराकारका ही प्रतिबिम्ब जगत है तो, जगतको निराकार होना चाहिये। क्योंकि बिम्बके अनुरूप प्रतिबिम्ब होता है । प्रत्युत आपके कथनसे भी ब्रह्म निराकार सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रतिबिम्बरूप जगतको साकार देखनेसे बिम्बरूप ब्रह्मका साकार होना अनुमानसे सिद्ध है । जैसे जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब देखनेसे आकाशमें सूर्यके स्वरूपका होना सिद्ध है । उसी प्रकार जगतरूप प्रतिबिम्बसे बिम्बरूप ब्रह्मका उलटा साकार होनाही पाया जाता है अतः निराकारमें प्रतिबिम्बवाद मानना असंगत है । दूसरीबात-आप प्रतिबिम्बका अधिष्ठान माया और अविद्याको मानते हो । शुद्धसत्त्व-

निदिध्यासितव्य इति श्रुत्याप्येवं कथितत्वाच्च । भागवतेऽप्येवमुक्तम् । 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कंधभुजोपशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या' इति 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत ब्रह्मविदाप्नोति परं किमहं तेन कुर्य्यां येनाहं नामृतस्स्यां सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादयः श्रुतयो ब्रह्मोपासनाया एव कर्त्तव्यतां स्वीकुर्वन्ति । ननु सर्वासां नदीनां सागरे समन्वयवत्सर्वविष्णवादिदेवानामुपास्तयः परमात्मानमुपसर्पेयुस्ताभिः प्रसन्नः सः स्वभक्तलभ्यां मुक्तिं ददात्विति चेन्नैवं " ये यं देवमुपासते

—:भावार्थ:—

प्रधानाको माया और मलिनसत्त्व प्रधानाको अविद्या कहते हो । जैसा कि पञ्चदशीके तत्त्वविवेक प्रकरणमें लिखा है कि—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥
अविद्या वशगस्त्वन्य--स्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।

अर्थात् सत्त्वकी शुद्धता और मलिनताके कारण माया और अविद्या दो नाम पड़ते हैं । इन्हींमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है । मायामें प्रतिबिम्बित होनेसे सर्वज्ञ ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिम्बित होनेसे अल्पज्ञ जीव कहा जाता है । अब यहांपर विचार करनेकी आवश्यकता है कि—मलिन सत्त्वप्रधाना अविद्यामें ब्रह्म किस प्रकार प्रतिबिम्बित होगा ? क्योंकि मलिन वस्तुमें प्रतिबिम्ब नहीं हुआ करता । पृथिवीमें अथवा घृत तैलादिसे मलिन दर्पणादिमें प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता । और फिर मायाको ब्रह्मसे भिन्न मानोगे किंवा अभिन्न ? यदि कहो कि भिन्न, तब तो विजातीय भेद मान बैठे ! कदाच कहो कि माया कोई

ते तमेव प्रेत्य यान्ति हि श्रुतयोऽत्र प्रमाणानि । तथा च "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । स यथा यथोपास्ते

—: भावार्थ :—

वस्तु नहीं किन्तु अज्ञान मात्र भ्रमरूप है अतः विजातीय भेद नहीं हो सकता तो यह भी कहना संगत नहीं। क्योंकि ज्ञानस्वरूप वस्तु ब्रह्म है और अज्ञानरूप ब्रह्मसे भिन्न अवस्तु माया है। इसलिये वस्तु अवस्तु; ज्ञान अज्ञानका विजातीयभेद—प्रकाश और अन्धकारके तुल्य—माननाही पड़ेगा और जो मायाको ब्रह्मसे अभिन्न मानोगे तो ब्रह्मको और अज्ञानको सजातीय मानना पड़ेगा। तब तो महान अनर्थ हो जायगा। क्योंकि अज्ञानको ब्रह्मजन्य माननेसे तो ब्रह्ममें भी ज्ञानाज्ञानका प्रसंग उपस्थित होगा और स्वगतभेदशून्य ब्रह्म न रह सकेगा। तीसरी बात—ब्रह्मको जगतका भिन्नोपादान किंवा अभिन्नोपादान अथवा निमित्त कारण मानोगे। भिन्नोपादान माना जाय तब तो कुम्हार और घड़ाके समान भेद मानना पड़ेगा और यदि अभिन्नोपादान माना जाय तो मिट्टी और घड़ा; तन्तु और वस्त्रके समान स्वगतभेद स्वतः सिद्ध होगया। अथवा जैसे पुरुष नख वा केशका कारण है और मकड़ी जालतन्तुओंका कारण है, उसीप्रकार ब्रह्म जगतका कारण है, ऐसा कहो तो भी स्वगतभेद सिद्ध हो गया। तीसरे पक्ष अर्थात् ब्रह्मको निमित्तकारण माननेमें तो निर्विवाद भेद सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशामें आपके कथनानुसार प्रतिबिम्बवाद और ब्रह्मको सजाति, विजाति एवं स्वगतभेद रहित माननेसे पूर्णतया सिद्धान्तकी संगति नहीं हो पाती अतः अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियोंका जातिपरक अर्थ करना ही शास्त्रसम्मत है। "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्योंका तात्पर्य भी आत्मा परमात्माकी एकजाति बोधक है। जैसाकि, पीछे दिखाया जा चुका है। निजानन्द संप्रदायमें एक अक्षरातीत परमात्माको छोड़कर अन्यको अपना

तथैव भवतीति । तथैवोक्तं "भगवता यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि

—:भावार्थ :—

इष्टदेव माननेका विधान नहीं है अतः अनन्य-उपासना मानी गई है। प्रश्न—जब निजानन्द संप्रदाय अपनेको शास्त्रसम्मत कहता है तो उसके अनुयायी सूर्यादि देवोंकी प्रतीकोपासना क्यों नहीं करते ? क्योंकि श्रुतियोंमें प्रतीकोपासना करनेका विधान किया गया है । यथा—"मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथधिदैवतम्—आकाशो ब्रह्म" (छां० ३-१८-१) "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छां० ३-१९-१) स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" (छां० ७-१-५) इत्यादि शतशः श्रुति आदित्य आदि प्रतीकमें ब्रह्मरूपसे उपासना करनेको आज्ञा देती हैं। उत्तर—देखो जी ! ये श्रुति सिद्धान्तपक्षकी नहीं हैं किन्तु अधिकारभेदसे पूर्वपक्षका विधान करती हैं। सिद्धान्तमें तो प्रतीकोपासनाका निषेध ही किया गया है। "न प्रतीके न हि सः" (ब्रह्मसूत्र ४-१-४) इस सूत्रमें व्यासजीने ब्रह्मज्ञोंके लिये लिखा है कि "वह परमात्मा मन आदि प्रतीकमें नहीं है, अतः उसकी उपासना करना योग्य नहीं" इसप्रकार ब्रह्मज्ञ जनोंके लिये सूर्य आदि प्रतीकोपासनाका निषेध कर एक परमात्माकी उपासनाका विधान किया है। यथा-"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (ब्रह्मसूत्र ४-१-३) अर्थः—आत्मा अर्थात् परमात्मा ही एक उपास्य देव है, ऐसा ब्रह्मज्ञ पुरुष मानते हैं और उसीकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं । बृहदारण्यक श्रुतिमें भी परमात्माकी उपासनाको ही मुख्य बताया है। यथा—"आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो+ मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृ० २-४.५)

टिप्पणी

\+ श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्य श्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

मामिति। इतोऽन्यथाङ्गीकारे श्रुत्युक्त चान्द्रमसादि लोकप्रतिपत्त्य भावः स्यादिति दिक्। तस्य भगवतोऽक्षरातीतस्यानन्यचेतसैव सौलभ्यं

—ः भावार्थः —

याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी स्त्री मैत्रेयीके प्रति उपदेश देते हैं कि—हे मैत्रेयि! परमात्मा ही सम्पूर्णतया देखनें योग्य और श्रवण करने योग्य है, और वही मनन करने योग्य और निश्चय करने योग्य है। भागवतमें भी एक परमात्माकी ही उपासनाका विधान किया है । यथा—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

अर्थः—जैसे वृक्षके मूलको सींचनेसे उसकी डार, शाखा, उपशाखा आदि सब तृप्त होतीं हैं अर्थात् हरीभरी बनी रहती हैं और जैसे प्राणोंको भोजन देनेसे सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं । उसीप्रकार अच्युत परमात्माकी पूजासे सबका पूजन हो जाता हैं, अतएव परमात्माकी उपासना करना ही मुख्य है । निम्नलिखित अन्य श्रुतियां भी एक ब्रह्मोपासनापर ही विशेष जोर देती हैं। यथा—

मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत । ब्रह्मविदाप्नोति परम् [तैत्ति व० २-१]
"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् [बृह० ४-५-४]"
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत [छां० ३-१४-१]"

इत्यादि श्रुति ब्रह्मोपासनाका ही बिधान करती हैं इसलिये प्रतीको-

---

टिप्पणी.

इत्यादि स्मृति परमात्माके साक्षात्कारका मुख्यहेतु श्रवण, मनन निदिध्यासन आदिकोही निश्चित करती है, प्रतीकको नहीं; यह बात विशेष ध्यानमें रखने योग्य है ।

श्रीमुखेन श्रीप्राणनाथ मुखोद्गतवाण्येत्यर्थः वा श्रीमुखेन कृष्णेनेरितमुक्तम् । तद्यथा "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिन इति ।। ३ ।।

—: भावार्थ :—

पासनाका प्रतिपादन करना उचित नहीं । प्रश्न—जैसे सब नद, नदी सागरमें मिल जाते हैं और आकाशसे गिरा हुआ जल किसीन-किसी प्रकार सागरको ही प्राप्त होता है । उसीप्रकार विष्णु, शिव, गणेश, सूर्यादि देवोंकी उपासना भी परमात्माकोही प्राप्त होती है, ऐसा मानें तो क्या हानि है ? । उत्तर—देखो जी ! यह आपका कथन शास्त्रविरुद्ध होनेसे असंगत है । शास्त्रमें लिखा है कि जो जिस देवकी उपासना करता है, उसीको प्राप्त होता है ।

"यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति [छां० ३-१४-१]

अर्थः—इस लोकमें मनुष्य यथा क्रतु—अर्थात् जैसी उपासना करता है, उसी प्रकार परलोकमें प्राप्त होता है । "स यथा यथोपास्ते तथैव भवति" उपासना करनेवाला वह मनुष्य जिस प्रकार सूर्यादि देवोंकी उपासना करता है । तदनुसार उसी देवको प्राप्त होता है । गीता (९—२५) में भी भगवान लिखते हैं कि—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।

अर्थः—देवोंका व्रत करनेवाले देवोंको प्राप्त होते हैं और पितरोंके उपासक पितृलोकको जाते हैं । भूतोंका यजन करनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा यजन करनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं । इत्यादि परसे निश्चित होता है कि "सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति" इत्यादि

—: भावार्थ :—

विष्णुसहस्रनामका आधार लेकर सब देवोंकी उपासनासे ब्रह्मोपासना या ब्रह्मप्राप्ति समझना शास्त्रविरुद्ध है । दूसरीवात–कदाच दुराग्रहवश कहो कि, नहीं हम तो ' सर्वदेवनमस्कारः ' को ही ब्रह्मवाक्य मानेंगे और सर्वदेवोपासनासे ही ब्रह्मोपासना होजाती है, ऐसा हठ करना चाहो तो " स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत " इत्यादि श्रुतियोंमें स्वर्गलोक, चान्द्रमस, पितृलोक आदिकी प्राप्तिका जो विधान आता है, उससे विरोध होगा। अतएव सूर्यादि देवोंके उपासक–सागरमें नदियोंके समान–ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं, ऐसा कहना असंगत है । इसपरसे सिद्ध होता है कि अनन्यभावसे ही परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, नानादेवताओंकी प्रतीकद्वारा नहीं ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

इत्यादि गीता (८–४) में निजमुखसे कृष्ण भगवानने प्रभुप्राप्तिका सुलभ उपाय अनन्योपासना–प्रेमलक्षणा–भक्तिको ही बताया है अतः निजानन्दसंप्रदाय द्वारा निर्दिष्ट अनन्योपासना ब्रह्मप्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है॥

दिव्य ब्रह्मपुरं धाम सर्वसंपत्समन्वितम् ।
प्रियाभिस्तत्र रमते सर्वदा सुन्दराकृतिः ॥ ४

गू०—दिव्यब्रह्म पुरमिति ।सर्वाभिस्संपद्भिः समन्वितं दिव्यब्रह्मपुरं धामास्ति परमात्मनोऽक्षरातीतस्येति शेषः। अत्र श्रुतयो यथा "यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः" इति । एतदर्थः योऽक्षरातीतः सर्वज्ञः सर्व-

विदुक्तः यस्यैषः प्रसिद्धो व्रजरासाद्यखिलमहिमा भुवि पृथिव्या-मपि गोचरो जात इत्यर्थः हि निश्चयेनैष आत्मा परमात्मा व्योम्नि

भा०—अब परमात्माके दिव्यधामका वर्णन करते हैं। अक्षरातीत परमात्माके धामका नाम दिव्यब्रह्मपुर है। जो सर्व सामिग्री सम्पन्न और दिव्यस्वरूप है। इस धाममें नित्यविग्रह धारण किये हुए शाश्वती ब्रह्मसृष्टि और पूर्णब्रह्म परमात्मा अखण्ड क्रीड़ा किया करते हैं। इस विषयमें मुण्डक श्रुतिमें लिखा है कि—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः [द्वितीय मु० खं० २–७]

अर्थः—जो परमात्मा सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है। जिसकी यह महिमा पृथिवीमें व्रजलीला रासलीला आदि नामसे प्रसिद्ध है। वह (परमात्मा) आकाशके समान विस्तृत अर्थात् आद्य अन्त रहित दिव्यब्रह्मपुर नामक अपने परमधाममें प्रतिष्ठित–स्थित है। श्वेताश्वतर श्रुति भी परमात्माकी निश्चलताका वर्णन करती है। यथा—“ वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् (श्वेता० ३–९) वह अद्वितीय परमात्मा वृक्षके तुल्य + अपने दिव्यब्रह्मपुरमें अविचल स्थित है। और उसी

टिप्पणी.

+ इस श्रुतिमें परमात्माकी अविचल स्थितिको स्पष्ट करनेके लिये वृक्षकी उपमा दी है। इस परसे परमात्माको जड़ न समझ लेना चाहिये, प्रत्युत इसका आशय यह है कि जैसे वृक्षकी शीतल छायामें सब सुख पाते हैं। उसीप्रकार परमात्मा सबको सुखदाई होकर सबसे उन्नत और सबको आश्रय देनेवाला हो रहा है। उसकी छायामें रहकर सब जीवन पा रहे हैं और उसीसे सब पूर्ण हो रहे हैं।

व्योमवदाकाश इव विस्तृते आद्यन्तवर्ज्जिते दिव्ये प्रकाशवति ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः पुरे परमधाम्नि प्रतिष्ठित इति । तथेयं श्रुतिः 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' इति । नचैकत्र स्थितिस्वीकारे कथं तद्व्यापकत्वमिति वाच्यम् । सम्राडाज्ञयेव सर्वत्र स्वाज्ञया तद्व्यापकत्वनिष्पत्तेः। तथा श्रुतयोप्याज्ञाप्राबल्यं वदन्ति 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'

—: भावार्थ :—

परमात्मा पुरुषसे यह सम्पूर्ण ब्रह्मधाम पूर्ण है अर्थात् परमात्माकी दिव्य लीलासे ही ओत प्रोत हो रहा है । प्रश्न—परमात्माको निजधाममें स्थित मानोगे तो उसका व्यापक होना कैसे सिद्ध होगा ?। उत्तर—जैसे सार्वभौम चक्रवर्ती राजा स्वरूपसे एक स्थानमें स्थित रहता है तथापि उसकी सत्ता उसके राज्यभरमें व्यापक रहती है अर्थात् अपनी शासनशक्तिसे सर्वत्र व्यापक रहता है । उसीप्रकार परमात्मा अपनी आज्ञासे, शासनशक्तिसे सर्वत्र व्यापक और सर्वान्तर्यामी है। परमात्माकी शासनशक्तिके व्यापक होनेका वर्णन बृहदारण्यक श्रुति इसप्रकार करती है कि—

" एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः"

(बृह० ३-८-६)

याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी स्त्री गार्गीके प्रति उपदेश करते हैं कि—हे गार्गि ! निश्चय इस अविनाशी परमात्माके ही प्रशासनमें सूर्य, चन्द्रमा नियमित स्थित हैं । इस अविनाशी परमात्माके प्रशासनमें ही आकाश और पृथिवी नियमित स्थित हैं। उसके शासन बिना क्षणमात्र नहीं रह सकते।

इति। अस्याज्ञाभङ्गभयादेव स्वस्वकार्य्येषु वर्त्तन्त इत्यर्थः । ननु तस्य धामके विदुरित्यत्र श्रुतिप्रमाणं दर्शयति "स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः । एतदर्थः सः आत्मज्ञः प्राणनाथाख्य इत्यर्थः एतत् परमं ब्रह्मणो धाम वेद जानाति । यत्र निजधाम्नि विश्वं सर्वं शुभ्रं निर्मलं अप्राकृतं वस्तु नदीगिरिवनोपवनादिकं निहितं स्थितं भाति शोभते । येऽकामाः विषयदर्शनकामनारहिता ब्रह्मप्रिया अक्षरस्वप्नोद्भवब्रह्माण्डे क्षणेन समाप्तकामा इत्यर्थः । पुरुषं सर्ववेत्तारं प्राणनाथाख्यमुपासते 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' इति श्रुत्यन्तरात् ते प्राणेश्वरोपासकाः अतएव धियं बुद्धिं रान्ति ददतीति धीराः एतच्छुक्रं जगद्बीजमव्याकृतमतिवर्त्तन्ति अतिक्रम्यवर्त्तन्ते ।

—: भावार्थ :—

नीचे लिखी दूसरी कठोपनिषद (२–३) श्रुति भी परमात्माकी प्रबल शासनशक्तिका वर्णन करती है । यथा—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

अर्थः—परमात्माके शासनभयसे अग्नि नियमित तपती है या सबको पवित्र करती हैं । उसके ही भयसे सूर्य तप रहा है । उसी नियन्ताके भयसे वायु और इन्द्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते । मृत्यु भी परमात्माकी आज्ञावशवर्ती होकर सबपर दौड़ता है" इत्यादि श्रुति स्पष्ट वर्णन करती हैं कि संसारमें जो कुछ होता है वह परमात्माकी व्यापक–सत्ताके बलसे और शासनानुसार होता है । कहनेका आशय है कि सूर्यादि सब देव उसकी आज्ञावश अपने २ कार्यमें नियत हैं और प्रकृति भी उसकी आज्ञानुसारही क्रियात्मकरूपमें परिणमित होती है, स्वतंत्ररूपसे नहीं।

अव्याकृतमण्डलमुल्लंघ्याखण्डं निजधाम गच्छन्तीति भावः । ब्रह्मपुरं ब्रह्मधामेत्यत्र केचित्स्वपक्षैकसाधनपराः 'ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मैव धामचेति विग्रहयन्ति, तन्न युक्तं वैदिकमन्त्रे विरोधप्रतिपत्तेः । तद्यथाथर्वमन्त्रम् 'यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्चचक्षुः प्राणं प्रजां ददुरिति' अतो ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मणो धाम चेति षष्ठ्या व्याख्येयम् । ब्राह्माः ब्रह्मप्रियाः । ननु सर्वसंपत्समन्वितं ब्रह्मधाम प्रोक्तं तत्र कास्संपदः स्युस्तत्रेति चेत्—श्रूयताम् । सच्चिदानन्दमयाखण्ड-गिरि नदी सरोवर वनोपवनाद्यशेषसामग्रीसंपन्नमेव तत् । तथाचेयं श्रुतिर्वक्ति "ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् "

—: भावार्थः —

प्रश्न—उस परमात्माके धामको कोई जानता भी है ? । उत्तर—जी ! हां, ब्रह्ममुनियोंमें श्रेष्ठ निजानन्द स्वामी श्री देवचन्द्रजी सद्गुरु तथा श्रीप्राणनाथ प्रभु इस धामको पूर्णतया जानते थे और उनकी कृपासे अनेक प्रेमी भक्तोंने उसे जान लिया है । मुण्डक श्रुतिमें लिखा है कि—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ।।
(तृतीय मु० खं० २ मं० १)

अर्थः—(सः) वह आत्मज्ञ देवचन्द्र अथवा प्राणनाथजी (एतत् परमं ब्रह्मधाम) इस महान् ब्रह्मधामको (वेद) जानते हैं । (यत्र) जिस ब्रह्मधाममें (विश्वं) गिरि नदी वनोपवन आदि (शुभ्रम्) निर्मल नित्यशुद्ध (निहितम्) स्थित (भाति) शोभित हो रहे हैं । (ये) जो (अकामाः) कामनारहित होकर (पुरुषम्) उस ब्रह्मज्ञ प्राणनाथ प्रभुको

एतदर्थः इतोऽस्मात् क्षरलोकादव्याकृत कार्य्यरूप साष्टावरणसहस्र-शीर्षसंज्ञकचतुर्दशभुवनादित्यर्थः तृतीयस्याम् । किंच क्षरसंज्ञोऽयं प्र-थमः। अक्षरलोकोऽयं द्वितीयः। ततस्त्वक्षरातीतलोकस्तृतीयः। इतः क्ष-रलोकात्तु ह्यक्षरातीतस्य पूर्णब्रह्मणः पूस्तृतीये 'तृतीये धामन्यध्यैरयन्तेति' यजुस्संहितामन्त्रेणापि प्रतिपादितत्वात्। दीव्यति सर्वदा रमते परमात्मा स्वाभिन्नाशक्तिभिर्यत्रेति द्यौस्तथाभूतायां दिवि ब्रह्मपुरि एताः संपदः सन्ति। कास्ताः। इरा अन्नं तदस्त्यस्मिन्नित्यैरमन्नमयवनमित्यर्थः। पुनः मदीयं मदकरं स्वादनार्हं सुस्वादु सरस्तडागः। तत्रत्य महासर-

—: भावार्थ :—

(उपासते) भजते हैं (ते धीराः) वे विवेकी पुरुष (हि) निश्चय (एतत् शुक्रम्) इस जन्म मरणादि जगतके बीजभूत अव्याकृतको (अ-तिवर्तन्ति) अतिक्रमण कर जाते हैं। "तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः" इत्यादि श्रुति भी ब्रह्ममुनियोंमें श्रेष्ठ ऐसे सद्गुरुकी पूजा करनेका विधान करती है। प्रश्न—ब्रह्मपुर अथवा ब्रह्मधामकी व्युत्पत्ति वेदान्ती इसप्रकार करते है कि "ब्रह्म एव पूः धाम वा" ब्रह्मही पुरी वा धाम है, ब्रह्मसम्बन्धी पुरी अथवा धाम नहीं, और आप षष्ठीसमाससे विग्रह करते हो तब तो, विरोध होगा। उत्तर—देखोजी! हमारा कथन वेदानुसार है। वेदमें ब्रह्मकी पुरीका स्पष्टी-करण षष्ठी विभक्तिसे ही किया है। यथा—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनाऽऽवृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

(अथर्व कां० १० अनु० १ सू० २ मं २९)

अर्थः—(यः) जो ज्ञानी (वै) निश्चय (अमृतेन आवृताम्) अमृत नामके वनसे आवृत (ब्रह्मणः) ब्रह्मकी (तां पुरम्) उस पुरी-

सोऽमृतमयपानीयत्वान्मदीयमित्युक्तम्। अथवा मदीयमिति विशेषणं-मैरसरसोरुभयोर्युक्तम्। 'ऐर' शब्दवाच्यस्यान्नस्यापि मदीयत्वात्। एतद्विशेषणेनान्नजलयोस्तत्रत्ययोः स्वादु-आधिक्यं दर्शितमितिभावः पुनरश्वत्थः पिप्पलवनम्। पुनः सोमो नामामृतं तन्निस्रवनः अमृतस्रवं वनमित्यर्थः। अत्र छान्दसत्वाल्लिगव्यत्ययः। 'तत् सा अपराजिता न कैश्चित्स्वाप्निकजीवैः पराजिता ब्रह्मणः पूः पुरी। न तद्धाम प्राकृतिकं च भौतिकं किं तर्हि हिरण्मयं तेजोमयं 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तत्रदात्म-

—: भावार्थ :—

धामको (वेद) जानता है (तस्मै) उसके लिये (ब्रह्म) परमात्मा (च) और [ब्राह्माः] ब्राह्मी प्रजा ब्रह्मसृष्टि [चक्षुः] दिव्यदृष्टि [प्राणम्] प्राण [च] और [प्रजाम्] उत्तम सन्तान या ज्ञानको [ददुः] देते हैं। इत्यादि वेदमन्त्र ब्रह्मकी पुरीका स्पष्ट वर्णन कर रहे हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मसे भिन्न 'पुरी वा धाम' नहीं है। प्रश्न—ब्रह्मको सब सामिग्री सहित मानते हो तो, वे सामिग्री कौनसी हैं?। उत्तर—देखो जी! ब्रह्मधाममें गिरि, नदी, वनोपवन, सरोवर, दिव्य क्रीड़ास्थल, मंदिर आदि सब पदार्थ हैं, किन्तु वे सच्चिदानन्दमय होनेसे सदा सर्वदा अखण्ड विराजमान हैं। ब्रह्मधाममें अनेक पदार्थोंका होना छान्दोग्यश्रुति इस-प्रकार वर्णन करती है कि—

ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि। तदैरं मदीयं सर—
स्तदश्वत्थः सोमसवनः [छान्दोग्य प्र० ८ खं० ५-३]

अर्थः—[इतः] यहांसे [तृतीयस्यां दिवि ब्रह्मलोके] तीसरा जो-दिव्य ब्रह्मलोक है [तद् ऐरं मदीयं सरः] वहांपर ऐर-अन्नवन है मदीय—

विदो विदुरिति श्रुत्यन्तराच्च बोध्यम् । प्रभुणा पूर्णब्रह्मणा विमितं विशेषतया मितं प्रमितं ज्ञातं नान्यैरित्यर्थः । अथवा अपराजितेत्यत्र ब्रह्मसम्बन्धिभ्यो ब्रह्मप्रियागणेभ्योऽपरैरन्यैर्न जीयते स्मेत्यपराजिता यद्वा अपरे कालकर्मस्वभावकृतदोषा जरामरणादयस्तैर्न जीयते नाभिभूयते इत्यपराजिता अखण्डेत्येतत् तथात्रत्यैव श्रुतिः "नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोतोनिवर्त्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोक इति प्रतिपादितं ह्यतया श्रुत्या

—: भावार्थ :—

सबको हर्षोत्पादक सरोवर—ताल है [तद् अश्वत्थः सोमसवनः] वहीं पर अश्वत्थ—पीपलका वन है और सोमवन—अर्थात् अमृतवन है । इस श्रुति में परमात्माके धामको तृतीय लोक बताया है। कारण, श्रुतिकी दृष्टिमें क्षर अक्षर, अक्षरातीत तीनही पुरुष हैं और तदनुसार तीनहीं लोक हैं । अष्टावरण सहित चतुर्दशभुवनात्मक अव्याकृत पर्यन्त नाशवान होनेसे सब क्षर लोक है । उससे पर अक्षर लोक कहा जाता है। उससे भी पर जो अक्षरातीतका परमधाम है वह तीसरा लोक होता है अतः श्रुतिने "तृतीयस्यां दिवि ' शब्दका प्रयोग उसके लिये किया है । रामानुजाचार्यने 'ऐरं 'का अर्थ अमृत किया है। यथा "इरयाऽमृतेन माद्यन्ते यस्मिंस्तदैरं मदीयममृतमयं सर इत्यर्थः" अर्थात् इरानाम अमृतसे आनन्दको प्राप्त होते हैं जिसमें ऐसा मदीय—अमृतमय सरोवर है " इन्होंने इस श्रुतिसे ब्रह्मधाममें पिप्पल और सोमवन नामक दो बन और मदकर अमृतका एक सरोवर है, ऐसा माना है और शङ्कराचार्यजी इस श्रुतिसे ब्रह्मधाममें ऐर अर्थात् अन्नवन, पिप्पलवन और सोमवन—अमृतवन, इसप्रकार तीन बन और एक सरोवर बताते हैं । अस्तु! कुछ भी क्यों न हो, ब्रह्मधाम सामग्री सम्पन्न है, यह दोनोंके अर्थसे सिद्ध हो जाता है । और भी देखिये—

ब्रह्म लोकस्याखण्डत्वमिति । ननु सर्वैश्वर्य्य संपन्नस्य परब्रह्मणः कथमेता एव तत्संख्याः परिगणिताः सरोवरप्रभृतिसंपद उक्ता इति चेत्-श्रूयतामेतदुत्तरम् । वाङ्मनोगोचरातीतस्य परब्रह्मणो मुमुक्षूणां

—: भावार्थ :—

" तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् । +

(छां० प्र० ८ खं० ५-३)

अर्थ.—(तद् अपराजिता) उसी ब्रह्मधाममें " अपरैरब्रह्मविद्भिः प्राप्तुमशक्यत्वेनाऽपराजिता " अपर जो जीवसृष्टि हैं अथवा जो ब्रह्मको नहीं जानते उनको उसकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे उसका नाम अपराजिता है अतः अपराजिता नामकी [ब्रह्मणः पूः] ब्रह्मकी पुरी कहा है । अथवा "अपरैः कालकर्मस्वभावकृतदोषैः अजिता-अतिरस्कृता अखण्डा इति यावत् " कालकर्मस्वभावकृत जरा मरणादि दोषोंसे अजिता-अतिरस्कृता हैं अर्थात् काल कर्मादि दोष वहां नहीं पहुंचते, इसलिये अखण्डा है । परमात्माके धाममें काल कर्मादि नहीं पहुंचते, इस बातका वर्णन नीचेकी श्रुति भी स्पष्टरूपसे कर रही हैं । यथा—

" नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतम्
न दुष्कृतंसर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः"

(छां० प्र० ८ खं० ४-१)

अर्थः—उस परमात्माको अहोरात्रि उल्लंघन नहीं करते । न जरा, न मृत्यु, न शोक, न सुकृत, न दुष्कृत कोई भी इसको स्पर्श नहीं कर पाते । सम्पूर्ण पाप वहांसे लौट आते हैं अपहतपाप्मा अर्थात् निष्पाप यह ब्रह्मलोक है [प्रभुविमितं-प्रभुणा पूर्णब्रह्मणा विमितं विशेषतया मितं

+ नोट— चौथे श्लोकके भावार्थमें संस्कृतक्रमानुसार भाषार्थ नहीं किया किन्तु श्रुतिकी व्याख्यानुसार किया गया है ।

परमहंसानामखण्डाद्वैत-सच्चिदानन्दमय-संपत्प्रतिपत्त्यर्थं क्वचिन्नामात्रेणाऽतिशुद्धतरं निजधामस्थचिह्नं श्रुतयो निरूप्य तदनन्तरं दौर्लक्ष्यं ज्ञापयन्ति। अथ च सर्वमेव वस्तु तत्रेति सामान्यत उक्त्वा तूष्णीं भवन्ति। तथा च सर्वसंपत्प्रतिपादिकेयं छान्दोग्य श्रुतिर्वक्ति

—: भावार्थ :—

प्रमितं ज्ञातं नान्यैरित्यर्थः] परमात्मा द्वारा विशेषरूपसे जानने योग्य वह ब्रह्मधाम (हिरण्मयम्) हिरण्यमय-प्रकाशमय देदीप्यमान हो रहा है। ब्रह्मधामको प्रकाशमय वर्णन करनेवाली निम्नलिखित मुण्डक (२-९) श्रुति उपरोक्त विषयपर अधिक प्रकाश डालती है। यथा—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

अर्थः—(हिरण्मये) दिव्य प्रकाशमय [परे कोशे] एक अन्य कोश-धाम अथवा पर कोश-परमधाममें [विरजम्] निर्मल-शुद्धस्वरूप (ब्रह्म] परमात्मा विराजमान है [निष्कलम्] जो ह्रासवृद्धिरहित कलायुक्त है अर्थात् उसका नित्यविग्रह सच्चिदानन्दमय होनेसे कभी बढ़ता घटता नहीं (तत्) वह [शुभ्रम्] शुभ्र-गौरवर्ण + है (ज्योतिषां ज्योतिः) ज्योतियोंके भी ज्योति-प्रकाशपुञ्ज [तत्] उस परमात्माको [यदात्मविदः) जो आत्मज्ञ हैं (विदुः) जानते हैं। अक्षरसे पर होनेके कारण

टिप्पणी.

+ शुभ्र शब्दका अर्थ कोशसे भी गौरवर्ण ही होता है। अमर कोश [कां० १ धीवर्ग] में लिखा कि—

शुभ्र शुक्ल शुचिश्वेत विशदश्येत पाण्डराः।
अवदातः सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुनः॥

यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति। अतस्सिद्धं सर्वसंपत्समन्वितत्वं ब्रह्मधाम्न इति। प्रियाभिरिति तत्र तस्मिन् दिव्यब्रह्मपुरे सर्वदा सर्वस्मिन् काले सुन्दरा आकृतिराकारो यस्य परमात्मनस्तथाभूतः प्रियाभिर्निजाङ्गप्रभारूपाभिस्सखीभीरमते क्रीडतीत्यर्थः 'रमुक्रीडार्थकधातोः 'स्वरितञित इति लब्ध्यात्मनेपदं प्रथमपुरुषस्यै-

—: भावार्थ :—

अक्षरातीतके धामको इस श्रुतिने 'परकोश' कहा है। हिरण्मय शब्दका प्रकाशमय या तेजोमय अर्थ होता है "तेजो वै हिरण्यं, ज्योतिर्वै हिरण्यम्" इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियोंमें 'हिरण्य' शब्दका प्रकाश या तेज अर्थ किया है। उपरोक्त श्रुतियोंके विवेचन परसे ब्रह्मधामका सर्वपदार्थ सम्पन्न होना निश्चित होता है और साथही ब्रह्मके स्वरूपका भी स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रश्न—परमात्मा तो अनन्त ऐश्वर्ययुक्त और मन वाणीसे पर अगम्य है, ऐसा श्रुतियोंमें लिखा है और आप श्रुतिद्वारा दो चार पदार्थोंका निरूपण कर ब्रह्मकी इयत्ता प्रतिपादन करते हो, तब तो विरोध होगा। उत्तर—देखो जी! इसका नाम ब्रह्मकी इयत्ता प्रतिपादन करना नहीं। क्योंकि श्रुतियोंने मुमुक्षु परमहंसोके आत्मकल्याणार्थ मन, वाणी तथा इन्द्रियोंसे भी अगम्य सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूप तथा धाम लीलादिका यत्किञ्चित् संकेत कर अन्तमें उसे दुर्ज्ञेयही प्रतिपादन किया है अर्थात् सामान्यरूपसे ब्रह्मके धामादिका संकेत कर विशेष वर्णन करनेके लिये सामर्थ्य रहित होनेसे उसे दुर्ज्ञेय बताया है। छान्दोग्योपनिषदमें ब्रह्मधामके बहुतसे पदार्थों को नाममात्रसे वर्णन कर अन्तमें दिखाया है कि—'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्' (छां० प्र० ८ खं० १–३) इस विश्वमें जो कुछ है और जो नहीं है वह सब दिव्यब्रह्मपुरमें निरतिशय विद्यमान है" महर्षि पतञ्जलिने भी परमात्माके धामको सब ऐश्वर्योंका मूल

क्वचनमिति विभाव्यम् । प्रियाभिः परमात्मनो यद्रमणं मन्त्रोक्तं तस्य सप्रमाणं व्याख्यानं प्रथमतरङ्गे कृतमतोऽत्र न लिख्यते विस्तरभियेति ज्ञेयम् । सर्वदेत्यनेन नैरन्तर्य्यविहारो दर्शितः । सुंदराकृतिरित्यनेन निरतिशयसच्चिदानन्दमय नित्य दिव्य कैशोर सौन्दर्य्याकारवत्त्वं हि परमात्मनो दर्शितमिति भावः ॥ ४ ॥

—: भावार्थ :—

बताया है "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् (योग १–२५) इस सूत्रपर भाष्य करते हुए व्यासजी लिखते हैं कि—जो कुछ भूत–भविष्यमें उत्पन्न होता है, वह सब प्रत्येक और समुदायरूपसे जो कुछ ग्रहण किया जा सकता है वह सब निरतिशयरूपसे उसके यहां विराजमान होनेके कारण ही ब्रह्म सर्वज्ञ और सबका कारण कहा जाता है । उपरोक्त श्रुति और योगसूत्र परसे स्पष्ट विदित होता है कि परमात्माके ब्रह्मधाममें निरतिशय अनन्त सामिग्री विद्यमान है । श्रुतियोंने जो संकेत मात्र वर्णन किया है वह मुमुक्षुलोगोंके कल्याणार्थ किया है न कि ब्रह्मकी इयत्ता सिद्ध करनेके लिये, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तत्प्राप्तिबीजरूपा सा भक्तिः प्रेमात्मिका परा ।
कैवल्योपनिषद्युक्तं प्रमाणं दृश्यतां खलु ॥ ५

गू०—तदिति प्रेम आत्मनि यस्याः सा प्रेमात्मिकेत्यत्र बहुव्रीहौ कः प्रत्यये 'अनोबहुव्रीहेरित्यनेनङीपि निषिद्धे टापिकृते 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप, इत्यनेनाकारस्येकारे कृते रूपसिद्धिः । तस्योक्तस्वरूपस्याक्षरातीतस्य तद्धाम्नो वा प्राप्तये बीजरूपा कारणरूपा "तादर्थ्ये चतुर्थी बोध्या" प्रेमलक्षणा भक्तिर्हि परमात्मानं

प्रापयति । का भक्ति श्चेत् " सा परानुरक्तिरीश्वरे" इति शाण्डिल्य-सूत्रेणाभिहितेति बोध्यम् । सगुणायां निर्गुणायां च भक्तावतिव्याप्ति-वारणाय परेत्युक्तम् । विष्ण्वादावतिप्रसक्तिवारणाय 'प्रेमात्मिका तत्प्राप्तिबीजरूपेति विशेषणद्वयमुक्तम् । या न प्रेमात्मिका सा न तत्प्राप्तिबीजरूपा यथा राजादिभक्तिः नचेयं तथा तस्मान्न तथेति व्यतिरेकिलक्षणम् । अत्र भक्तिप्राधान्ये प्रमाणं कैवल्योपनिषदि उक्तं तद्द्रश्यतां खलु निश्चयेनेति ॥ ५ ॥

भा०—अब परमात्माकी प्राप्तिकेलिये मुख्यतया प्रेमलक्षणा भक्तिको दिखाते हैं । 'प्रेम ही है आत्मा जिसकी उसे प्रेमात्मिका कहते हैं' । परमात्माकी प्राप्तिका सुगम उपाय प्रेमात्मिका परा भक्ति है । परा भक्तिके द्वारा प्रत्येक स्त्री पुरुष बिना श्रम परमपुरुष पूर्णब्रह्मको प्राप्त हो सकता है । प्रश्न—भक्ति ऐसी क्या वस्तु-चीज है, जिससे परमात्मा शीघ्र मिल-जाता है । उत्तर—सुनो जी ! भक्ति कोई स्थूल पदार्थ नहीं है किन्तु परमेश्वरके प्रति अनन्यभावसे प्रेम-अनुराग बढ़ाना ही भक्ति कहा जाता है । और जब वह सगुण निर्गुणसे पर हो जाता है अर्थात् प्रेमाधिक्यके कारण परमात्मा ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लग जाता है अथवा तो एक प्रभुके अतिरिक्त ऐहिक-पदार्थ विष जैसे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं और ध्यानमें सदा सच्चिदानन्द ब्रह्मकाही भास होने लगता है, तब उसे परा भक्ति कहते हैं । परा भक्ति फलरूपा है, इसीसे प्रभु प्राप्ति होती है । शाण्डिल्य सूत्रमें भक्तिके लक्षणका वर्णन आता है कि " सा परानुरक्ति-रीश्वरे " अर्थः—समग्र ऐश्वर्ययुक्त परमात्मामें जो पूर्ण अनुरक्ति-अनुराग है उसेही परा कहते हैं " कैवल्योपनिषदमें भी इसका स्पष्टी-करण विशेषरूपसे किया है ॥ ५ ॥

आश्वलायन संपृष्टो ब्रह्मविद्या निरूपणे ।
प्राहाब्जयोनिस्तमृषिं भक्तियोगादवेहि तु ॥ ६

गू०—आश्वलायनेति तथेयं श्रुतिः। आश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच अधीहीति भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढां यथा चिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान् तस्मै सहोवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यान योगादवैहि इति अत्र निगूढब्रह्मविद्यायाः परात्परपुरुषप्राप्ति—साधनभूतायाः प्रश्ने ब्रह्मणा श्रद्धाभक्तेरेव तत्प्राप्तिसाधनत्वं दर्शितमिति । श्लोकार्थस्तु स्पष्ट एवेति 'भक्तियोगादवेहीति श्रुतिखण्डं इदमेवोत्तरं ब्रह्मणा दत्तं सर्वसाधनेभ्यः प्राबल्यात् ॥ ६ ॥

भा०—कैवल्योपनिषदमें लिखा है कि—आश्वलायन ऋषिनें ब्रह्माजीके पास जाकर कहा कि—हे भगवन्! सब विद्याओंमें श्रेष्ठ तथा अत्यन्त गूढ़ उस ब्रह्म विद्याको बताइये । जिसे सत्पुरुष सेवन करते हैं और जिसके द्वारा मनुष्य स्वल्पकालमें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परात्पर अक्षरातीत पुरुषको प्राप्त हो जाता है । तब ब्रह्माजीने कहा कि "श्रद्धाभक्ति ध्यान योगादवेहि (कैवल्यो० २) श्रद्धापूर्वक भक्तिध्यानयोग—प्रेमलक्षणासे परपरमात्माको पाओगे, ऐसा समझो ॥ ६ ॥

न कर्मणा न प्रजयेत्युपायान्तरवारणम् ।
कृतं तथा भगवता गीतासूक्तं मुरारिणा ॥ ७

गू०--नेति । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुरिति तत्रत्ययैव श्रुत्या प्रेमभक्तिमृतेः उपायान्तराणां कर्माद्याचरणानां वारणं निषेधनं कृतमिति भावः ॥ ७ ॥

भा०—कैवल्य श्रुतिमें कर्मसे, प्रजासे, यज्ञ, तपादिसे ब्रह्मप्राप्तिका निषेध होनेसे यहांपर उसकी प्रतीक देकर यह सिद्ध किया गया है कि एक प्रेमलक्षणाको छोड़कर अन्य उपायोंसे परमात्मा नहीं मिलता। कैवल्योपनिषदकी श्रुति इस प्रकार है कि—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

अर्थात् न कर्मसे, न प्रजासे, न धनसे और न त्यागसे परमात्मा मिलता है किन्तु परा-प्रेमलक्षणा भक्तिसे मिलता है। इसप्रकार उपायान्तरोंका निषेध कर परा-प्रेमलक्षणाका विधान किया है॥ ७॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
इत्यादि वचनैरन्ये प्राप्त्युपायास्तु बाधिताः॥ ८
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन!।
इत्याद्युक्त्या तु भगवान् भक्तेः प्राधान्यमुक्तवान्॥

गू०—भगवता अन्यसाधननिषेधानन्तरं कया लभ्यत्त्वमुक्तमिति चेत्तत्राह भक्त्येति 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुनेत्याद्युक्त्या भक्तेः प्राधान्यमुक्तवानेव भगवान्। आदिपदेन बहुस्थलेषूक्तं तद्यथा "तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानीभ्योऽपिमतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन!। योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" अथवा भागवते भगवतोक्तमुद्धवंमति तदप्यादिना संगृह्यते। तद्यथा। न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जितेत्यलमधिकेन॥ ९॥

भा०—गीतामें भी कृष्णभगवानने अन्य साधनोंका निषेध कर अन्तमें ब्रह्मप्राप्तिका सरल उपाय अनन्यभक्तिकोही बताया है। यथा—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन!।

कृष्णभगवान अर्जुनको उपदेश देते हैं कि—हे अर्जुन! वेदाध्ययनसे, तपस्यासे, दानधर्मसे, इज्या—मूर्तिपूजा तथा यज्ञादिसे ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता, इसप्रकार वेदादि साधनोंसे ब्रह्म प्राप्तिका निषेध कर अन्तमें अनन्यभक्ति—प्रेमलक्षणा द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा निश्चित किया है। भागवत (११-१४-२०) में भी लिखा है कि—

"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव!
न स्वाध्याय तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

उद्धवके प्रति कृष्ण भगवान कहते हैं कि हे उद्धव! योग द्वारा, सांख्य शास्त्रसे अथवा स्वाध्याय, तप और त्यागसे मेरी प्राप्ति नहीं होती जैसी कि मेरी बढ़ी हुई भक्तिसे मेरी प्राप्ति होती है। पूर्वोक्त श्रुति और गीता, भागवत आदिके वचनोंपरसे सिद्ध होता है कि—प्रेमैकलभ्य परमात्माको प्रेमलक्षणा भक्तिके बिना अन्य उपायोंसे नहीं प्राप्त किया जा सकता॥

प्रेमैव लक्षणं यस्या एषोक्ता प्रेमलक्षणा।
साधुना प्राणनाथेन काललुप्ता प्रकाशिता॥ १०

गू०—प्रेमैवेति "स्वप्रकाशमनिर्वाच्यमात्मद्वैतं निवर्त्तकम्। विकल्पातीतमानन्दं प्रेम ब्रह्मैव केवलमिति स्मृतिप्रतिपाद्यं प्रेमैवलक्षणं यस्या भक्तेरेषा प्रेमलक्षणा साधुवेषधरेण प्राणनाथेन काललुप्तापि

श्रीकृष्णधामगमनादारभ्य सद्गुर्वागमनपर्य्यन्तकालच्छन्नापि पुनः कलौ प्रकाशिता प्रकटीकृतेत्यर्थः ॥ १० ॥

भा०—अब परा-प्रेमलक्षणा भक्तिकी व्याख्या दिखाते हैं। "प्रेम एव लक्षणं यस्याः सा प्रेमलक्षणा" प्रेमही मुख्य लक्षण-चिह्न हो जिसका उसे प्रेमलक्षणा' भक्ति कहते हैं।

स्वप्रकाशमनिर्वाच्यं ह्यात्मद्वैत निवर्त्तकम्।
विकल्पातीतमानन्दं प्रेम ब्रह्मैव केवलम् ॥

शास्त्रकारोंने प्रेम और परमात्मामें अन्तर नहीं माना। जहां प्रेम है वहीं परमात्मा है। कारण, प्रेम और परमात्मा एक हैं। ब्रह्मस्वरूप प्रेम जिसमें हो उसे प्रेमलक्षणा समझना चाहिये। गोपियोंके प्रेमपूर्ण हृदयसे इसका प्रादुर्भाव हुआ था सही, परन्तु कृष्णके पीछे बहुत समय तक इसका प्रचार नहीं हो पाया और लुप्तप्रायः यत्र तत्र भिन्न २ रूपसे देखनेमें आती रही। परमात्माकी कृपासे इस कलियुगमें निजानन्द स्वामी श्री देवचन्द्रजीने पुनः इसे वास्तविक रूपमें स्थापित किया और उनके बाद श्रीप्राणनाथ प्रभुने संसारके त्रैताप-पीड़ित प्राणियोंके उद्धारार्थ इसका पूर्ण उपदेश दे इसे विश्वव्यापी बनाया ॥ १० ॥

सखीभावेन श्रीकृष्णं श्यामया सहितं स्मरेत्।
शृङ्गाररसिकं ध्यात्वा प्रणमेद्दण्डवद् भुवि ॥ ११

गू०—प्रेमलक्षणां प्राप्य किं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह सखीभावेनेति शृङ्गं श्रेष्ठत्वमियर्त्ति प्राप्नोतीति शृंगारः नवरसानां मध्ये शृंगारस्यैव प्राधान्यात्। शृंगारश्चासौ रसश्च सोऽस्यास्तीति शृंगाररसिकस्तं ध्यात्वा मनसा चिन्तयित्वेत्यर्थः भुवि दण्डवत् पतित्वेत्य

ध्याहारः प्रणमेत् प्रणामं कुर्य्यात् । तावत्सखीभावेन श्यामाश्याम-युगलमूर्त्तिं सद्गुरूपदेशानुसारेण पादादिमुखकमलपर्य्यन्तं स्मृत्वा त-दनन्तरं प्रणमेदिति भावः । ननु सखीभावेन श्रीकृष्णोपास्तिर्दिष्टा सा च कैः प्रमाणैरभ्युपगंतव्येति चेत्सत्यं श्रवणादि नव भजनानां स-ख्यमिति भजनमुक्तं तत्र केचित्सख्युरिदं भजनं सख्यमिति व्युत्पा-दयन्ति अस्माकं मते तु सखीनां स्त्रीणां भावेनेदं भजनं सख्य-मिति व्याख्येयम् । प्रमाणान्तरेण हि स्त्रीभावस्यैवोपलभ्यमानत्वात् ।

भा०—प्रेमलक्षणा भक्तिवालेको क्या कर्तव्य पालन करना चा-हिये, यह दिखाते हैं। श्यामा सहित श्रीकृष्ण–युगल स्वरूपको सखी-भावसे नित्य प्रति स्मरण करे। शृंगार रससे पूर्ण किशोरस्वरूप युगलवरका ध्यानकर, हृदयस्थ स्वरूपका चिन्तवन करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। प्रश्न—सखीभावसे परमात्माकी उपासना करनेका प्रमाण क्या है?। उत्तर—देखो जी! सखीभावसे ब्रह्मोपासना करनेके विषयमें अनेक प्रमाण हैं। "श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासभाव, स-खीभाव और आत्मनिवेदन" इत्यादि भागवतमें 'सख्यं' शब्दसे सखीभावही लिया गया है "सखीनां भावेनेदं सख्यम्" इस व्युत्पत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसमें सखीभावसे भजनेका विधान है। प्रश्न—'सख्यं' शब्दसे दूसरे लोग तो सखाभाव मानते हैं तब यह किसप्रकार निश्चित किया जाय कि इसमें सखीभाव कहा है? उत्तर—देखो जी! एक शब्दके अनेक अर्थ हुआ करते हैं, परन्तु जो अर्थ जहांपर अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होता हो, वही वहांपर मान्य गिना जाता है। भागवतमें सखीभावसे ही भक्ति करनेको लिखा है। यथा—

मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवस्समदर्शिनः ।
बशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

प्रमाणं भागवते। मयि निर्बद्धहृदयास्साधवस्समदर्शिनः। वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा । यथासत्स्त्रियः सत्पतिं भक्त्या-वशी कुर्वन्ति तथैव स्त्रीवद्भावं कुर्वन्तः साधवः सत्पतिं मां वशी कुर्वन्ति । इति भगवदुक्तिबलात्सखीभावोपासनायाः कर्त्तव्यत्वात् तथैवोक्तं पद्मपुराणे उत्तरखण्डे वृन्दावनरहस्ये " सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथापति परायणा । प्रियानुरागिणी दीना तस्यसङ्गैककांक्षिणी । तद्गुणान्भावयेन्नित्यं गायत्यपि शृणोति च। श्रीकृष्णगुण-लीलादि स्मरणादि तथाचरेदिति । अथ च ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वादे-कत्वाच्च पुरुषान्तर कल्पने दोषाभ्युदयात् स्त्रीभाव एव वैदिक सिद्धान्तः।

—: भावार्थ :—

अर्थः—जैसे साध्वी स्त्री अपने भक्तिभावसे अपने सज्जन पतिको वशमें करलेती है। उसीप्रकार सखीभावसे भजनेवाले भक्त परमात्मारूप पतिको अपने वशमें कर लेते हैं। पद्मपुराण (पा०खं०अ० ८२-२९) में लिखा है कि–

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा ।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककांक्षिणी ॥
तद्गुणान्भावयेन्नित्यं गायत्यपि शृणोति च ।
श्रीकृष्णगुणलीलादि स्मरणादि तथाचरेत् ॥

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिके परदेशमें चले जाने पर केवल प्रियतमकी आकांक्षामें, अनुरागमें निमग्न उसीके गुणोंको स्मरण करती हुई सारा दिन व्यतीत करती है, पतिके गुणोंकोही गाती है और उन्हींको सुनती है। उसीप्रकार कृष्ण परमात्माके उपासकोंको चाहिये कि पतिव्रता स्त्रीके समान कृष्णके गुण तथा लीलादिका स्मरण करते हुए आचरण करें। भक्तिमंजूषामें भी लिखा है कि—

—: भावार्थ :—

भावो यावदहं योषित् पुमान् षण्ढस्तनो भ्रमात् ।
तावत्तु गोपीभावस्य कथमभ्युदयो भवेत् ॥

अर्थः—जबतक मनुष्यका स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक—भेद नहीं मिटता तबतक उसके हृदयमें गोपीभावका उदय किस प्रकार हो अर्थात् जिसकी भ्रमात्मक बुद्धिमें ' मैं पुरुष होकर नपुंसक अथवा स्त्री भाव किस प्रकार मानूँ " ऐसा भेद बना है, उसके हृदयमें गोपियोंकी प्रेमलक्षणा—परा भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । विचार बुद्धिसे देखा जाय तो बात बिल्कुल सत्य है क्योंकि पुरुष तो एक परमात्मा ही है; दूसरे जीव तो शक्तिरूप हैं । श्रुतियोंमें भी परमात्मा पुरुषको एकही बताकर अद्वितीय पदसे पुरुषान्तरका निषेध किया है अतएव सखीभावसे ही भक्ति करना शास्त्र सम्मत और युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

सच्छास्त्राणां सतां चैव निन्दां कुर्यान्न शक्तितः ।
धर्मं सेवेत वेदोक्तं भक्त्यविघ्नकरं सदा ॥ १२

गू०—सच्छास्त्राणामिति । सच्छास्त्राणि भागवतादीनि तेषां सतां महात्मनां च शक्तितो निन्दां न कुर्य्यात् पुनः वेदोक्त धर्म्मो भक्तेरविघ्नकर श्चेत्तर्हि तं धर्म्मं प्रतिपालयेत् । भवति हि बहुल-कर्म्माद्याचरणं भक्त्यंतरायभूतम् । तथोक्तं लैङ्गे कालकूटोपाख्याने । 'इह लोके परे चैव कर्त्तव्यं नास्ति तस्य वै । जीवन्मुक्तो यतस्तु स्याद्ब्रह्मवित्परमार्थत इति पुनः शाण्डिल्य सूत्रं " सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् " पुनः महाभा० शान्ति० अ० ११४ यस्त्यक्त्वा प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः । सर्व—भूतात्मभूतात्मा स्याच्चेतपरतमागतिः" इत्यादिना पराभक्तेः प्राबल्यं सिद्धम् ॥ १२ ॥

भा०—प्रेमलक्षणा भक्तिके अवलम्बन करनेवाले प्रत्येक स्त्री पुरुष का कर्तव्य है कि सत्य शास्त्रोंकी निन्दा न करे और न किसी सत्पुरुषकी निन्दा करे। वेदोक्त धर्म यदि उसकी अनन्य भक्तिका बाधक न हो तो उसका आचरण करना धर्म है अर्थात् कृष्णकी अनन्य भक्तिके सहायक धर्मोंका अवश्य पालन करे। प्रश्न—क्या भक्तिमार्गके असहायक धर्मोंको त्याग देवै ?। उत्तर जी ! हां, क्योंकि अधिकार भेदसे कर्मोंकी अपेक्षा भक्तिका अधिक महत्व माना गया है और परमात्माके अनन्य भक्तको कुछ कर्तव्य शेष भी नहीं रहता। उनके तो सब कर्म, धर्म भक्तिसेही पूर्ण हो जाते हैं। कदाच किसी नित्य नैमित्तिक कर्मका उल्लंघन हो जावे तो भी उन्हें पाप नहीं लगता। शाण्डिल्य सूत्रमें लिखा है कि—"सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्" इतर कर्मोंकी अपेक्षा भक्ति मुख्य है। "गौण मुख्ययोर्गौणे संप्रत्ययः" गौण और मुख्यके विरोधमें मुख्यकाही ग्रहण होता है, ऐसा सिद्धान्त है। लिङ्ग पुराणमें लिखा है कि—

"इह लोके परे चैव कर्त्तव्यं नास्ति तस्य वै।
जीवन्मुक्तो यतस्तु स्याद् ब्रह्मवित्परमार्थतः॥

प्रेमलक्षणा द्वारा जो जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त हो चुका उसको इस लोकके निमित्त और परलोकके निमित्त कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता" इत्यादि परसे भी पराभक्तिकी प्रबलता सिद्ध होती है, इतर धर्मोंकी नहीं; अतएव भक्तिमें बाधा डालनेवाले कर्मोंका परित्याग करनाही अच्छा है। परन्तु यह कर्मत्याग उन्हींके लिये है जो प्रेमलक्षणाके पूर्णपात्र हैं अन्यके लिये नहीं॥

दया सर्वेषु जीवेषु चाहिंसा स्वामिसंमता।
मांसाद्यभक्ष्य-द्रव्याणां त्यागस्सम्यगुदीरितः॥१३

गू०—दयेति। सर्वेषु प्राणिषु दया करुणोदीरिता श्रीस्वामिनेति शेषः। दयादिफलं पातञ्जलसूत्रे निगदितं तद्यथा “ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनमिति । अहिंसा च जाति देश काल समयानवच्छिन्ना स्वामिसम्मता तथोक्तं योगसूत्रे “ जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा-महाव्रतमिति । “ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर त्यागः” इति । तथा मांसादीनि यान्यभक्ष्यद्रव्याणि तेषां सम्यक् त्यागः श्रीस्वामिनो-

भा०—सब जीवोंपर दया रखना मनुष्यका परम धर्म है ‘ न धर्मो दयया समः’ । दयासे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र होता है । किसी जीवकी हिंसा न करना यह सद्गुरुकी परम आज्ञा है । जीवमात्रको दुःख न देना परम धर्म है । महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि—“जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् [योग २–३१] अर्थः—(१) जाति, (२) देश, (३) काल, (४) समय आदिमें होनेंवाली न होनेवाली सब हिंसाओंसे अलग रहनेका ही नाम महाव्रत–अहिंसाव्रतका पालन करना है । जाति हिंसा–जैसे मल्लाह या धीवर लोग मत्स्य–मछलीको मारना अपना धर्म समझते हैं परन्तु जो निजानन्द सम्प्रदायमें दीक्षित हो जावे तो उसे अपने जातिके धन्धेको अर्थात् मछली मारना छोड़ देना चाहिये । देशावच्छिन्न हिंसा–जैसे नेपाल बंगाल आदि देशोमें मांसभक्षणको विधि समझते हैं अथवा किसीने कहा कि तीर्थमें हिंसा करनेसेही पाप लगता है, अन्यत्र नहीं । कालावच्छिन्न हिंसा–जैसे किसीने कहा कि व्रत वा श्राद्धके दिन जीवको मारनेमें विशेष पाप है, आगे पीछे नहीं । समयावच्छिन्न हिंसा–जैसे कीसीने कहा कि यज्ञादिके समय देवता आदिकेलिये बलिदानादि हिंसाका दोष नहीं होता, इसके अतिरिक्त निषेध है, ऐसा न मानना चाहिये किन्तु किसी भी जीवको किसी भी देश, काल, जाति वा

दीरित उक्तः। आदिना पलाण्ड्वादिपरित्यागो बोध्यः। 'वर्जयेन्मधुमांसं चेति स्मृतेः तथा पलाण्ड्वादित्यागे मनुः। छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्याजग्ध्वा पतेद् द्विजः। पुनर्मांसत्यागफले मनुः। वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं सममिति॥ १३॥

—: भावार्थ :—

समयमें मारना पाप है, ऐसा समझना चाहिये। इसीको अहिंसा कहते हैं "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" किसी भी प्राणीको कभी भी दुःख न देना ही पूर्ण अहिंसा है। अभक्ष्य द्रव्योंको भक्षण करना भी अपने धर्मके विरुद्ध है। जैसे—मांस, मदिरा, प्याज, गाजर इत्यादि पदार्थ अभक्ष्य माने गए हैं। मनुस्मृति (अ० ५-५३) में लिखा है कि—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥

मांसाहारी वर्षोवर्ष अश्वमेध यज्ञद्वारा सौ वरस तक यजन करे और मांस त्यागी कुछ भी न करे तो भी दोनोंको समान फलवाले समझना चाहिये। उपरोक्त व्रतोंको पूर्णतया पालन करनेवाला अर्थात् जो हिंसा नहीं करता, मद्य मांसादि अभक्ष्य भक्षण नहीं करता. वही सद्गुरुका सच्चा भक्त और निजानन्द धर्मावलम्बी हो सकता है॥ १३॥

अस्तेयता नचागम्यागमनं त्विति चोदिते।
सुरापानाद्यधर्मस्तु वारितोऽधर्मसङ्गतिः॥ १४

गू०—अस्तेयतेति। अस्तेयता अचौर्यं चौर्यानाचरणेन वांछितोत्तमरत्नलाभस्यादतोमनोमात्रेणापि परद्रव्योपादानापेक्षां न कुर्या-

च्चेति। तथोक्तं योगसूत्रे। अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नोपस्थानमिति। तु पुनरगम्याः गुर्वादिस्त्रियः स्वविवाहितभिन्नस्त्रियो वा तासु गमनं च न करणीयमित्युभे चोदिते प्रेरिते कथित इत्यर्थः। सुरापानादियोऽधर्मस्तु पुनः नास्तिधर्मो येषां तेऽधर्मिण आसुरा जीवास्तेषां संगतिः संगो वारितो निवारितः। तथाच स्मृतिः। "ब्रह्म हत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह" इति॥ १४॥

भा०—पर द्रव्य, पर धनको चुरानेकी इच्छा कभी न करे। अपनी स्त्रीके अतिरिक्त गुरु, आचार्य, मातृकुल, पितृकुल, इष्ट मित्र आदिकी स्त्रीके साथ गमन न करे। सदाकाल परस्त्रीको अगम्य समझे। मद्य मांस आदि अभक्ष्य द्रव्य और अधर्मी लोगोंके सत्संगका सदा परित्याग करे। कारण उपरोक्त कर्म सबसे बड़े अधम और निन्द्य माने गए हैं। मनुस्मृति (११–५४) में लिखा है कि—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥

अर्थः—ब्रह्महत्या करना, मदिरापान करना, गुरु आदि मान्यवर्गकी स्त्रीके साथ गमन करना, और इन कर्म करनेवालोंके संसर्गमें रहना, ये पांच कर्म महापातक—सबसे बड़े पाप गिने जाते हैं। अतः इनको कभी भूल कर भी न करे ॥ १४ ॥

अन्ये शास्त्रनिषिद्धा ये सन्त्यधर्मास्तु भूरिशः।
असत्यप्रमुखास्सर्वे वारिताः प्रभुणा किल ॥ १५

गू०—अन्ये इति। ये शास्त्रे शास्त्राचार्य्यैः निषिद्धा असत्य-

प्रमुखा अन्ये भूरिशोऽधर्मास्ते सर्वे प्रभुणा श्रीस्वामिना निवारिताः अतो निजानन्दानुयायिभिः श्रीमदुक्तरीत्येव वर्त्तितव्यमिति ॥१५॥

भा०—उपरोक्त कर्मोंके अतिरिक्त और भी शास्त्रनिषिद्ध कर्म—अर्थात् अधर्म हैं। जैसे—असत्य बोलना, जुवा खेलना, परनिन्दा परद्रोह आदि जो कर्म हैं कभी न करे, ऐसी स्वामीजीकी आज्ञा है ॥ १५ ॥

स्वामिप्रणीत-ग्रन्थेषु श्रद्धा कृष्णस्वरूपवत् ।
तेषां तु पूजनं सम्यगुपचारैः प्रकीर्त्तितम् ॥ १६

गू०—स्वामीति। स्वामिभिः प्रणीता ये ग्रन्था रास प्रकाशादयस्तेषु कृष्णस्वरूपवत् कृष्णस्वरूपसदृशी श्रद्धा कार्य्या तु पुनः तेषां रासाख्यादीनां ग्रन्थानां पूजनं सम्यगुपचारैः प्रकीर्त्तितम् ॥

भा०—स्वामी श्री प्राणनाथ प्रभुजीकृत जो रास, प्रकाश, षटऋतु, कलश, कीर्तन आदि ग्रन्थ हैं, उनमें श्रीकृष्णस्वरूपके समान विश्वास रखना चाहिये और उपचारपूर्वक उनका पूजन करना चाहिये ॥ १६ ॥

कर्त्तव्यं सर्वदा सद्भिरर्चनं तु सतो गुरोः ।
तमृते ब्रह्मविज्ञप्ति-र्दुर्घटा तु प्रतीयते ॥ १७

गू०—कर्त्तव्यमिति सतो गुरोरर्चनं पूजनं सर्वदा सद्भिः कर्त्तव्यमेव। अस्ति हि सद्गुरूपासनं कैवल्यप्रतिपत्तिद्वारम्। सद्गुरुप्रसादाद्धि तारतम्यावकलितब्रह्मविज्ञानं जायतेतराम्। तदनुकैवल्यमुक्तिर्लभ्यते। तथाच श्रुतिः 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति'। 'ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैरिति'। तथाच सद्गुरूपासन प्रदर्शिकेयं श्रुतिः। तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूति-

काम इति । एवं भागवतेऽप्युक्तं " एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः । विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तस्संपद्य चात्मानमथस्त्यजास्त्रमिति । हि यतः तं सद्गुरुमृते विना—ब्रह्म विज्ञप्तिर्दुर्घटा प्रतीयते । एतत्प्रमाणमधस्ताद्दर्शयिष्यते विजितेत्यत्र ॥ १७ ॥

भा०—प्रत्येक धर्मिष्ठ स्त्री पुरुष अपने सद्गुरुका पूजन करना कर्तव्य समझें । क्योंकि सद्गुरुके बिना ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होना दुर्लभ है । अतः ब्रह्मज्ञानके लिये सद्गुरुकी शरणमें जावें । श्रुतिमें लिखा है कि— " तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् " ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको समझनेके लिये ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरणमें समित्पाणि—समिधा—लेकर जावे। "तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः " इत्यादि श्रुति भी आत्मज्ञान देनेवाले गुरुकी पूजा करनेका विधान करती है । भागवत (११–१२–२४) में भी लिखा है कि—

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः संपद्य चात्मानमथस्त्यजास्त्रम् ॥

अर्थः—इस प्रकार सदगुरुकी उपासनारूप भक्ति द्वारा ज्ञानरूप तीक्ष्ण कुठार—फरसा—से धीर पुरुष जीवात्माके अज्ञानका छेदनकर आत्माको प्राप्त करे और अन्तमें उस ज्ञानरूप अस्त्रकाभी परित्याग कर ब्रह्मानन्दमें विचरने लगे । इत्यादि प्रमाण सद्गुरुकी उपासनाका विधान करते हैं । इसका कारण यह है कि—सद्गुरुकी—उपासना—भक्तिके बिना सद्गुरुकृपा और सद्गुरुकृपा बिना तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

आचार्य्यवान्हि पुरुषो वेद श्रौत प्रमाणतः ।
ब्रह्मविद्ब्रह्मभवति श्रुतेरत्रास्ति संगतिः ॥ १८

गू०—मूलेऽपि श्रुत्यन्तरं दर्शयति आचार्य्येति। आचार्य्यवान् पुरुषो वेदेति श्रौतप्रमाणमत्रानुकूलम्। ननु सद्गुरूपासनं विना सद्विवेकः विज्ञानं दुर्घटं, ज्ञानं विना कैवल्यप्राप्तिश्च दुर्लभेत्युक्तं तत्र सद्गुरूपासने कीदृग्विधो भावः कर्त्तव्य इतिचेत्तत्राह ब्रह्मज्ञे गुरौ ब्रह्मवद्भावः कर्तव्य इत्याशयेनात्रेमां श्रुतिं संगमयति ब्रह्मविद्ब्रह्मैवभवतीति

भा०—"आचार्यवान्पुरुषो वेद" इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिकी प्रतीक देकर इस बातको सिद्ध किया गया है कि—आचार्यवान्—सदाचारी पुरुष ही उस ब्रह्मको जान सकता है और सद्गुरु सेवाके बिना सदाचरण पूर्ण नहीं होता अतः सद्गुरु सेवाको परम्परया ब्रह्मप्राप्तिका मुख्य कारण मानना चाहिये। सद्गुरुकी पूजा किस प्रकार करे, इस विषयमें "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ" इत्यादि श्रुति ब्रह्म और गुरुको समानरूपसे पूजनेकी आज्ञा देती है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुति भी ब्रह्मज्ञ गुरुको ब्रह्मसमान वर्णन करती है, अतः मुमुक्षु पुरुषको उचित है कि परमात्माके समान सद्गुरुकी पूजा—उपासना—करे ॥ १८ ॥

श्रीमद्भागवते स्कंधे दशमे चोत्तरार्द्धके।
सप्ताशीतितमेऽध्याये मुनिनोक्तं परीक्षिते ॥ १९
विजितेत्यादि वाक्येऽयं जितप्राणेन्द्रियोऽपि चेत्।
अध्यातगुरुपादाब्जः संसाराब्धौ निमज्जति ॥ २०

गू०—श्रीमदिति। भगवान् निरतिशयाखण्डैश्वर्य्यसंपन्नस्तस्येमे जना भागवताः परमहंसाः परमहंस्यो वा तेषां श्रीमदिदं रहस्यं श्रीमद्भागवतं तस्मिन् श्रीमद्भागवते। मुनिना शुकदेवेन परीक्षिते परीक्षिन्नाम्ने महाराजाय 'विजितहृषीकेत्यादि यद्वाक्यं भागवते

उक्तं तत्रायं भावः यथोच्यते । जितानि प्राणा वायव इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि येनासौ जितप्राणेन्द्रियोऽपि चेन्न ध्यातौ गुरोः पादाब्जौ येन अध्यातगुरुपादाब्जः पुमान् संसार एवाब्धिस्तत्र निमज्जति विजितप्राणेन्द्रियोऽपि सद्गुरुचरणसेवां न कुरुते चेत्तर्हि संसार-सागरे निमज्जत्येवेति भावः । भागवतस्थोऽयं श्लोकः 'विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः । व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधाविति ॥ १९ ॥ २० ॥

भा०—भागवत (१०-८७-३३) में "विजितहृषीकवायुभिः" इसमें शुकदेवजीने लिखा है कि—प्राण इन्द्रिय मन आदिको जीतनेके लिये सद्गुरुके चरणका आश्रय छोड़ कर अन्य साधनोंमें दुःख उठाते हुए जो प्रयत्न करते हैं, वे अनेक दुःखोंसे व्याकुल होकर संसार—सागरमें डूबते हैं अर्थात् संसारसे पार नहीं हो पाते। कहनेका आशय यह है कि—इस जगतमें सबसे उत्तम आराधना करने योग्य कोई देव है तो एक सद्गुरु है । सद्गुरुकी उपासनासे ही कैवल्यमोक्ष प्राप्त होता है ॥ १९-२० ॥

यथावणिक् समारूढो नावं सिंधोस्तितीर्षया ।
कर्णधारमृते शश्वन्निमज्जाति सरित्पतौ ॥ २१

गू०—अत्रायं दृष्टान्तो भागवतस्थ श्लोकार्थानुसारेणोच्यते । यथेति यथासिंधोस्तितीर्षया सिंधुं तरितुमिच्छयेत्यर्थः । सिंधोरत्र-तु कर्मणिषष्ठी । नावं नौकां समारूढोऽत्र 'गत्यर्थाकर्मकेति कर्तरिक्तः । वणिक् व्यापारकर्ता कर्णधारमृते विना सरित्पतौ समुद्रे शश्वन्निरंतरं निमज्जति प्लवते तथैव सद्गुरुमृते जीवोऽपि देहनौकामारूढः संसार-सिन्धौ निमज्जतीति विभावनीयम् ॥ २१ ॥

भा०—जैसे सागरके पार होनेकी इच्छावाले नौका-जहाज पर चढ़े हुए व्यापारी लोग कर्णधार—नौका चलानेवालेके बिना समुद्रमें डूब मरते हैं, उसी प्रकार सद्गुरुके बिना संसार सागरसे पार होनेकी इच्छावाले मनुष्य भवसमुद्रमें डूब मरते हैं अर्थात् पार नहीं हो पाते ॥ २१ ॥

एकादशेऽपि भगवानुक्तवानुद्धवाय च ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्त-मुपासीत तु मत्परः ॥ २२

भा०—भागवत एकादश स्कन्धमें भगवानने सद्गुरुकी महिमाका वर्णन करते हुए उद्धवके प्रति कहा है कि—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

हे उद्धवजी! आचार्य-सद्गुरुको मेरे समान समझे अर्थात् पूजन करे, सेवा सुश्रूषा करे और कभी भी अपमान न करे। गुरुको मनुष्यबुद्धि-वाला समझ निन्दा न करे। क्योंकि सद्गुरुके शरीरमें सब देवोंका निवास है इसलिये सद्गुरुको सर्वदेवमय समझ उसकी सेवा करे ॥ २२ ॥

श्वेताश्वतरश्रुत्यैवं घुष्यते परमार्थतः ।
गुह्याशयप्रकाशस्तु ब्रह्मवद्गुरुभक्तिषु ॥ २३

यस्य देवे पराभक्ति-र्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२४

गू०—तत्रेयं श्रुतिः। यस्येति मूलेस्पष्टा। देवे परमात्मनि यस्य परा प्रेमलक्षणा भक्तिर्यथा देवे भक्तिस्तथा गुरौ चेत्तस्य, महानात्मा

बुद्धिर्यस्य तथाभूतो महाबुद्धिस्तस्यैते उपनिषद्विद्यायां कथिता अर्था ब्रह्मविद्यातिरहस्यार्थाः प्रकाशन्ते नेतरेषामिति ॥ २४ ॥

भा०—श्वेताश्वतर श्रुति भी इसी प्रकार उपदेश करती है कि—ब्रह्मके समान जिसकी गुरुमें परा भक्ति है उसीके हृदयमें गुप्त—गूढ़ अर्थका प्रकाश होता है। यथा—

यस्य देवे पराभक्ति-र्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेता० उ० ६-२३)

अर्थः-जिसकी देवमें परा-प्रेमलक्षणा भक्ति है और जैसी परा भक्ति देवमें है उसी प्रकार गुरुमें परा-सर्वोत्कृष्ट भक्ति है उसीके हृदयमें ब्रह्म-सम्बन्धी गुह्य अर्थोंका प्रकाश होता है, अन्यके नहीं। मनुस्मृतिमें भी "आ-चार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः [मनु० २-२२६] आचार्य-गुरुको साक्षात् परमात्मा समान बताया है ॥ २३ ॥ २४ ॥

अतस्सद्गुरु सेवा तु वाङ्मनःकायतः सदा।
ब्रह्मवत्सुधिया कार्य्या संसारान्मुक्तिमिच्छता ॥२५

भा०—इसलिये दुःखरूप जगतसे मुक्त होनेकी इच्छा रखने-वाले पुरुषका कर्तव्य है कि-सदाकाल तन, मन, धन, तथा वाणीद्वारा सद्-गुरुकी सेवा सुश्रूषा; अर्चन वन्दन; भावभक्ति पूर्ण प्रेमसे करे और सदाकाल ब्रह्मके समान समझे ॥ २५ ॥

पिबेत्कर्णपुटैर्नित्यं वाणीममृतरूपिणीम्।
शाम्यन्ति कलिदोषा वै यस्याः श्रवणतः खलुः ॥ २६

गू०—पिबेदिति। सद्गुरुसेव्यमृतरूपिणी सद्गुरोर्वाणीमत्र सद्गुरोरित्यध्याहारः। नित्यं प्रतिदिनं कर्णपुटैः पिबेत्। यस्याः वाण्याः श्रवणतः श्रवणाद्धै कलिदोषा मोहमत्सरादयः शाम्यन्ति शान्ता भवन्ति खलु। श्रीमुखोक्तवाणीरसं ये प्रत्यहं श्रवणपुट द्वारा पिबन्तो नमस्कुर्वन्ति ते कृतकृत्याः इत्यत्र प्रमाणं भागवते दशमस्कन्ध पूर्वार्द्धे "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्। स्थानेस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित ! जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्"। अस्यार्थः स्थाने स्वाश्रमे स्थिता ये ज्ञाने प्रयासमुदपास्य त्यक्त्वा सद्भिः परमहंसैर्मुखरितां कथितां श्रुतिगतां श्रवणप्राप्तां भवदीयवार्तां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्ते नमस्कुर्वन्त एव जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति तैः हे त्रिलोक्यामप्यजित! प्रायशो बाहुल्येन त्वं त्रिलोक्यामजितोऽपि जितोसीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

भा०—सद्गुरुकी अमृतरूपी वाणीका श्रवणद्वारा पान करनेसे कलियुगके सब दोष शान्त हो जाते हैं। जो सद्गुरुकी अमृतमयी वाणीका श्रवणपुट द्वारा पानकर उसे प्रणाम करते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं। भागवतमें लिखा है कि—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोप्यसि-
तैस्त्रिलोक्याम् (भाग०१०—१४—३)

अर्थः—स्थानमें स्थित अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रममें स्थित जो मनुष्य ज्ञान सम्पादनके प्रयासको छोड़कर सत—परमहंसोंके मुखारविंदसे निकली हुई और कानोंमें पड़ी हुई वाणीको शरीरसे, वचनसे और

—: भावार्थ :—

मनसे नमन करते हुए श्रवण करते हैं । हे अजित ! वे आपको जीत लेतें हैं अर्थात् हे कृष्ण ! आपको त्रिलोकीमें कोई जीत नहीं सकता परन्तु परमहंसोंके मुखसे निकली हुई आप—कृष्णकी लीलासे मिश्रित वाणीको श्रवण करनेवाले तथा तन, मन, धनसे नमन करनेवाले आपको भी वशमें कर लेते हैं " इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि—महात्माओंके मुखसे अथवा सद्गुरुके मुखसे निकली हुई ज्ञानमय वाणीके रसको पान करनेवाले ही कृतकृत्य समझे जाते हैं ॥ २६ ॥

मननं कृष्णवार्त्ताया-स्ततः कुर्य्यात्सदा सुधीः ।
कुतः कोऽहं समायातस्तरिष्यामि कदार्णवम् ॥
ततो निश्चिनुयात्प्रेमी कृष्णस्यास्मि प्रियेत्यहम् ।
तद्धाम्नोऽत्र वियुज्येतो गन्तास्मि तदनुग्रहात् ।२८

भा०—बुद्धिमानको उचित है कि—कृष्णलीलाके श्रवणानन्तर उसका मनन करे और मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, किसप्रकार संसारसागरके पार पहुँचूं गा ? इत्यादि मनन द्वारा आत्माका निश्चय करे । तत्पश्चात् निश्चयपूर्वक दृढ़ करे कि—मैं कृष्णप्रिया हूं, परमधामसे यहांपर प्राप्त हो वियोग दशाका अनुभव कर रहा हूं और पुनः कृष्णकृपासे ही निजधामको जाऊंगा, इस प्रकार निश्चय करे ॥ २७ ॥

कदा कर्षसि मां कृष्ण ! मग्नं संसारसागरे ।
उद्धरोद्धर ! दह्यन्तं वियोगाग्नौ दयार्णव ! ॥ २६

भा०—उपरोक्त प्रकारसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अनन्तर परमात्मासे बार बार प्रार्थना करे कि—हे नाथ ! संसार सागरमें

—: भावार्थ :—

डूबे हुए मुझको कब खींचोगे। हे दयासागर! वियोगरूप अग्निमें जलते हुए मेरा उद्धार करो ॥ २६ ॥

यावद्भवान्मयाज्ञातो मिथ्या देहाभिमानिना।
तावदेवाऽभ्रमं घोरे जगति स्वाप्निके वृथा ॥ ३०
तारतम्यानुग्रहेण त्वामात्मानं च ज्ञातवान्।
कथं वियुक्तस्तिष्ठामि क्षणं प्राणेश्वरेण ते ॥ ३१

गू०—कुतो वियोगाग्निस्त्वां तापयतीति चेत्तत्राह। यावदिति मिथ्या देहेऽहमित्यभिमानोऽहंकारोऽस्त्यस्य तेन मया यावत्पर्यंतं भवान् स्वामित्वेन न ज्ञातस्तावत्स्वाप्निके जगति वृथैवाभ्रमम्। त्वामजानन्नेवादौ वियोगदुःखं नान्वभवमिदानीं तु त्वदाज्ञया प्रबुद्धोऽस्मीत्यतो वियोगाग्निस्तापयतीति भावः ॥ ३० ॥

भा०—हे पतितपावन! हे दीनबन्धो! मिथ्यादेहमें अभिमान रखनेवाला मैं आजतक आपको नहीं जान सका, इसलिये अबतक स्वप्नरूप जगतमें वृथा घूमता रहा। परन्तु हे भक्तवत्सल! तारतम्यके अनुग्रहसे आपको और अपने स्वरूपको यथाकथंचित्—जैसे तैसे महामुश्किलसे समझ सका हूं। इसलिये, हे दयालो! प्राणोंके पति आपको छोड़कर क्षणमात्र भी भिन्न रहनेको किस प्रकार समर्थ हो सकूं ॥३०–३१॥

इत्थं वियोगजं दुःखं शनैरुत्पद्यते हृदि।
वियोगाग्नौ हुतास्सर्वे मला भस्मीभवन्ति हि ॥३२

भा०—इस प्रकार जब वियोगजन्य दुःख धीरे धीरे हृदयमें उत्पन्न होने लगता है तब सम्पूर्ण पाप वियोगरूप अग्निमें भस्म हो जाते हैं ॥३२

तदात्मा निर्मलीभूय वह्नितप्तसुवर्णवत् ।
परात्मनि विलीनोऽसौ स्वरूपं परिपश्यति ॥३३

भा०—जब तपे हुए सुवर्णके समान आत्मा निर्मल हो परात्मस्वरूपमें लीन हो जाता है तब परमात्म तत्त्वको यथार्थ देखता है, तहांतक नहीं ॥

परात्मनिष्ठश्शुद्धात्मा स्वरूपं ब्रह्मणः परम् ।
निरीक्षते च रमते ब्रह्मणा सह धामनि ॥ ३४

गू०—परात्मनिष्ठ इति । परात्मा निजमूलस्वरूपं तत्र निष्ठा यस्य सः शुद्धात्मा ब्रह्मणोऽक्षरातीतस्य परं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं निरीक्षते परिपश्यति निरीक्ष्य च धामनि दिव्यब्रह्मपुरे ब्रह्मणा सह रमते क्रीडतीत्यर्थः "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति श्रुतेः स तत्र पर्य्येति यक्षन् क्रीडन् रममाण इति श्रुत्यन्तराच्च । एतदग्रे श्रुतिसूत्र-प्रमाणमिश्रमूलश्लोकद्वारा प्रतिपादयिष्यते ॥ ३४ ॥

भा०—जब जीवात्मा परात्मामें जाग्रदवस्थाको प्राप्त होता है तब ब्रह्मके स्वरूपको देखने लगता है और निजधाममें ब्रह्मके साथ विचरते हुए आनन्दको भोगने लगता है ॥ ३४ ॥

सोऽश्नुते इति श्रुत्या तु तदेव प्रतिपाद्यते ।
केचिन्मुक्तावभावं हि मन्यन्ते मुनिपुङ्गवाः ॥ ३५
तन्न युक्तं व्याससूत्र प्रमाण–प्रतिपादनात् ।
संकल्पादेवास्य श्रुते–रितिसूत्रेण चोदितम् ॥ ३६

गू०—तदिति । तन्मुक्तस्वरूपाभावत्वकथनं न युक्तं कुतो व्याससूत्रप्रमाणप्रतिपादनात् कथं व्याससूत्र-प्रमाणमित्यपेक्षायामाह 'संकल्पादेव तु तत्-श्रुतेरिदं सूत्रं एतत्सूत्रेण चोदनात् कथनात् सूत्रार्थस्त्वित्थं अस्य संसारान्मुक्तस्यात्मनः संकल्पात् मनसीप्सामात्रादेव सर्वं भोग्यं वस्तु लभ्यते कुतस्तत्—श्रुतेः श्रुति प्रमाणादिति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥

भा०—श्रुतियोंमें लिखा है कि मुक्तात्मा पुरुष ब्रह्मके साथ अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता है। यथा—" सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तैत्ति० वल्ली २-१) अर्थः—वह मुक्तपुरुष ब्रह्मके साथ सब कामोंको भोगता है। छान्दोग्य श्रुति भी ब्रह्मके साथ मुक्तात्माओंके आनन्द विहारका वर्णन करती है। यथा—" स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्जनैः सह (छां० ८-३-१२) अर्थः—ब्रह्मधाममें पहुंचनेके अनन्तर वह मुक्तपुरुष स्त्रियोंके साथ अथवा जनोंके साथ हँसते हुए, खेलते हुए, रमण करते हुए विचरता है। इत्यादि प्रमाणोंसे मुक्तजनोंका ब्रह्मके साथ आनन्द विहार सिद्ध होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि—मुक्तिमें आत्माके स्वरूपका अभाव रहता है। " अभावं बादरिराह ह्येवम् (ब्रह्म सू० ४-४-१०) इत्यादि ब्रह्मसूत्र पराशर ऋषिके मतमें मुक्तात्माके स्वरूपका अभाव प्रतिपादन करता है परन्तु यह मत श्रुतिसम्मत नहीं है। क्योंकि " स एकधा भवति त्रिधा भवति (छां० ७-२६-२)" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति एकधा, त्रिधा होना वर्णन करती है इसलिये 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् (ब्रह्मसूत्र ४-४-११) इत्यादि सूत्रमें व्यासजीने ब्रह्मधामस्थ आत्माओंके स्वरूपका भाव बताया है और " संकल्पादेव तु तत्-श्रुतेः (ब्रह्म० ४-४-८)" इत्यादि-सूत्रसे आत्माके भोगको संकल्प-सिद्ध माना है। क्योंकि " संकल्पादे-

—: भावार्थ :—

वास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति (छां० ८–२–१) छान्दोग्य श्रुति संकल्पमात्रसे सब भोग्य वस्तुओंका प्राप्त होना बताती है। अत एव मुक्तात्माओंका ब्रह्मसे पृथक् स्वरूप मानना चाहिये॥ ३५–३६॥

अतएव चानन्याधिपतिः सूत्रेण शासितम्।
एकाधिपत्यं मुक्तानां प्राप्तानां ब्रह्मधामनि॥ ३७
भोगमात्र साम्यलिङ्गादिति सूत्रेण रूपितम्।
पृथक्स्वरूपं मुक्तानां क्रीडतां ब्रह्मणा किल॥३८

भा०—“अतएव चानन्याधिपतिः (ब्रह्मसू० ४–४–९)” इस ब्रह्मसूत्रमें व्यासजीने मुक्तिधामस्थ आत्माको अनन्याधिपति बताया है अर्थात् ब्रह्मलोकमें आत्मा स्वतंत्ररूपसे विचरता है। “स स्वराड् भवति [छां० ७–२५–२]” इत्यादि श्रुति भी वर्णन करती है कि—मुक्तात्मा स्वराड्—स्वतंत्र अथवा स्वरूपसे शोभाको प्राप्त होता है। “भोगमात्र-साम्यलिङ्गात्” [ब्रह्मसू० ४–४–२१] पदार्थोंके भोगमात्रमें समानरूप होनेसे” इत्यादि ब्रह्मसूत्रसे भी यही सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा ब्रह्मसे पृथक् रहकर आनन्द भोगते हैं॥ ३७॥ ३८॥

अभावं बादरिर्वक्ति भावं यद्यपि जैमिनिः।
बादरायण इत्याह तूभयस्मृति सङ्गतिः॥ ३९

गू०—अभावमिति अत्र सूत्रे ‘अभावं बादरिराह ह्येवं’ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्” तत्र भगवान् बादरायण उभयपक्षावलम्बन-श्रुत्योस्संगतिमाह तत्रेदं सूत्रं “द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः” इति दिव्याकाराणां संकल्पप्राधान्यात्क्वचिदशरीरत्वेऽपि न दोष इति

—: भावार्थः —

भा०—बादरि आचार्य मुक्तात्माओंके स्वरूपका अभाव मानते हैं और जैमिनि आदि दूसरे आचार्य स्वरूप मानते हैं। जैसाकि "अभावं बादरिराह ह्येवम्" "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" इन दोनों सूत्रोंद्वारा बताया गया है। परन्तु व्यासजी कहते हैं कि दोनों मंत संगत हो सकते हैं क्योंकि ब्रह्मधाममें मुक्तात्माओंकी लीला इच्छामात्र प्रधान है। नित्य-विग्रहवाले मुक्तात्माओंका कहीं लीलामात्रके लिये स्वरूपका अभाव भी देखनेमें आता है। इसलिये व्यासजी लिखते हैं कि—"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः [ब्रह्मसू० ४–४–१२] अर्थः—द्वादशाह यज्ञके समान मुक्तात्माओंको दोनों प्रकारका मानना चाहिये अर्थात् जैसे द्वादशाह यज्ञ जब बहुतसे यजमानोंके संकल्पसे किया जाता है तब उसका नाम 'सत्र' होता है और जब एकही यजमानद्वारा किया जाता है तब उसे 'अहीन' यज्ञ कहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मधामके मुक्तात्माओंका नित्यविग्रह उनके सत्यसंकल्पानुसार दोनों + प्रकारका मानना चाहिये अर्थात् वे जैसा संकल्प करते हैं उसीके अनुसार हो जाता है। क्योंकि वहांपर सब पदार्थ सत्यसंकल्पमय हैं ॥ ३९ ॥

अभावे सुखसम्प्राप्ति रखिला नानुभूयते।
अतः स्वरूपकथनं युक्तं निश्चीयतां हृदि ॥४०

टिप्पणी.

+ ब्रह्मधाममें मुक्तात्मा नित्यविग्रह युक्त होते हुए संकल्प मात्रसे विग्रहरहित कैसे हो जाते होंगे? वहांके नित्यविग्रहका अभाव किस प्रकार हो जाता होगा? इस प्रकारके कुतर्कमें न पड़ना चाहिये। क्योंकि जब यहांपर स्वल्पशक्तिवाले योगी लोग अनन्तरूप धारण कर सकते हैं और अदृश्य हो जाते हैं तब ब्रह्मधाममें तो मुक्तात्मा अनन्त शक्ति-

भा०—मुक्तात्माओंके स्वरूपका अभाव मानें तो ब्रह्मानन्दके सुखका पूर्णतया अनुभव भी न हो सकेगा। अतएव मुक्तात्माओंका दिव्याकार मान लेना ही योग्य है ॥ ४० ॥

तन्वेतिशास्त्रद्वितयमुक्त्वा व्यासो मुनीश्वरः ।
मुक्तानां तु पृथग्रूपं दर्शयामास तत्त्वतः ॥ ४१

भा०—व्यासजीने दोनों मतोंका संगतिकरण करनेके बाद जीवोंका स्वरूप ब्रह्मसे पृथक् दिखाया है । इस परसे भी जीवोंका पृथक् स्वरूपसे रहना सिद्ध होता है । यथा—"तन्वभावे सन्ध्यवदुपपद्यते [ब्रह्मसूत्र० ४–४–१३] अर्थ—शरीरके अभावमें सन्ध्यवत्--स्वप्नके समान सुख होता है और " भावे जाग्रद्वत् (ब्रह्मसू० ४--४--१४) शरीरके भावमें जाग्रतके समान सुख होता है। इन सूत्रोंके देखनेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्मधाममें मुक्तात्माओंका नित्यविग्रह ब्रह्मसे पृथक् रहता है और उसीके द्वारा वे ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हैं ॥ ४१ ॥

एवं प्रमाणैर्बहुभी रमणं परमात्मना ।
मुक्तानां सिद्धमित्याहुस्सुधियो वेदपारगाः ॥ ४२

टिप्पणी

सम्पन्न हो जाता है उसकी तो अव्याहत गति मानी गई है । वह तो अपने सत्य संकल्पानुसार सब प्रकारका हो सकता है । ब्रह्मधाममें नेत्रबन्ध आदि लीलाके समय अन्तर्ध्यान आदिमें विग्रहरहित होना उनकी इच्छानुसार योग्य है । इससे किसीप्रकार विरोध नहीं मानना चाहिये और न ब्रह्मधामके वा मुक्तात्माओंके विषयमें तर्क करना चाहिये क्योंकि अचिन्त्य विषयमें तर्क करनेका (म० भीष्म पर्व ५–१२ में) निषेध लिखा है कि-

भा०—पूर्वोक्त बहुतसे प्रमाणोंसे नित्य, मुक्त शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव ब्रह्मप्रियाओंका अक्षरातीत ब्रह्मके साथ लीलाविहार करना पाया जाता है, ऐसा वेदपारदर्शी महात्मा लोग कहते हैं ॥ ४२ ॥

श्यामाश्याम! महाराज! राज कृष्णेति कीर्त्तयेत्।
जपेदतन्द्रितो नित्यं शुचिर्मन्त्रवरं किल ॥ ४३

गू०—ईदृक्कैवल्यमुक्ति प्रतिपत्त्यर्थं परमात्मभजनं तु यावज्जीवं बारम्बारं कर्त्तव्यमित्याह । श्यामेति श्यामा स्वामिना श्रीकृष्णान्तःकरणात्मिकेत्यर्थः । तया सहितः श्यामः श्यामाश्यामस्तत्संबुद्धौ हे श्यामाश्याम ! पुनर्महतां परमहंसानामक्षरस्य वा राजा महाराजः 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' पुन राजते प्रकाशत इति राजः राजृदीप्तावस्मात्पचाद्यजित्यच् यद्वा राजयति परमहंसानितिराजः । कृष्णनाम्नो व्याख्या कृतपूर्वा । स्पष्टमन्यत् । पुनरतन्द्रित आलस्यरहितश्शुचिः पवित्रः सन् मन्त्रराजं नित्यं निरन्तरं जपेत् ॥

भा०—कैवल्य मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि-हे श्यामाश्याम ! हे राजश्यामा ! हे धामधनी ! इत्यादि नामोंसे मरण प-

---

टिप्पणी.

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

अचिन्त्य भावोंको तर्कसे न सिद्ध करे । प्रकृतिसे पर जितने भाव-विषय-हैं वे अचिन्त्य कहे जाते हैं । कहनेका भाव यह है कि प्रकृतिसे पर पदार्थोंके विषयको केवल तर्कका आधार लेकर समझनेका प्रयत्न करना योग्य नहीं । उसे तो विश्वासपूर्वक शास्त्र और गुरुके वचनानुसारही मान लेना चाहिये ।

इतिश्री-आनन्दसागरस्याष्टमतरङ्गस्य पण्डित कृष्णदत्तशास्त्रिकृता तरङ्गदीपिका टिप्पणी समाप्ता ॥ ८ ॥

—: भावार्थ :—

र्यन्त परमात्माका बार बार भजन करे और आलस्य रहित पवित्र होकर नित्यप्रति मन्त्रोंमें उत्तम 'तारतम्य' मन्त्रका जाप किया करे ॥ ४३ ॥

तारतम्यं जपेन्नित्यं विधिना पूतविग्रहः ।
तस्य कार्याणि सिद्ध्यन्ति यानि कामयते नरः ।४४

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति पण्डित कृष्णमणि-
शर्म्मसूरिविरचितस्यानन्दसागरस्याष्टमस्तरङ्गः ॥८

गू०—पूतो विग्रहो यस्य तथाभूतो नित्यं प्रत्यहं विधिना शुभासनादि विधानेन तारतम्यं जपन् सन् वर्त्तेत चेत्तर्हि नरो यानि कार्याणि लौकिकालौकिकानि कामयते इच्छति तानि सर्वाणि सिद्ध्यन्ति ।

इति श्रीनिजानन्दस्वामिमतवर्त्ति कृष्णमणिशर्म्मसूरि-
स्वकृतायां गूढार्थचन्द्रिकायामष्टमस्तरङ्गः

भा०—विधिपूर्वक पवित्र शरीर होकर जो तारतम्य मन्त्रका जाप करता है, वह जिन जिन कार्योंकी कामना करता है वे चाहे लौकिक हों या अलौकिक—सब सिद्ध होते हैं अर्थात् उसकेलिये लोक अलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ॥ ४४ ॥

इतिश्री—आनन्दसागरस्याष्टमतरङ्गस्य पंडित कृष्णदत्तशास्त्रिकृता
भावार्थदीपिका—आनन्दोल्लासिनी भाषाटीका समाप्ता ॥८

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ श्री महामतये नमः ॥

ग्रन्थकर्त्ताका जीवनचरित्र.

वन्दौं सद्गुरु चरणको करूं सु प्रेम प्रणाम ।
अशुभ हरण मङ्गल करण श्रीदेवचन्द्रजी नाम ॥

सज्जनो ! यहां पर कुछ शब्द ग्रंथकर्ताके जीवन चरित्रके सम्बन्धमें लिख रहा हूं जिससे आपको बहुतसी जीवन घटनाओंका परिचय होगा और ग्रन्थकर्ताके पवित्र जीवनको समझनेपर उनके ग्रंथकी वास्तविकताको भी पूर्णतया जान सकोगे ।

सद्विद्या भूषण श्री पं० कृष्णमणि शास्त्रीजीका जन्म पंक्तिपावन वसिष्ठ-गोत्रीय पं० व्रजभूषण प्रसाद त्रिपाठीजीके यहां विक्रम सं० १६३५ फाल्गुन शुक्ला ६ शनिबारको एक प्रहर दिन चढ़ते, शुभ मुहूर्तमें हुआ था । आप सहोदर तीन भ्राता थे । जिनमें सबसे जेष्ठपुत्र आपही थे ।

आपके पूर्वजोंने अग्निकुलावतंस श्रीमन्महाराजाधिराज बान्धवेश रीवानरेश (बघेलखण्ड) को राजतिलक देकर अधराजी (आधाराज्य) पद प्राप्त किया था । जिनके वंशज वर्तमानकालमें भी रीवानरेशके साथ भ्रातृभाव रखते हुए उनके कृपापात्र हैं । राजसम्मानित होनेके कारण अनेक प्रकारके पुरस्कार, भूमिदानादि आजतक प्राप्त किया करतें हैं; यहांतक कि रीवानरेश आजदिन भी इनको विश्वासपात्र और मान्य समझते हैं ।

आपके पिता उदारशील और प्रभावशाली व्यक्ति थे । जिन्होंने अपने पिता बलभद्रप्रसाद तिवारीके नामसे सबके लाभार्थ एक जलाशय-तालाव और एक संस्कृत विद्यालयका निर्माण वि० सं० १६४० में किया था । विद्यालयमें स्वयं छात्रवृत्ति देकर छात्रोंको पढ़ाते थे । इसी विद्यालयमें कृष्णमणिजीने संस्कृतका अभ्यास किया था । आप बाल्यकालसेही

बड़े चतुर और होनहार देखनेमें आते थे। भक्तिका अंकुर तो वंशपरम्परासे ही प्राप्त था। बालकोंके साथ तालावपर जाकर खेलते थे तो भी आमके पत्तोंसे पूजाका मंदिर बनाकर पूजन करते थे और बनफलोंका भोग लगा प्रसाद बांटा करते थे। गाँवके पास एक प्रयागदासजी नामके महात्माकी कुटी थी, जहांपर सायं प्रातःकाल जाते थे और सन्ध्या आरतीमें सम्मिलित हुआ करते थे। लगभग १५ वर्षकी अवस्थामें ही आप इतने प्रवीण हो गए थे कि व्याकरण, न्याय, काव्य कोशादिमें अपने सहपाठियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करने लगे थे। पूर्ण अभ्यासके बाद आपने कुछ समय तक शास्त्रोंका एकान्त मनन भी किया था जिससे आपको दर्शनादि विषय हृदयङ्गत हो चुके थे।

आपके विद्याध्ययन काल (११ वर्षकी अवस्था) में ही एक समय महात्मा प्रयागदासजीने भागवतके लिये आपको व्यासगादीपर पकड़ कर बैठा दिया। उस समयतक आपने गुरुमुखसे भागवतको नहीं सुना था अतः अपनी असमर्थता प्रगट करने लगे परन्तु महात्माजीने कहा कि–बच्चा घबड़ाओ मत, आजसे आपका हृदय खुल जायगा। महात्माजीके आशीर्वचनसे उसी दिनसे आपकी विद्या चमकने लगी और थोड़ेही समयमें आप अपने देशके एक प्रसिद्ध पंडित गिने जाने लगे। विक्रम सं० १९४९ में पिताके परमधामवासी होनेपर गृहका कार्यभार आपके ऊपर आ पड़ा और अध्ययन समाप्त हो गया परन्तु आपने अपने ध्येयको नहीं छोड़ा।

आप विक्रम सं० १९५६ में पंजाब गए थे। पंजाब जानेका कारण यह था कि–वहांपर निजानन्द संप्रदायके ऊपर आर्यसमाजी लोगोंका आक्रमण चिरकालसे हो रहा था। यहांतक कि वहांपर कई धर्मनिष्ठ साथी अपने धर्मसे विचलित हो आर्यसमाजी हो चुके थे और दिनोदिन इस दूषित समाजका प्रभाव आगे बढ़ता जा रहा था। इसका सबसे अधिक प्रभाव कमालिया [पंजाब] शहर पर पड़ा था। वहांके आर्यसमाजी प्रणामी लोगोंको अवैदिक कहकर जघन्य आक्षेप किया करते थे और समय २ पर सूचनाओंद्वारा शास्त्रार्थकी धमकी भी दिया करते थे। इस प्रकारके आक्रमणोंसे वहांकी प्रणामी जनता भयभीत हो निरुत्साह बन चुकी थी। अन्ततः प्रत्येक बातकी सीमा हुआ करती है।

जब देखा गया कि-आर्यसमाज किसी प्रकार सभ्यताका वर्ताव नहीं करता और दिनोंदिन दबाताही चला आ रहा है तो वहांके सुन्दरसाथने एक अन्तरङ्ग बैठक (प्राईवेट मीटिंग) कर आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थ करनेका प्रस्ताव पास किया। परन्तु दुःख यह था कि, पंजाबमें संस्कृत-विद्याका अभाव होनेसे अपने धर्ममें संस्कृतके विद्वान बहुत कम मिलते थे। दूसरे, ये लोग विद्या तथा विद्वानोंकी तरफसे हाथ खींच बैठे थे और विद्वानोंकी कदर करना नहीं जानते थे। अविद्यारूपी चादर ओढ़-कर आलस्यरूपी निद्रादेवीकी गोदमें सोना इन्हें बहुत अच्छा लगता था। इसीलिये अन्य मतवाले इन्हें दबाया करते थे।

जब शास्त्रार्थ करने योग्य कोई विद्वान अपनेमें इन्हें दिखाई न पड़ा तो सबकी सम्मतिसे महात्मा व्रजवासीदास और चौधरी चरनदासजी मिड्ढा श्री पद्मावतीपुरी (पन्ना) को रवाना हुए। वहांपर जाकर श्रीजीके दरबारमें प्रार्थना करने लगे कि—" हमारे पंजाब प्रान्तमें आर्य-समाजके प्रभावसे बड़े २ घरानेके साथी लोग आर्यसमाजी हुए जा रहे हैं और उन्हींके साथ मिलकर अपने धर्मका खण्डन करते हैं। इसलिये सुन्दरसाथकी तरफसे धर्मरक्षार्थ विद्वानोंकी मददकी जरूरत है "।

इस प्रार्थनाको सुन्दरसाथने कबूल कर फूलपुरनिवासी भैया स्थानके श्रीमहन्त श्री जगन्ननाथदासजी तथा श्री महन्त श्री दर्शनदासजीके नामसे एक पत्र लिखकर बाबाजी श्री व्रजवासीदासजी तथा चौधरी चरनदास-जीको देकर कहा कि-जाइये, वहांपर महन्तजीसे कहिये कि धर्मकी रक्षाके लिये कपिशाके विद्वानोंको हमारे साथ भेजिये, पंजाबमें शास्त्रार्थ करनेकी आवश्यकता है " ऐसा कह सुन्दरसाथने श्री पद्मावती पुरीसे दोनोंको भैयास्थानके लिये भेजा। दोनोंने भैयास्थानमें पहुंचते ही सुन्दरसाथका पत्र दे पूर्वोक्त प्रकारसे प्रार्थना की। धर्मकी दुर्दशा श्रवणकर महन्जीको बहुत कुछ दुःख हुआ; परन्तु धैर्यपूर्वक महन्तजीने कहा कि-आप घब-ड़ाइये नहीं, स्नान भोजन कीजिये। मैं विद्वानोंका प्रबन्ध किए देता हूं। ऐसा कह महन्त श्री जगन्नाथदासजीने एक पत्र कपिशाके लिये लिख दिया और कहा कि जाइये, वहांसे पं० श्री गोविन्दप्रसाद तथा पं० कृष्ण-

मणि और पं० राजमणि शर्माको ले जाइये । इसप्रकार महन्तजीकी आज्ञा ले कपिशा पहुचे । प्रथम आपका पहराव देखकर कपिशा गामके लोंगोंको आश्चर्य हुआ किंतु पता लगा कि-आप पंजाबके सुंदरसाथ हैं और धार्मिक शास्त्रार्थकी सहायताके लिये शरणार्थी हुए हैं, ऐसा जानकर बड़े आदर सत्कारके साथ बैठाया और आश्वासन दिया कि आप घबड़ावें नहीं । यह सुनकर आप बड़े प्रसन्न हुए और महन्तजीका लिखा हुआ पत्र देकर कुल हकीकत कह सुनाई । भोजनादिके बाद चलनेका विचार किया गया और सबसे प्रथम आप विद्वद् मण्डल सहित श्री पद्मावती पुरी आए । वहां पर पं० कृष्णमणिजीने गुम्मटजी (निजमंदिर) के पीछे आध घंटे तक एकाग्रचित्त हो प्रार्थना की और साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे ।

इस समय आपके नेत्रोंमें विद्युत्प्रकाश जैसी चमक भर गई और विदित होने लगा कि मानो कोई दैवी शक्ति इस प्रकारकी आज्ञा देती है कि " आप शीघ्र पंजाव जाओ, धर्मका विजय होगा " इस परसे आपको तत्काल अटल विश्वास हो गया कि श्रीजी अपना काम निमित्त रूपसे कर रहे हैं । इसके बाद आप श्री बँगलाजीमें गए वहांपर पहुंचतेही सुंदरसाथने बड़े प्रेमके साथ आपका सत्कार किया । दूसरे दिन सुंदरसाथने बड़े उत्साहके साथ आपको श्रीपद्मावती पुरीसे पंजाबके लिये विदा किया ।

चौधरी चरनदासजी तथा व्रजबासीदासजी एवं विद्वद्वर पं० कृष्णमणिजी तीसरे दिन लाहोर पहुंचे । वहांपर शेठ श्री गोविंदरामजी (वर्तमान श्री महंत श्री गोविंददासजी मलकाहांस) के यहां पर ठहरे । आप बड़े उदारचित और धर्मनिष्ठ पुरुष थे । आपने बड़े सत्कारके साथ शास्त्री कृष्णमणिजीको चार छः दिन तक ठहराया । एक दिवस अपने मनमें विद्वानोंकी परीक्षा करनेका विचार कर कालिजके एक सुपरिचित प्रोफेसरके साथ नदीके किनारे जाकर दर्शन विषयपर विवेचन कराया । अन्तमें प्रोफेसर जीने कहा कि लालाजी आपके शास्त्रीजी पूर्ण विद्वान और सभा करने योग्य हैं । सायंकाल सब लोग घर लौटे । इसके बाद भगत श्री मोतीलालजी (जो वहांपर वकालत करते थे) और चौधरी सुंदरदासजी (जो वहां पर कालेजमें पढ़ते थे) के साथ निश्चय

कर पंजाबके समस्त मंदिरधारी तथा सुन्दरसाथको मिन्टगुमरीमें एकत्रित होनेके लिये पत्र दिया गया और तदनुसार जब सब लोग + एकत्रित हुए, तब शास्त्री आदि सब लोग लाहोरसे मिन्टगुमरी पहुंचे। वहांपर एक साधारण सभा की गई। सभामें तारतम्यके विषयपर सुन्दरसाथका शास्त्री कृष्णमणिजीके साथ बहुत कुछ वादविवाद होता रहा अन्तमें शास्त्रीजीकी विद्वत्ताके प्रभावसे सब मुग्ध हो गए।

दूसरे दिन शास्त्रीजीकी विद्वत्तासे मुग्ध बने समाजने निश्चय किया कि आप अद्वितीय विद्वान हैं अतः इनको कमालिया ले जाकर आर्य-समाजके साथ शास्त्रार्थ कराना चाहिये और तदनुसार बड़ी धामधूमके साथ कमालिया पहुंचे भी।

कमालियाकी प्रणामी जनताने बड़े समारोहके साथ शास्त्रीजी तथा सुन्दरसाथका स्वागत किया। दूसरे दिन एक मीटिंग कर आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थका निश्चय किया गया। शास्त्रीजीने संस्कृत—भाषामें एक पत्र लिखकर आर्यसमाजके पास भेजा। जिसमें लिखा गया था कि आप लोग समय निश्चित कीजिये कि—निजानन्द सम्प्रदायानु-यायी–प्रणामीलोगोंसे आप कब और किस विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहते हैं।

यह पत्र जब आर्यसमाज कमालियाके पास पहुंचा तो समाजकी तर-फसे पं० पूर्णानन्दजी तथा पं० सादीरामजीने एक साधारण पत्र लिखकर भेजा। जिसमें लिखा था कि—" हमारे मान्य ग्रन्थ साङ्ग चार वेद, ब्राह्मण भाग तथा ६ दर्शन और दश उपनिषद, महाभारत, वाल्मीकि, सुश्रुत चरकके अतिरिक्त अन्य न होंगे और उसमें भी हम वेदको ही स्वतः प्रमाण मानेंगे, अन्यको नहीं। वेदोंपर भाष्य दयानन्द तथा सा-यणके अतिरिक्त अन्यको मान्य नहीं समझते। यदि आपको हमारे

+ एकत्रित होनेवालोंमें महात्मा अम्बरदासजी तथा भाई श्री ताराचन्द (कमालियाके गुरू) महंत श्री चरनदासजी, भाई श्री गोविं-दरामजी, तथा भगत मोतीलालजी वकील, तथा रायसाहेब सुन्दरलाल खुराना वगैरेके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मान्य ग्रन्थोंसे शास्त्रार्थ करना हो तो हम तयार हैं । पत्रका उत्तर मिलने पर नियम तय किये जा सकते हैं" आर्यसमाजका यह पत्र दूसरे दिन प्रणामीसमाजके पास आया। पत्र बिल्कुल अशुद्ध संस्कृतमें लिखा हुआ था जिसे देखते ही शास्त्रीने कह दिया कि ये लोग शास्त्रार्थ नहीं कर सकते और न इनमें कोई विद्वान है । तथापि एक दूसरा पत्र प्रणामी-समाजने लिख भेजा कि—यद्यपि हम पुराणादि सभी ग्रंथोंको प्रमाण मानते हैं परन्तु हम आपके मान्य ग्रन्थोंसेही शास्त्रार्थके लिये कटिबद्ध हैं; आप शीघ्र नियम लिखकर भेजें। इसके साथ एक दूसरा पत्र भी लिख दिया गया था जिसमें पुराण, गीता आदिकी वैदिकता सिद्ध करनेके लिये कुछ प्रमाण लिख दिये गए थे और साथही प्रणामी-धर्मके प्रत्येक विषयकी शंकाका समाधान करनेका चैलेंज भी दे दिया गया था कि हम सभी शंकाओंका समाधान करनेको कटिबद्ध हैं।

यह पत्र विद्वत्तापूर्ण और अकाट्य प्रमाणोंसे भरा हुआ था जिसे देख आर्यसमाजका धैर्य छूट गया और विद्वानोंके पैर उखड़ गए। आर्यसमाजके बहुत कुछ रोकने पर भी इनके पंडित बहाना बताकर मुलतान चले गए। आर्यसमाजकी ओरसे चोथे दिन प्रातःकाल एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि "दूसरी सभामें विशेष आवश्यकता होनेसे हमारे विद्वान मुलतान चले गए हैं और उनके आने पर शास्त्रार्थ किया जायगा"। इस पत्रके उत्तरमें प्रणामी धर्मकी ओरसे स्पष्ट लिख दिया गया कि—मालूम होता है कि, आर्यसमाज परास्त हो गया है और वह अब शास्त्रार्थ करना नहीं चाहता, इसलिये टाल मटोल करता है। इसके बाद आर्यसमाजका कोई पत्र नहीं मिला।

पाँचवें दिन प्रणामी धर्म-निजानन्द संप्रदायकी तरफसे पब्लिकमें सभा की गई। जिसमें विद्वानोंने आर्यसमाजकी गीदड़ धमकी तथा मैदान छोड़कर भाग जानेका रहस्य जनताको बतलाया और प्रणामीधर्मके सिद्धान्तोंका गौरव बताते हुए सर्वोपयोगी मार्गका पूर्ण रूपसे विवेचन किया। दूसरे दिनकी सभामें धार्मिक उपदेशके बाद प्रणामी समाजकी विजय घोषणा की गई और तदुपरान्त २० दिनतक विद्वान डटे रहे। प्रतिदिन शंकासमाधान व्याख्यान वगैरे होते रहे। जब आर्यसमाजका

कुछ भी विचार न देखा तो विद्वान लोग विदा होकर मिंटगुमरी होते हुए पाकपट्टन चले गए; परन्तु आर्यसमाजके विद्वान लौट कर न आए अतः वहांकी जनताने आर्यसमाजका पराजय खुली तौरसे समझ लिया और समाजकी कलई खुल गई।

पाकपट्टन–के महन्त श्री चरनदासजीने शास्त्रीजी तथा विद्वानोंका आगमन सुनकर बड़े समारोहके साथ स्वागत किया और गाते बजाते चौकमें ले गए जहां पर सभा मण्डप तयार किया गया था। वहां उपस्थित जनताके समक्ष धार्मिक विषय पर व्याख्यान हुए और तत्पश्चात् मंदिरमें स्वागत आसन दिया गया। यहां पर आठ दश दिन भजन, उपदेश, व्याख्यान आदिका खूब आनन्द रहा, बाद मलकाहांसके मेलाका समय नजदीक होनेसे महन्तजी सहित आप मलिका पधारे। मेलाके अवसर पर बड़े जोरोंके साथ धर्मका प्रचार होता रहा और एक संस्कृत विद्यालय खोलनेका प्रस्ताव भी पास हुआ परन्तु समयकी प्रतिकूलताके कारण कार्यरूपमें परिणत न हो सका। बादको आप टिब्बी, कबूला, बहावलनगर आदि स्थानोंमें उपदेश करते हुए निजस्थान रीवाको वापिस लौटे। इस यात्रामें पंजाबके सुन्दरसाथकी तरफसे शास्त्रीजीका प्रशंसनीय स्वागत हुआ।

आप वि० सं० १९६० में गुजरात प्रान्तमें उपदेशार्थ गए थे। चार छः नगरोंमें ही भ्रमण करने पाए थे कि किसी गृहकार्य वश आपको शीघ्रही पीछे लौट जाना पड़ा।

वि० सं० १९६२ में महन्त श्री पीताम्बरदासजीने सूरतमें मेलापर खास पत्र देकर आपको बुलाया था। सूरतके मेलापर आपने धार्मिक व्याख्यानोंसे अपूर्व जागृति उत्पन कर दी थी। वहांसे विदा होकर गणदेवी, बलसाड़ होते हुए आप मुम्बई पहुंचे।

वहांपर शेठ श्री लालजी डूंगरसी, तथा नारायणदास करसनदास आदि धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंने स्वागतपूर्वक आपको मंदिरमें उतारा दिया। चार दिनके बाद माधवबागमें–जो व्याख्यानके लिये प्रसिद्ध स्थान है वहां एक सभा की गई। जिसमें नगरके लोग बड़ी संख्यामें उपस्थित थे।

स्वलीलाद्वैत विषय पर आपने प्रभावशाली व्याख्यान दिया। साढ़ेसात बजेसे ग्यारह बजे तक व्याख्यान होता रहा। समाप्तिके बाद सभापतिने अत्यन्त प्रसन्नता प्रगट करते हुए पुनः फूलहार पहराकर धन्यवाद दिया। आप दशदिन तक बराबर उपदेश देते रहे जिसका जनता पर अपूर्व-प्रभाव पड़ा। बाद आपको देश जाना था अतः धर्मनिष्ठ लोगोंने बड़े उत्साहके साथ विदा किया और आप रीवा वापिस लौटे।

वि० सं० १९६३ में मकानपरही कुछ एकान्त मननका विचार कर आप बाहर नहीं गए। आपकी दिनचर्या बहुतही नियमित थी। प्रातः नित्य नैमित्तिक क्रियासे निवृत्त हो कुछ छात्रोंको थोड़ासा पाठ देते थे। इसके अतिरिक्त समस्त दिन वाणी, वचन तथा शास्त्रोंका मनन किया करते थे। इसी वर्ष पं० श्यामशरणजी काशीसे वेदान्तका अभ्यास करके आये थे और अपने घर पर रहते थे जो द्विविगवाँकी कुटीके पासमें है। अन्यधर्मियोंमें रहनेके कारण आपकी धर्मपरसे श्रद्धा हट गई थी। अतः धार्मिक परिपाटीसे सहमत नहीं होते थे। इससे महंत श्री दर्शनदासजीको अधिक दुःख था। इसलिये फागके मेलापर शास्त्री कृष्णमणिको बुलाकर उनके साथ वार्तालाप कराया। शास्त्रीजीने धार्मिक मर्मको बड़े ऊहापोहके साथ समझाकर पं० श्यामशरणजीको अटल श्रद्धा उत्पन्न कर दी। जिसके परिणामस्वरूप कुछ दिनतक साथमें रहनेकी जिज्ञासा प्रगट की और तदनुसार कपिशामें आप बहुत दिन तक रहे और तबसे आप धर्मके पूर्ण विद्वान गिने जाने लगे।

इसी दर्म्यानमें चरखारी नरेश श्रीमान जुझारसिंहजू देवकी तरफसे एक पत्र मिला, जिसमें आपको चरखारी बुलाया गया था। आप श्री पद्मावतीपुरी होते हुए चरखारी पहुंचे। आपका योग्य सत्कार कर आसन दिया गया। महाराजा साहेब प्रणामी धर्मावलम्बियोंका प्रतिवर्ष सत्कार किया करते थे। यह नियम पूर्वजोंसे चला आता है और आज-दिन भी उचितरूपमें विद्यमान है। शास्त्रीजी दश पांच दिन रहे बाद को अन्यधर्मावलम्बी विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेके लिये महाराजा साहेबको एक पत्र दिया, जिसमें आपने लिखा था कि—विश्वको मोक्ष देनेवाला एक निजानन्द संप्रदाय ही है अन्यधर्म या पंथ तो आवागमन बढ़ानेवाले

हैं, कुछ मिटानेवाले नहीं। इसी कारणसे आपके पूर्वज बुन्देलखण्ड केशरी वीरशिरोमणि महाराजा छत्रशालजीने इसे सर्वोत्तम समझ ग्रहण किया था। उन्होंने केवल पृथिवीमात्रके लिये युद्ध नहीं किया किन्तु तारतम्य-रूपी तलवारसे अज्ञानरूप कलियुगका नाश करनेको युद्ध किया था। जिसके फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्रमें सबसे अधिक सफलता प्राप्त कर धर्म-स्तम्भ खड़ा किया था। आप भी तो उन्हींके वंशज हैं। फिर सत्यासत्यका निर्णय कर अपने पूर्वजोंकी प्रथाका अनुसरण क्यों न करें। मनुजीने लिखा है कि—

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

(मनु० ४-१७८)

अर्थः—जिस धर्मका पालन पिता मातादिने किया हो उस सत्य मार्गका अनुसरण करनेवाला कभी अगतिको प्राप्त नहीं होता" इसप्रकारके पत्रको पाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ समय निश्चितकर सभाका आयोजन किया। यों तो सभामें प्रत्येक विषयके विद्वान उपस्थित थे परंतु सबसे प्रथम राजपंडित म० म० वसंतराम शास्त्रीजीने निजानंदसंप्रदायके नित्य-वृन्दावन तथा नित्यव्रजके मन्तव्यपर पूर्वपक्ष किया और दोनों तरफसे शास्त्रार्थ होने लगा। डेढ़ घंटे तक होनेके बाद महाराजा साहेबने दूसरे दिनके लिये स्थगित कर दिया। दूसरे दिन महाराजा साहेब तथा विद्वानोंकी उपस्थितिमें अवशेष विषयपर पुनः शास्त्रार्थ होने लगा। शास्त्रार्थके समय अनेकों प्रमाणोंसे पं० कृष्णमणि शास्त्रीने ११ वर्ष ५२ दिनकी ब्रह्मलीला तथा नित्यव्रज और नित्यवृन्दावन-अखण्डरासको पूर्णतया सिद्धकर दिखाया। अन्तमें महामहोपाध्याय वसन्तराम शास्त्रीजी तथा अन्य समस्त विद्वानोंने महाराजासाहेबके समक्ष यह बात स्वीकार कर ली कि—वि० भू० कृष्णमणि शास्त्रीजीने जो नित्यवृन्दावन तथा नित्यव्रज होना स्थापित किया है वह अक्षरशः यथार्थ तथा शास्त्रसम्मत है। हमें इस मन्तव्यसे बिल्कुल विरोध नहीं है। इसके बाद सभा विसर्जन की गई।

चरखारी नरेशनें प्रसन्न होकर शास्त्रीजीको आग्रहपूर्वक कुछ दिन

ठहराया और श्री मुखवाणी तथा सांप्रदायिक धर्मोपदेश सुनते रहे। अन्तमें बहुमान पुरस्सर पुरस्कार दे विदा किया। चरखारीसे विदा हो कर मऊ, महेवा आदिमें उपदेश करते हुए आप श्री पद्मावतीपुरी पहुंचे।

यहां पर रतलामके सुन्दरसाथने एक पत्र देकर आपको धर्मोपदेशके लिये बुलाया था। तदनुसार आप रतलाम आए और विज्ञापन छपवाकर सभाकी घोषणा की परन्तु शास्त्रार्थके लिये कोई खड़ा न हुआ। इस समय एक पत्र रतलाम नरेशको देकर सत्यासत्यके निर्णयकी याचना की गई थी परन्तु राजासाहेब बाहर जानेके लिये प्रस्थान कर चुके थे अतः समय न मिल सका। बाद जनतामें धर्मोपदेश बराबर होता रहा। यहांसे विदा होकर उज्जैन होते हुए इन्दौर पहुंचे। इन्दौरमें भी महंत श्री जानकीदासजीके प्रबन्धसे एक सभा की गई। जिसमें जनताने अधिक संख्यामें भाग लिया था।

व्याख्यान हो चुकने पर आर्यसमाजकी तर्फसे कुछ प्रश्न किये गए परंतु शास्त्रीजीने ऐसी युक्तिसे समाधान किया कि आर्यसमाजको दुबारा बोलनेकी गुंजायश ही न रही और शांत हो पीछे लौट गए। यहां पर चार दिनतक बराबर उपदेश होता रहा बाद यहांसे विदा होकर गोधरा होते हुए चिखोदरा पहुंचे। वहांके ग्रामवासीयोंने बड़े उत्साहके साथ आपका स्वागत किया। दूसरे दिन सभा की गई। आर्यसमाजी लोगोंने ब्रह्मको निराकारसिद्ध करनेको कुछ तर्क वितर्क किये। परंतु शास्त्रीजीने निराकारवादका युक्तिपूर्वक खण्डन कर समाजियोंकी जबान बन्द कर दी। बाद ब्रह्मके स्वरूपको बताते हुए प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जिससे उपस्थित जनताको असीम सन्तोष हुआ।

इसी अवसर पर बम्बईमें आर्यसमाजके साथ कुछ धार्मिक वाद विवाद चलता था अतः आपको वहां जाना पड़ा। बम्बई पहुंच कर आपने एक विज्ञापन द्वारा आर्यसमाजको चैलेंज भी दिया था परंतु कोई कटिबद्ध न हुआ अतः शास्त्रार्थ नहीं हुआ। इसी मौकेपर निजानंद संप्रदायके आचार्य महाराज श्री सुखलालदासजी श्री नौतनपुरीवाले बम्बई पधारे थे। आपने शास्त्रीजीको श्री नौतनपुरी आनेके लिये आमंत्रण

दिया था परंतु शास्त्रीजीके साथमें रहनेवाले विद्वान पं० तिलकधारीकी बम्बईमें मृत्यु होनेसे आप रीवा लौट गए।

वि० सं० १९६४ में आपको सूरतके महंत श्री पीताम्बरदासजीने एक पत्र दे पंजाब चलनेको बुलाया था और तदनुसार आप सोनगिरि (खानदेश) में महंत श्री से आकर मिले और उनके साथ पर्यटन करते हुए नागोर (मारवाड़) पहुंचे। यहांपर पत्र छपाकर सभा की गई और धार्मिक उपदेश चर्चा वार्ताका पूर्ण आनंद रहा। यहांपर मूड़वा निवासी महामहोपाध्याय पं० श्री बद्रीनाथ शास्त्रीने संस्कृतमें एक पत्र लिखकर मुकुट पूजाके ऊपर आक्षेप किया था कि आप मूर्तिपूजाके विरोधी हैं तो क्या मुकुट, वस्त्रादि मूर्तिपूजामें शामिल नहीं हैं? इसके उत्तरमें शास्त्रीजीने बड़े ऊहापोहके साथ समाधान+किया जिसे पं० बद्रीनाथ शास्त्री न काट सके और क्रोधित हो पुरश्चरण द्वारा मारनेका प्रयत्न करने लगे परन्तु शास्त्रीजीको विदित हो गया अतः शान्तिपाठद्वारा उसका निवारण कर दिया। यहांसे पंजाबको रवाना हुए और उपरोक्त महंत श्रीके साथ ६ मास पर्यन्त धर्मोपदेश करते रहे। पश्चात् देशमें अपने पुत्रका विवाह प्रसंग होनेसे देशको लौट आए और बड़े उत्साहके साथ पुत्रका विवाह किया।

सुनते हैं कि एक बार मौजाभाटीको जाते हुए आप महाप्रसाद भूल गए थे। दो कोस जानेपर प्यास लगी तो नदी किनारेपर बैठ गए और नौकरको प्रसाद लेने घर भेजा। इतनेमें तो एक सुपरिचित साधुके भेषवाले महात्माने पूछा कि कृष्णमणि भाई काहे यहां पर बैठ हो, आपने कहा बाबाजी! प्रसाद भूल आया था जब प्यास लगी तो आदमीको भेजा है। उन्होंने कहाः—प्रसाद तो हमारी झोरीमें है लेकर पानी

+ शास्त्रार्थमें "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्" इस गीताके श्लोक पर दोनोंही महानुभाव अपना २ पक्ष पुष्ट करते थे परन्तु तर्ककी प्रबलतासे शास्त्रीजीने म० म० पं० बद्रीनाथ शास्त्रीजीको परास्त कर दिया था। आप एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे अतः अपने पराजयको सहन न कर सके और क्रोधित हो पुरश्चरण करने लगे थे।

पी लेव काहे प्यासन मरी हो। ऐसा कह महाप्रसाद दिया और दोनों जने बैठे बात करते रहे। प्रसाद ले पानी पीकर शास्त्रीजीने पूछाः-बाबाजी कौन गाँव जात हो। बाबाजीने थोड़ीसी दूरके एक गामका नाम लिया और थोड़ी देरमें चल दिये। कुछ दूर जाने पर देखा तो बाबाजी अदृश्य हो गए बहुत कुछ-पता लगाने पर भी पता न लगा। परन्तु परिचित होनेसे विशेष आश्चर्य न हुआ। जब वहांसे लौटे और महन्त श्री दर्शनदासजीके आगे कुटीपर इस बातका जिक्र किया तो लोगोंको आश्चर्य हुआ कि अरे! प्यारेदासजी तो आज दो माससे श्री पद्मावतीपुरीमें हैं और उनका हालमेंही पत्र भी आया है। यह तो कुछ परमात्माकी दयाका फल मालूम देता है। क्यों न हो? पवित्रात्माओंको कुछभी दुर्लभ नहीं है।

कुछ दिन बाद आप श्री पद्मावती (पन्ना) आए। इस समय "आनन्द-सागर" ग्रन्थ समाप्त हो चुका था। जिसे सुन्दरसाथको सुनाया तो सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और शरत्पूर्णिमाके उत्सव (मेला) पर आपको एक प्रमाणपत्रके रूपमें अभिनन्दन पत्र दिया गया। जिसमें सद्विद्याभूषण और शास्त्रीकी उपाधि प्रदान की गई थी। तभीसे आपका नाम "सद्विद्याभूषण शास्त्री श्री कृष्णमणि शर्मा" लिखा जाने लगा। शरदोत्सवके बाद आनन्द-सागरको छपानेके विचारसे आप पंजावको रवाना हुए परन्तु देहलीसे आपका शरीर अस्वस्थ हो गया अतः अम्बालामें उतर गए और प्रणामी मंदिरमें मुकाम किया। आपके साथमें आपका ज्येष्ठ पुत्र 'जयचन्द्रप्रसाद' और निर्मलदासजी साधु (जो बादमें फूल-पुर टिकुरी कुटीके महन्त हुए हैं) थे। वहांपर डाक्टरकी चिकित्साका उचित प्रबन्ध और श्यामबाई (मंदिरकी अधिष्ठात्री) की तरफसे पूर्णसेवा सुश्रूषा होनेसे आप चार पांच दिवसमें स्वस्थ हो गए। आपको बवासीरके अति-रिक्त दूसरा कोई कष्ट नहीं था परन्तु परमात्माको जो कुछ कर्तव्य है उसमें किसीका वश नहीं चलता। आपने खिचड़ी बनवा कर प्रसन्न चित्तसे भोजन किया, थोड़ी देरके बाद कागज पेन्सिल मंगाकर कुछ श्लोक लिख श्री कृष्ण परमात्माकी स्तुति की और बादको अकस्मात निर्मलदासजीको बुलाकर कहने लगे कि मूलमिलावाका पाठ सुनाओ! इससे लोगोंको चिन्ता उत्पन्न हुई अतः पूछा कि क्या आपकी तबीयत घबड़ाती है?

घरको तार दे दिया जाय ? आपने उत्तर दिया कि नहीं, किसीको बुलानेकी जरूरत नहीं है । पाठ सुननेके बाद लड़केको बुलाकर उसके हाथसे पाँच रुपया और एक साल निर्मलदासजीको भेटमें दिलवाया और प्रणाम कर बोले कि—आप तीन बातका ख्याल राखें । एक तो आनन्दसागरके छपानेका, दूसरे-इस बच्चेको पढ़ानेका; तीसरे मेरी अस्थि श्री पद्मावतीपुरी पहुंचानेका । इतना कहकर लड़केको सामनेसे हटवा दिया और कहने लगे कि सब लोग होशियार हो जाओ, मुझे चरणामृत प्रसाद देउ और श्रीराजजीकी सेवाके सामने बैठाओ । इतना सुनते ही लोग घबड़ाने लगे और आसन लगा श्रीराजजीके सामने बैठा दिया । आप श्रीमुखवाणीका पाठ करते जाते थे कि इतनेमें चार बजेका समय हुआ होगा कि इस नश्वर शरीरको छोड़कर देखते ही देखते सदाके लिये परमधामवासी हो गए । इस दिवस (मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी वि० सं० १९६६) का दृश्य हमारे चित्रपटसे चिरकाल तक नहीं हट सकता । आज शास्त्रीजी इस विनश्वर जगतमें नहीं हैं, परन्तु उनकी निर्मल कीर्ति सदाकाल अमर है ।

कुलोचित रीतिसे ज्येष्ठ पुत्रके हाथसे विधिपूर्वक अन्त्येष्टि संस्कार कराया गया । बहुत कुछ दान दक्षिणासे आपके प्रतिस्नेह प्रगट किया गया, यहांतक कि श्यामबाईने दो तीनसौ रुपया उनके शबके साथ व्यय कर दिये और अपनी तरफसे खर्च देकर सबको घर पहुंचाया ।

चिरकाल पर्यन्त सद्विद्याभूषण पं० कृष्णमणि शास्त्रीका परलोक गमन हमको नहीं विसर सकता । आप प्रणामी समाजकोही नहीं प्रत्युत हिन्दुस्तान भरको सदाके लिये अपने आदर्श गुणोंसे ऋणी बना गए हैं । आपने धर्मके लिये सब कुछ त्याग किया । आपने जिस त्याग और धैर्यके साथ धर्मोन्नति की, वह अनुकरणीय है । परमात्मा आपकी अमर आत्माको शाश्वत सुख प्रदान करें ।

सम्पादक—कृष्णदत्त शास्त्री.

इस जीवनचरित्रकी रूपरेखा वि० भू० कृष्णमणिजी शास्त्रीके लघु भ्राता पं० श्री पन्नालाल त्रिपाठीजीने हमें एक विस्तृतरूपमें लिखकर दी थी । परंतु विस्तारभयसे उसे संक्षिप्तरूपमें उनकी उपस्थितिमेंही करदिया गया था । अतः प्रसंगोका उल्लेख उनकी रूपरेखानुसारही लिखा गया है ।

प्रणामी-धर्मसभा—जामनगर.

-: ध्यानमें अवश्य राखें :-

प्रेमी पाठको ! इस आनन्दसागरको आप जब पढ़ें या इस ग्रन्थका प्रमाण दूसरेके सामने राखें, उस समय इसके शुद्धिपत्र पर अवश्य ध्यान रख लेवें । यद्यपि छापनेके समय बहुत कुछ सावधानी राखी गई है, तथापि दृष्टिदोषसे या तो प्रेसके कारण कुछ अशुद्धि रह गईं हैं । उनको जाननेके लिये यहांपर शुद्धिपत्र लगाये देते हैं । जिससे प्रत्येक प्रमाणको शुद्धरूपमें समझा जा सके और दूसरेके लिये भी शुद्ध ही लिखा जा सके । कभी २ प्रेसमशीन पर छापते समय बीचमें भी मात्रा टूट जाया करतीं हैं तो कभी कोई अक्षर भी निकल जाता है, जिसका पता भी नहीं लग पाता । ऐसी भूलोंको तो हम इसमें नहीं लगा सके किन्तु जितनी देखनेमें आई हैं उन सबको शुद्धिपत्रमें लगा दिया है । इसलिये पाठकोंसे और विशेषकर पंडितवर्गसे प्रार्थना है कि उन्हें कहीं भ्रम हो या तो प्रमाणको कहीं लिखना हो अथवा समझना हो तो, इस शुद्धिपत्र पर अवश्य ध्यान रख लेवें जिससे किसी प्रकारका भ्रम उपस्थित न होवे ।

शुद्धिपत्र.

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध.
५—१	मगीक्रियते	मंगीक्रियते
८-१४	किवा	किंबा
८-१५	भिंन्न	भिन्न
९-१५	नंन्दैकरस	नन्दैकरस
१६-२४	ता	तो
२४—५	श्रति	श्रुति
२४—७	त्तरात्मना	त्तरात्माना
२५-१८	एशयः	राशयः
२८-२१	ब्रह्य	ब्रह्म
३७-२१	लोन्स्रृजत	लोकान्स्रृजत
४२-१८	रहिता	रहिता
५१—४	कस्मिश्चि	कस्मिंश्चि
५४-१६	सूक्तिका	शूक्तिका
५५-१६	वाधते	बाधते
५९-१६	कर्मर्णो	कर्मणो
६५—:	लोंकमें	लोकमें
६९-१३	जाराया	जराया
६९-२१	वाधित	बाधित
७३-१८	मामानन्दं	ममानन्दं
७८—८	काचिच्छक्ति	काचिच्छक्तिः
७९—३	हदाकाशात्	हृदाकाशात्
८९—२	शवत्	षवत्

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध.
९६—१	शक्यभि-	शक्त्यभि-
९६—४	बलवत्वं	बलवत्त्वं
१०४—४	चराच्चर	चराचर
१०५-१२	धृक्	धृग्
१०९-२०	ॐ	ओ
११५-१४	पृकत्व	पृथकत्व
१२७-१३	उंसे	उसे
१२९—२	पिप्यलं	पिप्पलं
१४५—९	सूस्म	सूक्ष्म
१५०—३	सानु	नुसा
१५१—५	मनुप्य	मनुष्य
१५१—७	स्वप्न-	स्वप्न
१५२—२	संन्निधौ	सन्निधौ
१६२-२३	उलेख	उल्लेख
१६६—४	स्यतीति	ष्यतीति
१६९-१४	स्वान्शेन	स्वांशेन
१७२-२०	स्वान्शै-	स्वांशै-
१७८-२०	संम्राडा-	सम्राडा-
१८५-१२	वा	व
१८६—१	मिद्ताकु	मिद्वाकु
१८७—१	वीर्याणि	र्वीर्याणि
१९१-१४	कन्सा	कंसा

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९६—८	षड्गुण-	षड्‌गुण-
१९६-११	तत्रान्शे	तत्रांशे
२०१—२	विष्णोर्के-	विष्णोःकृ-
२०२-१९	चान्श	चांश
२०२-२१	प्रकरणों	प्रकरणों
२०५—९	कथोद्गीतं	कथोद्‌गीतं
२०८-१७	अतिरिक्ति	अतिरिक्त
२१३—४	सकटो	शकटो
,, —६	सकटो	शकटो
,, -१३	जग्ध्वा	जग्धा
२२९-१०	लब्धा	लब्ध्वा
२३०—४	सत्वादत	सत्त्वादृतः
२३४—१	इत्यथः	इत्यर्थः
२३५—४	चिन्तामय-	चिन्तामणिमय
२३८—७	कामार्द्रिताः	कामार्दिताः
२४०-२४	नान्शे	नांशे
२४१—६	कामद्रुघो	कामदुघो
२४२-१४	आछादन	आच्छादन
२४४—१	शिक्तः	सिक्तः
,, —२	शिक्तः	सिक्तः
,, —३	बृद्ध	वृद्ध
२४६-१५	शिशून्तथा	शिशूंस्तथा
२४७-१६	हत्वा	हित्वा
२५०-१२	पातांशु	पीतांशु
,, ,,	लसन्	लसत्
२५१—५	गृहादीन	गृहादीन्
,, —१९	निषेवनम्	निषेवणम्
२५४-२२	बिभ्यन्ति	बिभ्यन्ति
२५५—३	,,	,,
,, -२०	स्वामिन्त्वं	स्वामिंस्त्वं
२५८-१४	सर्वान्त्यक्त्वा-	सर्वांस्त्यक्त्वा
२६६—३	दृप्टं	दृष्टं
२६७—१	ब्रवन्तीभिः	ब्रुवन्तीभिः
२६९-१४	नम्याः	नंम्याः
२७०-११	कर्मण्युपदे	कर्मण्युपपदे
२७१-२१	स्वण्यन्ति	खण्डयन्ति
२८०—६	कष्ण	कृष्ण
३११-२३	तृतियो	तृतीयो
३१२—९	विम्बेण-	बिम्बेना
३१४-११	वाढ	बाढ
३१५—५	निश्वसित-	निःश्वसित-
३२२—९	सरिताम्वरा-	सरितांवरा
३२७—९	प्रात	प्रातः
६३८--५	सामजस्ये	सामंजस्ये
३६९-२०	दधार	दाधार
३७३-२०	सदगुरु	सद्गुरु
३८३—२	लम्वनं	लम्बनं
३८७-२०	प्रहाद	प्रह्लाद
४११—९	कपण	कृपण
४२२—१	विम्वा	बिम्बा
४२२—२	विम्वा	बिम्बा
४३१—२	भजति	स्मरति
४५०-१४	बशी	वशी
४५५—२	पुन	पुनः
४६२-२०	पिवेत्	पिबेत्
४६३—१	षिबेदिति	पिबेदिति
४७१—७	बारम्बारं	वारंवारं

[illegible]